आचार्य महावीर कीर्ति रचित

चतुर्विंशति स्तोत्र

(ग्रन्थ सं. 39)

हिन्दी अनुवादिका

सिद्धान्त विशारद, विदूषीरत्न, सम्यग्ज्ञान शिरोमणि

धर्म प्रभाविका, ज्ञान चिन्तामणि हृदय सम्राट प्रथम गणिनी

105 आर्यिका श्री विजयामती माताजी

(श्री चा. च. 108 आचार्य आदिसागर जी महाराज "अंकलीकर" परम्परा)

प्रबन्ध सम्पादक

नाथूलाल जैन "टोंकवाला"

सम्पादक

महेन्द्र कुमार जैन "बड़जात्या"

प्रकाशक

श्री दिगम्बर जैन विजयाग्रन्थ प्रकाशन समिति

114, जैन भगवती भवन, शिल्प कॉलोनी, कालवाड़ रोड़

झोटवाड़ा, जयपुर – 302012

प.पू. मुनिकुंजर समाधिसम्राट् आचार्य परमेष्ठी आदिसागरजी अंकलीकर के
पट्टाधीश प.पू. 18 भाषाभाषी आ. श्री महावीरकीर्ति जी के पट्टाधीश
तपस्वी सम्राट् महाविभूति श्रमणराज भारतगौरव श्री प. पू. आचार्य
शिरोमणि सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री सन्मतिसागर जी महाराज के

38 वें दीक्षादिवस समारोह के उपलक्ष में प्रकाशित ।

।। गुरूदेव कराम्बजों में सविनय समर्पित ।।

आशीर्वाद

परमपूज्य आचार्य परमेष्ठी विमल सागर महाराज वर्तमान में सुप्रख्यात सुप्रसिद्ध महाप्रभावक हुए हैं। उनके ज्ञान का क्षयोपशम अद्वितीय रहा है तथा विवादों को निर्विवाद बनाने में आपका ज्ञान सहायक रहा है। ज्ञान के अभाव में संसार में अंधेरा ही अंधेरा है। 23.10.93 को आपने संदेश दिया वह इस प्रकार है- ''जैन समाज आचार्य में आचार्य आदिसागर जी अंकलीकर की परंपरा और आचार्य शांतिसागर जी दक्षिण की परंपरा इस युग में निर्बाध चली आ रही है समाज का कर्तव्य है कि किसी प्रकार का विवाद न करके दोनों परम्पराओं के आपस सम्मत मानकर वात्सल्य से धर्म प्रभावना करें।''

आगम की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। यह तीर्थंकरों से प्राप्त होती है। वह समय-समय पर गणधरों प्रतिगणधरों के द्वारा प्रसारित हुई है। उनके वचनानुसार अज्ञानांधकार कूप से निकालकर सन्मार्ग मुक्ति पद की ओर लगाने वाले भगवान महावीर तीर्थंकर के अनुयायी अहिंसा के पुजारी प्रशांत मूर्ति परमाराध्य आचार्य शांतिसागर महाराज दक्षिण द्वारा वंदित, दक्षिण भारत के वयोवृद्ध दिगम्बर संत, आदर्श तपस्वी, महामुनि, अप्रतिम उपसर्ग विजेता, चारित्रचक्रवर्ती, मुनिकुंजर, समाधिसम्राट्, कलिकाल तीर्थंकर, धर्म प्रवर्तक, दिगम्बर जैनाचार्य शिरोमणी श्री आदिसागर जी अंकलीकर के पट्टाधीश सिद्धान्त चक्रवर्ती, अष्टादशभाषा विज्ञ, आचार्य परमेष्ठी श्री महवीर कीर्ति जी महाराज द्वारा प्रतिपादित चतुर्विंशति स्तोत्र की प्रति अशोक कुमार जी से प्राप्त हुई थी जिसकी हिन्दी टीका गणिनी आर्यिका विजयामति माताजी ने गमक गुरू से प्राप्त ज्ञानानुसार की है। यह सीधी सरल भाषा में सुस्पष्ट है और आगमानुसार है। इसमें न्याय, सिद्धान्त, भक्ति आदि विषय गर्भित हैं अत: इसका अध्ययन करके हर प्रकार का व्यक्ति आत्मोन्नति कर सकता है।

मंत्र की सिद्धि करने में बाधा भी सम्भव हो सकती है। परन्तु इस वर्तमान काल में स्तोत्र की सिद्धि सुगमता से सम्भव होती है। मंत्रों में कुछ मंत्र पठित सिद्ध होते हैं। जिनका कि पाठ करते रहने से सिद्ध हो जाते हैं। उसी तरह से स्तोत्र होते हैं जो पढ़ते-पढ़ते सिद्ध हो जाते हैं। श्री 105 ज्ञान चिंतामणि रत्नत्रय हृदय सम्राट् 20 वीं सदी की प्रथम गणिनी आर्यिका विजयामती माताजी ने इस स्तोत्र की हिन्दी टीका करके जनमानस का महोपकार किया है इससे अल्पबुद्धि वाला भी लाभान्वित हो सकता है। परम हर्ष की बात है कि यह तृतीय संस्करण श्री दिगम्बर जैन विजया ग्रंथ प्रकाशन समिति जयपुर प्रकाशित कर रही है। इस उत्तम कार्य के लिए मेरा शुभ आशीर्वाद है।

दिसम्बर 1999 **आचार्य सन्मतिसागर**

आत्म निवेदन

आत्म धर्म के प्रणेता अनादिकाल से तीर्थंकर परम देव रहे हैं और रहेंगे। यद्यपि धर्म अनाद्यनिधन है, तथाऽपि स्वाभाविक वस्तु स्वरूपानुसार इसमें भी पर्याय दृष्टि से परिणमन भी होता रहता है। उत्थान–पतन के झकोरे आते ही रहते हैं, जिन्हें आगमानुसार उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी नाम से पुकारा जाता है। इनमें असंख्यात कल्पकालों के अनन्तर हुण्डावसर्पिणी काल आता है। वर्तमान यही नाम धारी है। इसमें बहुत सी अनहोनी घटनाएँ भी घट जाया करती हैं। यथा तीर्थंकर के कन्या जन्म। तीर्थंकर प्रभु से पूर्व मुक्त होना, चक्रवर्ती का मानखण्डन, तीर्थंकरों की जन्मभूमियाँ एवं निर्वाणभूमियों का पृथक्करण आदि। वर्तमान अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर प्रभु भगवन्त का शासनकाल है। उनके मुक्त होने के बाद तीन अनुबद्ध केवली, पाँच श्रुतकेवली हुए। तदनन्तर केवलज्ञान एवं पूर्णश्रुतज्ञान का लोप हो गया। परन्तु परमपूज्य हमारे धरसेणाचार्य, भूतवली, पुष्पदन्त, कुन्द–कुन्द समन्तभद्र, उमास्वामी आचार्य परमेष्ठियों ने अंग, अंगवाह्य रूप में श्रुत का अवधारण किया और जिन शासन को सजीव बनाये रहे। तथाऽपि उत्कृष्ट दिगम्बर यति धर्म परम्परा में शिथिलाचार आता गया। क्रमशः दीपक की टिमकार रूप में आ गया। उपर्युक्त आचार्य परमेष्ठियों की परम्परा में लगभग 20 वीं सदी के प्रारम्भ में प. पू. आचार्य परमेष्ठी, मुनींकुंजर समाधि सम्राट् आदिसागर जी अंकलीकर प्रकट हुए, जिन्होंने जिन शासन की लचीली रीढ़ को सुदृढ़ बनाने का अथक प्रयास किया। दिगम्बरत्व को शुद्ध किया। मुनिपरम्परा में नवीन ज्योति प्रदान की और इस परम्परा को अक्षुण्णरूप से प्रांजल रखने की भावना से अनेक मुनि, आर्यिकाएँ, क्षुल्लक-क्षुल्लिकाएँ, उत्तम श्रावक श्राविकाएँ बनायीं। वर्तमान में उन्हीं की दैन से सर्वत्र धर्मोपदेशक साधु संत, साध्वियाँ विचरण करते नजर आ रहे हैं। इन्हीं में सर्वश्रेष्ठ व ज्येष्ठ आपके शिष्य मुनि श्री 108 महावीरकीर्ति जी थे, जिन्हें आपने

समाधिमरण के पूर्व ही अपने आचार्य पद को प्रदान कर द्वितीय पट्टाधीश बनाया। आप 18 भाषाभासी, परम तत्त्वज्ञ व तार्किक, न्यायादि शास्त्रों के ज्ञाता थे। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता उद्भट विद्वान आप ही थे।

चतुर्विंशति तीर्थंकर जिनों के स्तवन के रूप में प्रस्तुत ग्रन्थ में गूढतम सैद्धान्तिक, दर्शनशास्त्र, न्याय, तर्क आदि का समावेश कर जिनागम का अभूतपूर्व भाण्डार भरा है। यही नहीं जनकल्याण किया है। इसमें तीर्थंकरों प्रभुओं ने किस प्रकार अखण्ड ज्ञान, ध्यान तल्लीन हो आत्मा को परमशुद्ध वीतराग परिणति से परमात्मपद प्राप्त किया, इसका विशद वर्णन है जो हमें प्रतिक्षण आध्यात्म, आत्मसुधा रस का पान कराने में पूर्ण सक्षम है।

यद्यपि भाषा कुछ क्लिष्ट है क्योंकि विषय भी वैसा ही तत्त्वमिश्रित है। इस ग्रन्थ के अध्ययन, मनन, चिन्तन, पठन–पाठन से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति, वृद्धि व पुष्टि होना सम्भव है। साथ ही सम्यग्दर्शन से परिमार्जित दृष्टि परिपुष्ट करने वाली सम्यग्ज्ञान ज्योति जाग्रत होती है। यही नहीं सम्यग्ज्ञान का परम मित्र सम्यक् चारित्र भी वृद्धिंगत होगा। इस प्रकार यह निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग का दर्शक है। इसमें श्लोकों की अनेक अशुद्धियाँ व अपूर्णता से स्पष्ट होता है कि यह किसी सामान्य व्यक्ति द्वारा लिपिबद्ध किया गया है उतारा गया है। क्योंकि हस्तलिखित है। आचार्य श्री के परमभक्त श्री फूलचन्द्र जी के यहाँ उपलब्ध हुआ है। सम्भव है उन्होंने इसी श्रद्धाभक्ति से पूजार्थ किसी से उतरवाया हो। जो हो ग्रन्थ अपने में पूर्ण आनन्दरस प्रदाता है। जिनभक्ति का अनुपम स्वरूप प्रकट कर्त्ता है। आचार्य श्री की प्रगाढ़, अच्युत, सुदृढ़, वीतराग जिनेन्द्रभक्ति का परिचायक तो है ही, अन्य समस्त श्रद्धालुभव्य पुण्डरीकों को प्रफुल्ल करने के लिए निरभ्र भाष्कर है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की गम्भीरता, दुष्कर तत्त्व निरूपण अतिकठिन शब्द संयोजना, समासान्त पद रचना, छन्दोबद्धता आदि मेरी अल्पबुद्धि से बहुत परे हैं, अगम्य है। कुछ दिन पर्यन्त तो पाठ करने का भी साहस नहीं हुआ। परन्तु आचार्य परमेष्ठी, मुनिकुञ्जर समाधि सम्राट् के तृतीय पट्टाधीश श्री परम् पूज्य परमाराध्य, वात्सल्यरत्नाकर, तपस्वी सम्राट् आचार्य देव की सरस प्रेरणा,

स्नेहल वरद आशीर्वाद से प्रेरित और गुरूभक्ति से असाध्य को सुसाध्य करने का साहस किया है। इसमें अनेकों त्रुटियों का होना स्वाभाविक है। फिर भी श्री 1008 वासुपूज्य भगवान के चरण सान्निध्य से भी जैसा भाव जागृत हुआ उसी को भावार्थ रूप में आपके समक्ष उपस्थित किया है। परम् पूज्य मोक्षमार्ग प्रदर्शक जिनवाणी मातेश्वरी अक्षम्य अपराध को क्षमा करें। विद्वद्वर्ग इसे अधीत कर कमियों को सुधार लें तथा मुझे सावधान भी करें। आशा है सभी इसे भक्ति से पढ़ेंगे। चिन्तन और मनन कर जिन आज्ञा प्रमाण अपने जीवन को ढालने का प्रयास करेंगे। इन्हीं भावनाओं के साथ परम वीतरागी दिगम्बर गुरुओं के चरणाम्बुजों में नमोस्तु 3। उत्कृष्ट, अचल अमर ज्योति प्रदाता माँ सरस्वती देवी को नमोऽस्तु 3॥

।।ओं जयतु जिनशासनम्॥

मेरी आत्म ज्योति जगे, चारित्र निर्मल और ज्ञान प्राञ्जल हो इसी भावना के साथ विराम लेती हूँ।

प्र.ग. आ. विजयामती

14.11.99

श्री चम्पापुर सिद्धक्षेत्र (नाथनगर)

प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम "चतुर्विंशति स्तोत्र" है। इस ग्रन्थ में 25 अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में पच्चीस-पच्चीस श्लोक हैं। कुल श्लोक संख्या 625 है। इसके प्रथम अध्याय में ही चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है और प्रत्येक स्तुति में प्रत्येक तीर्थंकर की यथानाम तथा गुण का सार्थक विवेचन है। प्रत्येक स्तुति भक्ति से ओतप्रोत है।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में जहाँ जीव दुःख और अशान्ति में जी रहे हैं। दुखों और अशान्ति से किस प्रकार छुटकारा मिले, इसका बड़ा ही युक्तियुक्त विवेचन है। दु:खों से छूटने का अमोघ उपाय आत्मानुभव, आत्मचिन्तन और आत्ममन्थन है। इन गुणों की प्राप्ति का अमोघ उपाय इन्द्रिय विषयों से विरक्ति, विषय कषायों का त्याग और मंद बुद्धि को तिलाञ्जलि देना है। मनुष्य भव का सार तप है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इन्हीं का विशद विवेचन है, और अनेकान्त शैली के द्वारा वस्तु स्वरूप का मार्मिक वर्णन है और एकान्तवाद का खण्डन है।

प्रस्तुत ग्रन्थ ज्ञान का भण्डार है, जैन धर्म का रहस्य खोलने की यह कुंजी है। जिन भव्य प्राणियों को इस संसार शरीर भोगों के कीचड़ से निकलने की तीव्र अभिलाषा है। इन सभी दु:खों से छुटकारा पाने के लिए लालायित हैं, उन्हें इस ग्रन्थ की पुन: पुन: स्वाध्याय करना नितान्त आवश्यक है। .... दु:खों की जड़ मोह है। उसका उन्मूलन हुए बिना दु:खों से छुटकारा मिलना सम्भव ही नहीं है। जब तक राग-द्वेष का बाह्य व्यापार चालू है, तब तक आन्तरिक मलिनता छूटना असम्भव है। वस्तुत: सब प्रकार की विपत्ति रूपी फल कों देने वाले संसार रूपी विषवृक्ष का अङ्कुर राग-द्वेष है। इन रोगों के निवारण करने वाला प्रस्तुत ग्रन्थ हैं। अत: प्रस्तुत ग्रन्थ का स्वाध्याय नितान्त आवश्यक है। यह ग्रन्थ इन रोगों के निवारण करने वाला अकारण वैद्य है। इस ग्रन्थ का पुन: पुन: स्वाध्याय करने से दु:खों से छुटकारा मिलना अवश्यंभावी है। शर्त यही है स्वाध्याय करके संयम को जीवन में धारण करें और सांसारिक इच्छाओं का शनै: शनै: त्याग करते चलें।

इस ग्रन्थ के लेखक तीर्थ भक्त शिरोमणि समाधि सम्राट् परम् पूज्य आचार्य श्री 108 महावीर कीर्ति जी हैं। जिन्हें प. पू. [illegible] चक्रवर्ती आचार्य रत्न 108 श्री आदिसागर जी महाराज (अंकलीकर) ने अपना आचार्य पद दिया। आप अंकलीकर जी के द्वितीय पट्टाधीश हैं। इन्होंने दक्षिण भारत और उत्तर भारत में यत्र तत्र सर्वत्र जैन धर्म की महान् प्रभावना की। वस्तुत: उनका उच्चकोटि का ज्ञान, ध्यान, तप और चारित्र आज भी अनुकरणीय है। आज के इस भौतिक और भोग के युग में आपकी दुर्धर आत्म-साधना मानव को आश्चर्यान्वित किये बिना नहीं रहती।

उन्होंने स्वयं यह ग्रन्थ अपने आप लिपिबद्ध किया। वे प्रतिदिन इसका पाठ करते थे। उन्होंने यह ग्रन्थ श्री फूलचन्द्र जी बनारस भेलूपुरा वालों को दिया और आदेश दिया कि निरन्तर भक्तिपूर्वक इसकी अर्चना करना। उन्होंने आज्ञा का पालन किया। ई. वर्ष 1999 में भेलूपुरा बनारस में विश्ववंद्यचारित्रचिन्तामणि सन्मार्ग दिवाकर वात्सल्य रत्नाकर सिद्धान्त चक्रवर्ती महातपोविभूति श्रमणराज 108 आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज का चातुर्मास हुआ। श्री फूलचन्द्र जी के वंशजों ने यह ग्रन्थ आचार्य श्री को भेंट किया। आप प. पू. 108 श्री अंकलीकर जी के तृतीय पट्टाधीश हैं। प. पू. आचार्य श्री ने इसकी फोटो स्टेट कॉपियाँ कराई और 20 वीं सदी की सर्वप्रथम गणिनी ज्ञानचिन्तामणि सिद्धान्त विशारद विदुषीरत्न सम्यग्ज्ञान शिरोमणि धर्म प्रभाविका 105 आर्यिकारत्न श्री विजयामती माताजी को भाषाटीका करने के लिये सौंप दिया, जो सिद्धहस्त प्रसिद्ध लेखिका हैं। उन्होंने अथक परिश्रम द्वारा इसकी भाषा टीका की है। चूँकि ग्रन्थ हस्तलिखित है और उसी की फोटोस्टेट कॉपी हैं। अत: उसको पूर्णरूपेण न समझ पाने के कारण पूर्ण सावधानी के बावजूद मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियाँ रह जाना नितान्त स्वाभाविक है तो विज्ञ पाठक जन सुधार कर पढ़ें और अशुद्धियों से समिति को अवगत कराने की अवश्य कृपा करें।

ग्रन्थ में अनेकान्तशैली का सर्वत्र प्रयोग किया गया है। जिनागम में वस्तु का स्वरूप सामान्य विशेषात्मक वर्णन किया गया है। सामान्य से द्रव्य और विशेष द्वारा पर्याय की प्रतीति होती है। प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। सर्वत्र अनेकान्त का एकछत्र राज्य है। एकान्तवादी अज्ञानतिमिर से आच्छादित हैं। यही कारण है कि एकान्तवादियों की तत्त्व व्यवस्था तर्क की कसौटी पर टिक नहीं पाती है। इसीलिये एकान्त दृष्टि हेय है।

मनुष्य भव का सार स्वाध्याय और तप है। दोनों ही उत्कृष्ट तप हैं। बाँचने से, प्रश्नोत्तर द्वारा वस्तु के स्वाभाविक ज्ञान से, बार–बार याद करने से ज्ञान बढ़ता है और अज्ञान नष्ट होता है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ की मनोयोग पूर्वक बार--बार स्वावध्याय करो। इसमें जिनागम का रहस्य भरा पड़ा है।

परिग्रह की लुब्धता साधक की सर्वोपरि बाधा है। जहाँ तक बने पर पदार्थों से मूर्च्छा हटाओ। जितनी मूर्च्छा हटेगी उतना ही स्वात्मा की ओर प्रवृत्ति होगी। वस्तुतः मनुष्य का जितना–जितना परिग्रह बढ़ता है उसका उतना–उतना दुःख भी दिनदूना और रात चौगुना बढ़ता है। यदि मोक्ष की ओर रूचि है, सच्चे सुख की कामना है तो जहाँ तक हो सके, परिग्रह कम करने का पुरुषार्थ करो। परिग्रह तब तक नहीं घट सकता जब तक इच्छाओं का दमन न हो। आत्मा की निर्मलता ही मोक्ष का मार्ग है।

यदि इच्छाओं का दमन करना चाहते हो तो प्रस्तुत ग्रंथ की बराबर स्वावध्याय करो। उक्तंच

आपदां कथितः पन्था, इन्द्रियणामसंयमः।
तज्जयः संपदां मार्गौं, येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

संयम जीवन है और असंयम मृत्यु है। इन्द्रियों को जीतना ही संयम है और सम्पदा का मार्ग है। असंयम आपदाओं दुःखों का मार्ग है।

स्वाध्याय से ज्ञाननेत्र खुलते हैं। ज्ञाननेत्र खुलने से सुखों का मार्ग प्रशस्त होता है। ज्ञाननेत्र स्वाध्याय करने से खुलते हैं। अतः इस ग्रन्थ का पुनः पुनः स्वावध्याय करो। इस स्तुति ग्रन्थ में जैनागम का रहस्य भरा हुआ है।

श्रुतपारंगत, विद्याभूषण
श्रेयांसकुमार जैन शास्त्री, एम.ए.
साहित्य रत्न
किरतपुर 246731, (बिजनौर) उ.प्र.

श्रेयांस तकुमार जैन शास्त्री

श्री पार्श्व चन्द्राय नम :

सम्पादकीय

परम् पूज्य प्रातः स्मरणीय चारित्र चक्रवर्ती मुनिकुञ्जर सम्राट वर्तमान मुनि परम्परा के प्रणेता श्री 108 आचार्य आदिसागर जी ''अंकलीकर'' महाराज तत् पट्ट शिष्य समाधि सम्राट बहुभाषी तीर्थ भक्त शिरोमणि 108 श्री महावीर कीर्ति जी महाराज तत् पट्ट शिष्य सिद्धान्त चक्रवर्ती तपस्वी सम्राट 108 आचार्य श्री सन्मति सागर जी महाराज, श्री सम्मेदशिखर सिद्ध क्षेत्र पर समाधिस्थ 108 आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज, 108 आचार्य श्री संभव सागरजी महाराज, बाल ब्रह्मचारी वात्सल्यरत्नाकर सदोपदेशी 108 गणधराचार्य श्री कुन्थु सागरजी महाराज, 108 आचार्य श्री भरत सागरजी महाराज, प्रथम गणिनी, ज्ञानचिन्तामणि, विदुषीरत्न, धर्म प्रभाविका 105 आर्यिका श्री विजयामती माताजी एवं लोक के सभी आचार्य, उपाध्याय, मुनि, आर्यिका माताजी, क्षुल्लक, क्षुल्लिका माताजी समस्त गुरु चरणों में त्रिवार नमोस्तु नमोस्तु । इच्छामि इच्छामि ।

श्री दिगम्बर जैन विजया ग्रन्थ प्रकाशन समिति झोटवाड़ा से प्रकाशित यह 39वां ग्रन्थ आपके कर कमलों में अर्पित करते हुए मुझे अत्यन्त प्रशन्नता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक परम् पूज्य प्रातः स्मरणीय 18 भाषा के ज्ञाता तीर्थभक्त शिरोमणि 108 आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज हैं। यह ग्रन्थ तीर्थंकरों की भक्ति से ओतप्रेत है। भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए हम सांसारिक प्राणियों की भक्ति (चमचागिरी) उनके गुणों का गान कर उनसे कुछ प्राप्त करने का प्रयास करते रहते हैं और अज्ञानता के अन्धकार में डूबकर शास्वत् सुख की प्राप्ति का प्रयास करना भूल जाते हैं । परन्तु गुणिक जन, विद्वान जन संयमी इस क्षणिक सुख की प्राप्ति में विश्वास नहीं करते और शास्वत अक्षुण्य सुख की प्राप्ति का प्रयास करते हैं वे ऐसे मोक्षगामी सिद्धों की भक्ति करते हैं जो उन्हे मोक्ष मार्ग पर ले जाकर स्वयं के समान बनाले । भक्त ऐसे तीर्थंकरों का गुणगान ही नहीं करता अपितु उन गुणों को स्वयं में धारण भी करता है। ऐसे ही थे हमारे परम् पूज्य ग्रन्थ रचियता श्री 108 आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज । हमें भी परम् पूज्य आचार्य श्री के पद चिन्हों पर चल कर इस ग्रन्थ का बारम्बार अध्ययन करें, तीर्थंकरों की भक्ति में लीन हो जायें, संयम को धारण करें और मोक्ष मार्ग के रास्ते पर कदम बढ़ायें ।

ग्रन्थ के श्लोक संस्कृत में हैं, सामान्य जन को समझने के लिए परम् पूज्य प्रथम गणिनी, धर्म प्रभाविका ज्ञान चिन्तामणी 105 श्री विजयामती माताजी ने अथक प्रयास से इसकी हिन्दी टीका की है। जिसे एक बार स्वाध्याय करने के बाद, बार-बार पढ़ने की इच्छा जागृत होती है और बार-बार स्वाध्याय करने से आराध्य देव के गुणों का

ज्ञान होता है, गुणों के ज्ञान होने पर उन्हें आत्मसात् कर संयम धारण करने की भी इच्छा बलवती होगी और यही वह स्थिति होगी जब हम मोक्षमार्ग पर पहला कदम बढ़ायेंगे। अत: इस ग्रन्थ का बारम्बार स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए ज्ञान के इस भण्डार से कुछ अंश हमें अवश्य प्राप्त होगा ऐसा मेरा विश्वास है ।

हिन्दी टीका कर्त्री परम् पूज्य प्रथम गणिनी आर्यिका 105 श्री विजयामती माताजी का जन्म राजस्थान के जिला भरतपुर की कामां नगरी में हुआ आपने चारित्र चिंतामणि भारत गौरव प्राप्त 108 आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज से आर्यिका दीक्षा ग्रहण की। 20वीं शताब्दी के प्रथम मुनि परम्परा के प्रणेता चारित्र चक्रवर्ती मुनि कुञ्जर समाधि सम्राट 108 आचार्य श्री आदिसागरजी ''अंकलीकर'' महाराज के पट्टाधीश तीर्थभक्त शिरोमणी बहुभाषी 108 आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज ने इस बीसवीं शताब्दी में सर्वप्रथम ''गणिनी'' पद आपको प्रदान किया। आप महान् विदूषी हैं आपने अनेकों ग्रन्थ सरल सुगम भाषा में लिपिबद्ध किये हैं। आपकी प्रेरणा से आपके द्वारा लिखित अनेक ग्रन्थो में से लगभग 26 ग्रन्थों का प्रकाशन अपनी इस संस्था श्री दिगम्बर जैन विजया ग्रन्थ प्रकाशन समिति झोटवाड़ा जयपुर से प्रकाशित किये गये हैं।

ग्रन्थ के संस्कृत श्लोंको की शुद्धि एवं प्रूफ संशोधन के लिए मैंने आदरणीय पं. श्री सनत कुमारजी जैन श्री दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय जयपुर से सम्पर्क किया उन्होंने अपना पूर्ण सहयोग कर दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय जयपुर के प्रोफेसर श्री प्रभुदत्तजी से मेरा परिचय कराया तथा इस कार्य को कराने का अनुरोध किया। आपने एक माह से भी अधिक समय हमें प्रदान किया और श्लोकों का अध्ययन कर हमें वापिस लौटाया मैं दोनो विद्वान पण्डितों का आभारी हूँ ।

ग्रन्थ के प्रकाशन में समिति के पास बची उपलब्ध राशि का उपयोग किया गया है। ग्रन्थ की प्रूफ रीडिंग का विशेष ध्यान रखा गया है परन्तु ग्रन्थ के विषय की अपेक्षा से मेरा ज्ञान अत्यन्त अल्प है, जिसके कारण त्रुटियां रहना संभव है । अत: मैं आपसे विनम्र शब्दों में क्षमा याचना करते हुए निवेदन करूंगा कि त्रुटियों को सुधारकर अध्ययन करने का कष्ट करें ।

ग्रन्थ के प्रकाशन में जिन कार्यकर्त्ताओं ने विशेषकर श्री नाथूलाल जी जैन प्रबन्ध सम्पादक महोदय ने जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर सहयोग प्रदान किया है उनका मैं आभारी हूँ ।

अन्त में गुरुवर के चरम कमलों में मेरा बारम्बार नमोस्तु नमोस्तु । आशीर्वाद की आकांक्षा लिए हुए —

गुरु भक्त

महेन्द्र कुमार जैन 'बड़जात्या' (सम्पादक)

अध्याय 1

ॐ श्री मंगलाचरण ॐ नमः

घात चारों घातिया अरहंत पद जिन पा लिया,
वीतरागी हितोपदेशी के चरण में शिर नया ॥1 ॥
कर्म आठों नाशकर जिन सिद्ध पद को पा लिया,
उन निरंजन शिवस्वरूपी का हृदय मन्दिर बना ॥2 ॥
आचार्य पाठक साधुगण शिवमार्ग के राही सदा,
उर में वसो मेरे सदा संयम शील तप की भावना ॥3 ॥
मात जिनवाणी है दर्शक द्रव्य गुण पर्याय की,
पाकर शरण उनकी सदा हो प्राप्ति निज तत्त्व की ॥4 ॥

आदिसागर अंकलीकर आचार्य मुनिकुंजर हुए।
कर प्रशस्त मुनि मार्ग को जगतकेनेता बने ॥
महावीरकीर्ति निज शिष्य को पद स्वयं का दे दिया।
उत्तम समाधि कर सभी को श्रेष्ठ पथ दर्शा दिया ॥

महावीर कीर्ति आचार्य श्री ने ग्रन्थ की रचना करी,
उनके चरण प्रसाद से ही शब्द रचना यह बनी।
आचार्य गुरुवर विमलसागर की कृपा हर क्षण रही,
आशीष पा उनका निरंतर भावना फलती रही ॥2 ॥

प्रेरणा आचार्य श्री सन्मति सिन्धु की मिलती रही,
नमन उनको हो सदा उत्तम समाधि कर सकूं ॥
वीतरागी गुरू चरण में नमन शत-शत बार हो,
त्रियोग शुद्धि से सदा ही ध्यान इनका नित रहो ॥3 ॥

नमः परमात्मने नमोऽनेकान्ताय।

स्वायम्भुवं मह इहोच्छलदच्छमीडे, येनादिदेवभगवानभवत् स्वयम्भूः।
भूर्भुवः प्रभृतिसन्मननैकरूपमात्मप्रभातृपरमातृ न मातृ-मातृ ॥1 ॥

माताऽसि मानमसि मेयमसीशमासि मानस्य यासिफलमित्य जितासि सर्वम्।
नास्त्येव किञ्चिदुत नासि तथापि किञ्चिदस्त्येव चिच्चकचकायित चुचुरूचैः ॥2 ॥

एको न भासयति देव न भासनेऽस्मिन्नन्यस्तु भासयति किञ्चन मासतेय।
तौ द्वौ तु भासयसि शम्भव भासचेच विश्वयं भासयसि भासि भासकोन ॥3 ॥

यद्भाति भाति तदिहाय च न भात्य भानि नाभाति भाति सच भाति न योन भाति।
भाभाति भात्यपि च भातिन भात्यभाति साचाभिनन्दन विभान्त्यभिनन्द तित्वम् ॥4 ॥

लोकप्रकाशासनपरः सवितुर्यथा यो वस्तुप्रमित्याभिमुखः सहजःप्रकाशः।
सोऽयं तवोल्लुमति फारकचङ्कचर्या चित्रोड्प्यकर्बुररसप्रसवः सुबुद्धे ॥5 ॥

एकं प्रकाशकभुशन्त्यपरं प्रकाश्यमत्यत्प्रकाशकमपीश तथा प्रकाश्यम्।
त्वं न प्रकाशक इहासि न च प्रकाश्यः पद्मप्रभ स्वयमसि प्रकटः प्रकाशः ॥6 ॥

अन्योन्यमापिबति वाचकवाच्यसद्यत् सत्प्रत्ययस्तदुभयं पिबति प्रसह्य।
सत्प्रत्ययस्तदुभयेन न पीयते चेत् पीतः समग्रममृतं भगवान् सुपार्श्वः ॥7 ॥

उत्मज्जनीति परतो विनिमज्जतीति मग्नः प्रसह्य पुनरुत्प्लवते नयापि।
अनर्निमग्न इति भाति न भाति भाति चन्द्रप्रभस्य विशदयितिचन्द्रिकोच ॥8 ॥

यस्मिन्नवस्थितिमुपेत्यनवस्थितं तत्तस्थः स्वयं सुविधिरप्यनवस्थ एवं।
देवोऽनवस्थितिमितोऽपिस एवं नान्यः सोऽप्यन्य एवमतयापि स एव नान्यः ॥9॥

शून्योऽपि निर्भरभृतोऽसि भृतोऽपि चान्यशून्योऽनगून्य विभवोऽप्यगिनेकपूर्णः।
न्य नैकपूर्णमहिमापि सदैक एवं कः शीतलनि चरितं एवं मातृमष्टि ॥10॥

नित्योऽपि नाशमुपयासि न यासि नाशं नष्टोऽपि सम्भवमुपैषि पुनः प्रसह्य।
जातोऽप्यजात इति तर्कयतां विभासि श्रेयः प्रभोद्भुतनिधान किमेतदीदृक ॥11॥

सन्नप्यसन्स्फुटमसन्नपि संश्व भासि सभांधसत्त्वसमवायमितो न भासि।
सत्वं स्वयं विभव भासि न चासि सत्त्वं सन्माभवस्त्वसि गुणोऽशिन वासुपूज्य ॥12॥

भूतोऽधुना भवसि नैवनावर्त्तमानो भूयो भविष्यसि तथापि भविष्यसि त्वम्।
यो वा भविष्यसि स खलवसि वर्त्तमानो यो वर्तसे विमलदेव स एवं भूतः ॥13॥

एकं प्रतितविषमः परिमेयमेयवैचित्रचित्रमनुभूयत एव देव।
द्वैत प्रसाधयदिंद तदनन्तशान्तमदैत्समेव मध्यामि महत्महस्ते ॥14॥

स्वात्मकोऽसि न च जातु परात्मकोसि स्वात्मात्मकोसि न तथास्त्य परः स्वआत्मा।
आत्मात्वमस्यऽनन्त्र धर्मनिरात्म तास्तिनाच्छिन्नदृक् प्रसररूपतयास्ति सापि ॥15॥

अन्योन्यवैररासिकाद्भुततत्त्व तन्तु स्यसकुरत्किरणकोरक निर्भरोऽस सि।
एक प्रभामरसुसंभृतशान्तशान्तो! चित्सत्वमाभमिति भास्ययश्च स्वामिते ॥16॥

यन्ति क्षणक्षयमुपाधिवशेन भेदमापद्य चित्रमपि चारचयन्त्यचित्रे।
कुन्थो! स्फुटन्ति धनसंघटिताहिनित्यं विज्ञानधातुपरमाणव एव नैव ॥17॥

एकोऽप्यनेकइति भासि न चास्यनेकः एकोऽस्यनेक समुदायमयः सदैव।
नानैकसञ्चयमयोऽस्यसि चैक एकस्त्वं चिञ्चमत्कृतमयः परमेश्वरार ॥18॥

निर्दारितोऽपि घटसे घटितोपि दारं प्राप्नोषि दारणमितोऽप्यास निर्विभागः।
भागोज्झितोऽपि परिपूर्तिमुपैषि भागैनिर्भागः एव च चिता प्रतिभासि मस्से ॥19॥

उत्पादितोऽपि मुनिसुव्रतरोपितस्त्वमारोपितोऽप्यसि समुद्धत एव नैव।
नित्योल्ल सन्निरवधिस्थिरबोपाद ध्यानद्ध कृतनभुवनोऽनिशषीच्युतोऽसि ॥20॥

विष्वततोऽपि न ततोऽपि नित्यमन्तः कृपभिभुवनोऽसितदंशयोऽसि।
लोकैकदेशनिभृतोऽपिनमे त्रिलोकी माप्लावयस्यमल बोधसुधारसेन ॥21॥

बध्दोऽपि मुक्त इति भासि न चासि मुक्तोबद्धोऽसि बद्धमहिमाऽसिस दासिमुक्त।
नोबद्ध मुक्तपरतोऽस्यसिमोक्ष एव मोक्षोऽपि नासि चिदसित्वमरिष्ट नेमो ॥22॥

भान्तोऽप्य विभ्रममयोऽसि सदाभ्रमोपि साक्षाद्धनोऽसि यदि वाभ्रम एव नासि।
विद्याऽसि साप्यसि न पार्श्वजडोऽसि नैवं चिद्भारभास्वररसानिशयोऽसि काचित् ॥23॥

आत्मीकृताचलितचित्परिणाममाभविश्वोदय प्रलयपालन कर्तृ कर्तृ।
ना कर्तृ बोद्धचबोदथिबोधमात्रं तद्वर्धमान! तव धाम किमद्भुतंनः ॥24॥

ये भावयन्त्यविकलार्थवतीं जिनानां नामावलीममृतचन्द्र चिदेक पीताम्।
विश्वं पीबन्ति सकलं किल लीलयैव पीयन्त एव न कदाचन ते परेण ॥25॥

नमः परमात्मने नमोऽनेकान्ताय

शुद्धपरमात्मतत्व एवं उनके अनेकान्त सिद्धान्त को नमस्कार किया है ।

अर्थ—हे भगवन् आदिनाथ स्वामी मैं (आचार्य महावीर कीर्ति आपकी पूजा करता हूँ । क्यों ? क्यों कि आप स्वायंभुव हैं । अर्थात् प्रत्येक बुद्ध हैं, समस्त सृष्टि निर्माता कर्मयुग के प्रवर्तक हुए । अतएव आपको स्वयम्भू कहते हैं क्योंकि बिना शिक्षक और शिक्षालय के ही ज्ञाता हुए । आपका ज्ञान आपकी वय, त्याग, तप तेज के साथ स्वयं वृद्धिंगत होता हुआ पूर्णता को प्राप्त हुआ - केवल ज्ञान में परिणत हो गया । यह पूर्ण स्वच्छ-निर्मल-संशय-विपर्य-अनध्यवसाय रहित है । अविनाशी एवं एकरूप है । कर्म युग के प्रारम्भ में आपने असि मसि आदि षट् कर्मों का उपदेश दे जीवनोपाय दर्शाया । कैवल्य प्राप्त कर उभय धर्म का स्वरूप तथा अनेकान्तात्मक वस्तु स्वरूप प्रतिपादित किया । इस प्रकार का श्रेष्ठतम ज्ञाता अन्य नहीं हो सकता जो वस्तु के अन्दर समाहित अनन्त धर्मों को अवगत कर सके । अस्तु आप ही पूज्य हैं । मैं आपही की पूजा करता हूँ ॥ १॥

अर्थ— भो अजितनाथ! आप ही तत्त्वों मापक या ज्ञायक हो, क्योंकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, आपका ज्ञान भी अनन्त है । स्वयं के मापक भी आप ही हो, कारण जो अनेकान्तमयी निजात्मा की असीमता को माप सकता है वही पर को भी । फलतः आप मेय-मापने योग्य हो । उस स्व-पर के मापक होने से उस प्रमाणमाप का फल भी आप ही को प्राप्त है । अतः ईशत्वपना आपको ही सिद्ध है । इस प्रकार प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति का फल निश्चियनयापेक्षा आप ही में सन्निहित है, व्यवहारनयापेक्षा अशेष विश्व के ज्ञाता हो । आपके ज्ञान-प्रमाण से परे कुछ भी नहीं रहा अतः आप 'अजित' सार्थक नाम युक्त हैं । केवलज्ञान से यद्यपि कुछ भी वाह्य ज्ञेय नहीं है

तो भी आपकी चित्-चैतन्य मय ज्ञानज्योति, उत्कृष्टपने से, उज्ज्वल, निर्मल प्रकाशित रहती है । अभिप्राय यह है कि अनन्तज्ञान में लोकालोक अनन्तपर्यायों सहित एक साथ एक ही समय में अवभासित हो गया तो क्या अब ज्ञान निष्क्रिय हो गया ? नहीं वह तो ज्यों का त्यों उच्चतम रूप से प्रकाशित ही रहता है ।। २ ।।

अर्थ– हे संभवजिन! आपकी परमविशुद्धात्मा के परमोज्ज्वल ज्ञान में वस्तु एकान्तरूप से अवभासित नहीं होती, तथा अनेकान्तरूपता भी एकान्तपने से प्रतिबिम्बित नहीं होती । अपितु एक साथ उभयरूपता लिए ही प्रतिभासित होती है । इससे स्पष्ट है कि अशेष पदार्थ एकानेक, नित्या-नित्य आदि अनेक धर्मात्मक (स्वभाव वाले) ही हैं । इसीलिए आपने अपेक्षाकृत सिद्धान्त द्वारा विरोधी धर्मों को भी एक ही पदार्थ में एक साथ अविरोध रूप से सिद्ध किया है । यह गौण मुख्य व्यवस्था आप ही के सिद्धान्त में संभावित है । अतः आपका "संभव जिन" यह नाम यथार्थ सार्थक है । आप ही अशेष विश्व के यथार्थ स्वरूप के प्रतिभासक-प्रदर्शित करने वाले हैं ।। ३ ।।

अर्थ–हे देव, जो कुछ संसार में भास्यमान-प्रतिबिम्बित होने योग्य है, वही आपके ज्ञान में प्रतिभासित होता है, जो भास्य नहीं है वह प्रतिभासित भी नहीं होता, तो भी जो है जैसा वैसा ही सत् रूप झलकता है इसी से नम् समास में जो नहीं है अर्थात् जो भासित नहीं हो उसे अभाति कहा जाता है यथा "न ब्राह्मणः अब्राह्मणः" जो ब्राह्मण नहीं है वह अन्य कोई है, अर्थात् सत् का सर्वथा नाश आपके सिद्धान्त में नहीं है । जो प्रकाश्य ही प्रकाशित होने योग्य है वह उसी रूप से प्रकाशित होता है जो भास्य नहीं वह अभास्य है, अभासि भी तो किसी सत्ता का ही ज्ञापन कराता है । अस्तु, निरन्वय नाश आपके सिद्धान्त में नहीं है । हे भगवन्! आपने इस प्रकार लोकालोक के पदार्थों को ज्यों का त्यों प्रकाशित कर दिया । सर्व हितैषी, आपका सर्वप्रिय

होना स्वाभाविक है । सर्वजनों के आनन्द कर्ता होने से आपका "अभिनन्दन" नाम सार्थक है आप सर्वजन अभिनन्दनीय व अभिवन्दनीय हैं ॥ ४ ॥

अर्थ:– लोक में सूर्य को प्रकाशक माना जाता है । परन्तु उसके अभिमुख– समक्ष जो कुछ आता है उसी को वह अवलोकित करता है । अर्थात रवि रश्मियाँ सीमित पदार्थों को ही दर्शाती हैं । परन्तु हे प्रभो! आपकी असीम ज्ञानज्योति सहज स्वाभाविक सतत विद्यमान रहकर प्रत्यक्ष व परोक्ष एकरूप व अनेकरूप सभी को प्रकाशित करती है । चित्र-विचित्र भी पदार्थ समानरूप से झलकते हैं । आपकी ज्ञायकदृष्टि त्रिकालवर्ती पदार्थों को अर्थात् अभिमुख व अनभिमुख समस्त पदार्थों को स्पष्ट विषय करती है अपने प्रमाधा का प्रमेय बनाती है । यह सुबुद्धिकौशल आप में ही शोभित है अतः आपका सुमति नाम पूर्णतः सार्थक है । अलौकिकता यह है कि नाना धर्मात्मक-चित्र-विचित्र विषयों को विषय कर भी आपका ज्ञान चित्रित नहीं होता वह तो पूर्ण रूप निर्मल सदा एक स्वरूप ही रहता है । अतः सुबुद्ध सुमतिनाथ यर्थाथ ही है ॥ ५ ॥

अर्थ:– लोक व्यवहार में एक पदार्थ प्रकाशक होता है तो अन्यप्रकाश्य अर्थात् प्रकाशित होने वाला माना जाता है । जो प्रकाशक है वह वस्तु को प्रकाशित करने में समर्थ होता है और प्रकाश्य रूप है वह प्रकाशित होता है । किन्तु, हे प्रभप्रभ देव, अद्भुत चर्चा है कि आप न प्रकाशक है और न प्रकाश्य ही है अपितु स्वयं ही उभय रूप हो । प्रकाशक तो इसीलिए नहीं कि आप वीतरागी हैं स्वयं अपने में लीन हैं पर प्रकाशक क्यों बनें । प्रकाश्य इसलिए नहीं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान के आप विषय नहीं हो सकते । अस्तु, आप स्वयं उत्कट प्रकाशपुञ्ज हैं । स्वाभाविक आपके ज्ञानप्रकाश में वाह्य प्रकाश्यरूप जड़-चेतन सभी पदार्थ झकझक् झलकते रहते हैं आप तटस्थ रहते हैं । वस्तु स्वभाव यही है । सूर्य अपनी प्रकाश शक्ति से आकाश में उदीयमान होता है पद्म भूमंडल के सरोवरो में विकसित

हो ही जाते हैं। अतः वीतराग प्रभो! आपके ज्ञानोदय से विश्व के प्राणी भव्यरूप पद्म स्वतः प्रफुल्ल आनन्दित होते हैं। अतः आपका "पद्म प्रभ" नाम सार्थक है ॥ ६ ॥

अर्थ– द्रव्य में वाच्यवाचक भाव शब्दों की अपेक्षा बनता है। द्रव्य में स्थित अनेक गुण एक दूसरे रूप परिणमन नहीं करते। क्योंकि गुण वाचक हैं और द्रव्य वाच्य है। यद्यपि गुण, द्रव्य दोनों ही सत् प्रत्यय सहित हैं तो भी दोनों में प्रदेशभेद नहीं होने से वे एक रूप भी हैं। यथा आत्मा द्रव्य है, ज्ञान, दर्शन, सुखादि गुण हैं। प्रत्येक गुण सत् प्रत्यय से ज्ञातव्य है तो भी ये सब आत्मप्रदेशों से बहिर्भूत अन्याश्रयी नहीं हैं। गुण-गुणी, वाच्य-वाचक भाव आदि सत् प्रत्यय वाले भिन्न-२ दृष्टिगत होते हैं यह व्यवहार नयापेक्षा सही है। परन्तु द्रव्यापेक्षा एकाश्रयी होने से एक रूप ही हैं। सुपार्श्व प्रभो! आपके सिद्धान्त में ही समवाय सम्बन्ध की यथार्थ प्रसिद्धि है। आपके गुणों की प्रकर्षता दिखाते हुए गुणस्तवन कर आचार्य श्री ने विशेष तत्त्व दर्शित किया है ॥ ७ ॥

अर्थः– लौकिक चन्द्रमा की ज्योत्सना चन्द्र में निमग्न रहने पर भी बाह्य निमित्तों (राहु, उभय पक्षों, मेघों) से पराभूत हो यदा-कदा प्रकाशित होती है। कभी अप्रकट भी रह जाती है, पराश्रितता ऐसी ही क्षणिक होती है। परन्तु चन्द्रप्रभ जिनेश्वर की स्वाधीन चित्त चैतन्य ज्योत्सना से परिपूर्ण ज्ञानचन्द्र की सघन-परिपूर्ण प्रकाशपुञ्जयुत निरन्तर - अविराम, निर्द्वंद प्रकट प्रकाशित ही रहती है। अपने परिपूर्ण रहकर पर प्रकाशक भी है यह अलौकिक चन्द्रिका आप ही में निहित है। अतः आपका चन्द्रप्रभ" यह अन्वर्थ सार्थक नाम है ॥ ८ ॥

अर्थः– वस्तु स्वभाव सामान्य-विशेषात्मक हैं। अर्थात् विधि-निषेध विरोधी होकर भी एक ही आश्रय में रहते ही हैं। क्योंकि उभय धर्म

अन्योन्याश्रित हैं, इनके अभाव में वस्तु का सद्भाव ही नहीं रह सकेगा। हे सुविधि जिन इस तत्त्व के आप ही प्रतिपादक हैं क्योंकि आपका ज्ञान अतीन्द्रिय है। सामान्य धर्म अपेक्षा वस्तु सत् स्वभाव लिए हैं और विशेषापेक्षा उसी समय गौण रूप में असत् भाव भी लिए हैं। अन्य एकान्तवादियों को यह विरोध भासते हैं। परन्तु अनेकान्त सिद्धान्त के प्रणेता आपके दिव्यज्ञान से प्रसूत सिद्धान्त में यह अविरोध रूप से शोभित होता है, जीवन्त रहता है। क्योंकि वस्तु के दो धर्मों के निरीक्षण की आपने दो दृष्टियाँ निरूपित की हैं। जिस समय द्रव्य दृष्टि प्रयुक्त होती है तो वस्तु वही-वही प्रत्यय से नित्य रूप प्रतिभासित होती है अन्यरूप नहीं। परन्तु उसी वस्तु का पर्यायार्थिक दृष्टिकोण से निरीक्षण किया जाता है तो नेति नेति-यह नहीं, ऐसी नहीं इस प्रकार अन्य रूपता स्थित होती है। कारण पर्याय क्षणिक होती हैं, परिवर्तन-शील होती है। इसीसे तो वस्तु में एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व सिद्ध हो वस्तु को नाश से बचाता है हे "सुविधि" नाथ सार्थक नाम वाले आपके सिद्धान्त में सर्वत्र अविरोध सिद्ध है ॥ ९ ॥

हे शीतल जिन आप अपने निजात्मीय गुणों से भिन्नभूत अन्य अचेतन द्रव्य के रूप रसादि गुणों से सर्वथा शून्य-रिक्त होने पर भी अपने अनन्तगुणों से परिपूर्ण भरे हो, चारों ओर से अनन्तशक्तियाँ आपमें व्याप्त हैं, अतएव पूर्ण भरितावस्था होने से अशून्य हो। इस प्रकार का शून्याशून्य वैभव विरोधी होकर भी आपमें प्रमाण और नयों द्वारा विवेचन करने पर एक आश्चर्यकारी दृष्टिगत होता है। आप एक ही रूप भरित नहीं हो क्यों कि अद्भुत महिमा उभय रूपता में ही यथार्थ सिद्ध होती है। स्व से व्यापृति और पर से व्यावृत्ति होना ही वस्तु का यथाजात स्वरूप प्रकट होता है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ आपके सिद्धान्त में उभय धर्मात्मक ही सिद्ध है। आपके सत्यार्थ वस्तुस्वरूप निरूपण की महिमा मातृवत् सभी को आनन्द देने वाली है। इस माहात्म्य को कौन वर्णन कर सकता है। आपका चरित्र पूर्ण अलौकिक है ॥ १० ॥

भगवन् ! श्रेयांस स्वामिन् आपने तत्त्व निरूपण करते समय वस्तु को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य-त्रैरूप्य निरूपण किया है । प्रति समय ये तीनों एक साथ रहकर पदार्थ की स्थिति को स्थित करते हैं । यद्यपि यह कथन कि नित्य भी नाश को प्राप्त होता है और विनष्ट भी उत्पाद प्राप्त करता है तथा नाशोत्पत्ति करता हुआ भी ध्रुवता को नहीं त्यागता यह सम्पूर्ण व्यवस्था उत्कर्षपने से आपके द्वारा ही प्रणीत है और एकान्तवादियों–जो वस्तु को सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक कहते हैं, तर्क की कषौटी पर कषते ही छिन्न-भिन्न हो जाती है । और आप ही का सिद्धान्त यही सत्य है, ऐसा ही है यह विशेष प्रकर्ष को प्राप्त होता है । अतः आप ही इस श्रेय को प्राप्त हैं कि यथार्थ व्यवस्थित कर वस्तु को नष्ट होने से रक्षा करते हैं । अतः आपका "श्रेयः" नाम यथार्थ ही है । उदाहरण से हम समझें कि आपकी या किसी की उंगली सीधी है, किसी ने कहा इसे टेढ़ी करो, वक्र करते ही उसी क्षण सरलता नष्ट हुयी, वक्रता उत्पन्न और उंगली यथावस्थित रही । अतः इस प्रकार का सर्व हितैषी तत्त्व आपही द्वारा प्रतिपादित है ।।११।।

अर्थ :– वस्तु तत्त्व सत् धर्म युक्त होते हुए असत् धर्म लिए भी रहे यह व्यवस्था आपही के सिद्धान्त में है । पृथक् 'समवाय' सम्बन्ध मानने वालों के यहाँ घटित नहीं हो सकती । चूं कि वस्तु स्वयं स्वभावतः सदसद् रूप है उसे अन्य सहायक की आवश्यकता ही क्या है ? क्योंकि स्वभावोऽतर्क गोचरः स्वभाव में किसी का क्यों, क्या तर्क नहीं चलता । षड्गुणी हानि वृद्धि द्वारा यथाजात वस्तु में उत्पाद-नाश होते ही रहते हैं । वस्तु स्वरूप इसी प्रकार का ऐसा ही प्रतिभासित होता है । सत्ता वैभव असत्ता प्रतिपक्षी के रहते ही सुशोभित होता है । क्योंकि विरोध से गुण मर्दित होकर ही निखरते हैं । परन्तु यह विरोध एक दूसरे का घातक नहीं अपितु साधक है । वैषेशिक मतानुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छहों को समवाय सम्बन्ध करता है । ये सभी स्वतंत्र हैं । जो स्वयं स्वतंत्र

सत्ता के लिए हैं भला उनमें अन्य का गुण धर्म क्यों जावे? आपने ही इस तथ्य को निराकृत करा है। क्योंकि सम्बन्ध तीन प्रकार का होता है– १. संयोग सम्बन्ध, २. समवाय सम्बन्ध और विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध। ये तीनों ही सम्बन्ध वस्तु तत्त्व के स्वरूप को बचाने में समर्थ नहीं हैं। प्रथम वो दो स्वतंत्र पदार्थ ही सिद्ध करता है, तीसरा भी दो स्वतंत्र द्रव्यों में घटित होता है। समवाय वस्तुरूप ही नहीं है। द्रव्य ही नहीं है। अतः वस्तु स्वयं सन्मात्र ही है, गुण भी सन्मात्र हैं परन्तु गुण-गुणी में सर्वथा भेद नहीं होता। कथंचित् भेदाभेद लिए रहते हैं। यह आपने ही वस्तु स्वरूप निरूपण किया है। अतः आपका "वासुपूज्य" नाम सार्थक है आपही देवेन्द्रों से पूज्य हैं ॥ १२ ॥

अर्थ :– जो अतीत था वही आज वर्तमान हो रहा है, तथा जो वर्तमान है। वही भविष्य होगा, जो भविष्य है वह भूत होगा यह अनोखी व्यवस्था है। हे विमल देव इसी आधार से आपने वस्तु त्रैकालिक सत्ता लिए है यह सम्यक् प्रकार सिद्ध कर दिया है। भावी ही वर्तमान है। इस प्रकार की अटपटी व्यवस्था को आपने अपने विमलज्ञान-पूर्ण ज्ञान द्वारा यथार्थ प्रतिपादित किया है। आपका "विमल" नाम यथातथ्य है ॥ १३ ॥

अर्थ :– मेय– पदार्थ समन्तात् चारों ओर से अपने गुणों से परिपूर्ण होता है अतः वह एक अद्वैत है। परन्तु यह अद्वैतता विषम है क्योंकि इसी के द्वारा वस्तु का द्वैत भाव भी सिद्ध होता है। यह चित्र-विचित्र महिमा आपके ही निर्मल-अतीन्द्रिय ज्ञान के तेज में प्रकाशित होती है। यह व्यवस्था, अनन्त, शान्त सुखद और सर्वमान्य है। आपका ज्ञान-केवलज्ञान भी द्वैताद्वैत स्वभाव को लिए है। द्रव्य दृष्टि से एक है – अद्वैत है और अनन्तपर्यायों से आकीर्ण होने से द्वैत स्वभावी है। अतः समस्त वस्तुएँ भी इसी प्रकार द्वैताद्वैत स्वभाव लिए हैं। आप मद, कषायादि रहित निर्मल अनन्त तेजधारी हैं। अतः "अनन्त" नाम पूर्णतः सार्थक है ॥ १४ ॥

अर्थ :– हे भगवन् प्रत्येक आत्मा अपने स्वात्मीय गुणों से परिपूर्ण होता है आप भी अपने ही अनन्तधर्मों से परिपूर्ण हैं क्यों कि एक द्रव्य के गुणधर्म अन्य द्रव्य के कदाऽपि नहीं हो सकते । अतः स्वात्मस्थ होकर भी आपके ज्ञान में त्रैलोक्यवर्ती पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं परन्तु आप उन रूप नहीं होते और न ही वे पदार्थ ही आप रूप होते हैं । वस्तु धर्म ही इस प्रकार का है कि धर्मों से निरपेक्ष नहीं होती है, प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने ही गुण-पर्यायों से युक्त रहते हैं । समान धर्मात्मक अन्य जीवात्मा भी अनन्त ज्ञानात्मक हैं परन्तु प्रत्येक अनन्त सिद्ध अपनी-अपनी सत्ता लिए ही होते हैं । उनका ज्ञान गुण के द्वारा ही प्रसरितरूप अर्थात् सर्वव्यापी पना सिद्ध है । इस प्रकार धर्म-धर्मी का अकाट्य, अचल, एकरूप सम्बन्धी धर्म का निरुपण करने वाले धर्मनाथ जिन का "धर्म" नाम सार्थक है ।। १५ ।।

अर्थ :– संसार में परस्पर विरोधी पदार्थ भरे हैं । तत्त्वों में स्वाभाविक विरोध पाया जाता है । यथा रवि की किरणें उदित होते समय कमल कलिकाओं को विकसित कर देती हैं वे ही अस्ताचल में जाते समय उन्हें अविकसित-बन्द कर देती हैं । परन्तु भगवन् ! शान्तिनाथ स्वामी आप स्वयं ऐसे अद्‌भुत शान्तरस से प्रपूरित हैं कि उस चैतन्य स्वरूप चिदानन्दरस केवलज्ञान की रश्मियों में जाति-विरोधी-स्वभाव से विरोध रखने वाले प्राणी-यथा सर्प-नकुल, विडाल-मूषक, मयूर-सर्प आदि भी वैर-विरोध विस्मृत कर मैत्री भाव को प्राप्त होकर एक सूत्र में बंध जाते हैं । अतः आप एक मात्र शुद्ध चैतन्य स्वभाव में ही निमग्न हैं । इसी से पूर्णभरे हैं । चित्कला की प्रभा चारों ओर प्रस्फुटित प्राणी मात्र की उसी चैतन्य की ज्योति को विकसित करने का अमर सन्देश प्रदान करती है । अतः सम्पूर्ण विश्व को परम शान्ति के प्रदाता आपका "शान्ति" नाम यथार्थ है । विश्व में अनेक भास्यमान पदार्थ हैं, परन्तु सबका विषय सीमित है । भगवन् ! आपका कैवल्य सूर्य सर्वलोक व्यापी और सर्वकालव्यापी होने से एकरूपता

से सबको सुख शान्ति प्रदान करने वाला है । अस्तु आप यथार्थ में "शान्तिनाथ" हैं । शान्ति के अधिनायक हैं ।। १६ ।।

हे कुन्थुजिन! आपने उपदिष्ट किया है कि तत्त्व उपाधि के निमित्त से स्थायी होकर भी क्षण-क्षण में नाश को प्राप्त होता है । अर्थात् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा तत्त्व क्षणध्वंसी है इस कारण भेद रूपता-चित्रता स्पष्ट दिखायी पड़ती है । परन्तु यह भेद अभेद से सर्वथा शून्य नहीं है । अपितु अभेद में ही भेद हो रहे हैं । अभ्र घन पवन से आहत होकर विघटित होते हुए दृष्टिगत होते हैं । विज्ञानरूप धातु-तत्त्व भी क्षायोपशमिक अवस्था में ज्ञानावरण कर्म के निमित्त से खण्डरूप होकर हानि-वृद्धि को प्राप्त होता है, परन्तु सम्पूर्ण आवरण के नाश होने पर वह अपने परमार्थ रूप आत्मा को ज्ञानघनस्वरूपता को प्राप्त कर एकरूप ही प्रतिभासित होता है । यही नहीं पुनः "काले कल्पशतेऽपि" अनन्त काल होने पर भी विक्रय-स्वस्वभावच्युत नहीं होता । जिस प्रकार घनों की चोट खाकर भी लौह धातु अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करता उसी प्रकार अनन्तों अनन्तगुणधर्म वाले पदार्थ भी आपके शुद्ध ज्ञान स्वभाव में प्रति बिम्बित होकर भी उसे मलिन नहीं करते । इस प्रकार का तत्त्वज्ञान कराने वाले भगवान् आप सार्थक नाम वाले हैं ।। १७ ।।

अर्थ :— एकरूपता वस्तु भी अनेकरूप प्रतिभासित होती है तथा अनेकरूप भी एक रूप प्रतिभासित होती है । परन्तु ये दोनों धर्म सर्वथा निरपेक्ष होकर पृथक् नहीं हैं अपितु सापेक्षता लिए वस्तु को उभय धर्मात्मक सिद्ध करते हैं । इस तथ्य को हे अरजिन ! आप ही ने सिद्ध किया है—आपके निर्विकारी-निर्मल केवलज्ञान में वस्तु स्वरूप भेदाभेदात्मक रूप ही झलका है । गुण-द्रव्य-पर्यायों की इस विचित्र विरोधात्मक दृष्टि को अविरोधात्मक ज्ञात करना सर्वज्ञ को भी संभव है । सूक्ष्मरूप नाना पर्यायों का परिज्ञान

करने वाला चित् चैतन्य तेजोमय एकत्व लिए आप ही का ज्ञान है अतः हे अरनाथ जिन आप ही परमेश्वर हो अन्य कोई नहीं ॥ १८ ॥

अर्थ :–हे मल्लिजिन ! आपकी देशना में आत्मतत्त्व का अत्यन्त मार्मिक विवेचन है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सकता । आत्मा नाना गुणों की अपेक्षा भिन्न भिन्न होते हुए भी एक रूप सिद्ध होती है, एक रूप होकर भी भेद रूप भीं है । भिन्न भिन्न होकर भी एकरूपता ही लिये है । यह व्यवस्था द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयदृष्टियों के पृथक्-पृथक् प्रयोग करने पर सम्यक् सिद्ध होती है, दोनों नयों का एक साथ प्रयोग करने पर न भेद है न अभेद ही है किन्तु भेदाभेदात्मकरूप है । परन्तु भेदरूपता का त्याग कर भी अपने में परिपूर्णता को प्राप्त करती है अर्थात् संसारावस्था में कर्मानुसार प्रेरित हो नानारूपों में हो रही वही आत्मा जब प्रेरक कर्म, नो कर्म और भावकर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाती है, सकल परभावों से रहित शुद्ध एकरूप चिन्मय प्रतिभासित होती है । अभिप्राय यह है कि नयातीत अवस्था प्राप्त होने पर भेद व अभेद, एक व अनेकादि विकल्प ही नहीं रहते मात्र चिदाकार चित् रूप ही रहता है । यह अवाग्गोचर स्वरूप मल्लिनाथ के ही शासन में संभवित है । अतः सर्वोपरि होने से आपका 'मल्लि' नाम पूर्ण सार्थक है ॥ १९ ॥

मुनिसुव्रतजिन ! सम्यग्ज्ञानरूपी पादप को उत्पाटित-उखाड़ कर भी पुनः आरोपित ही किया अर्थात् क्षायोपशमिक से क्षायिक बनाकर और अधिक सुदृढ़ व स्थायी बना दिया । आरोपित करने पर उसे कूटस्थनित्य नहीं होने दिया । इस प्रकार नित्यानित्य रूपता ही प्रदान की क्योंकि वस्तुस्वभाव वैसा ही है । संसारस्थिति में परिणमन पर निमित्तक था संसारातीत अवस्था में अगुरुलघुगुण द्वारा स्वाभाविक स्वतः हो रहा है । यह ज्योति नित्य उच्चरूप में प्रकाशमान रहेगी । अशेष विश्व को अपने निर्मल प्रकाश से व्याप्त कर अच्युत ही अपने ही में समाहित रहेगी । केवलज्ञान

ही पूर्णज्ञान है इसमें लोकालोक व्याप्त होता है, आत्मा फैलकर संसार व्यापक नहीं होती वह तो असंख्यात प्रदेशी ही है, अपनी ज्ञानकिरणों रूपी शाखाओं से सर्वव्यापी है । इस प्रकार की अनुपम घटना घटित करने वाले भगवान श्री मुनिसुव्रतस्वामी ही यथा नाम तथा गुण हैं ॥ २० ॥

अर्थ--आप विश्वव्यापी हैं, किन्तु उतने मात्र ही नहीं हैं क्योंकि लोकालोकरूप विश्व है वह आपके सम्यग्ज्ञान की पूर्ण निर्मलता में आकीर्ण है परन्तु इतने ही और भी अनन्तलोक हों तो वे भी इसमें समाहित हो सकते हैं । परन्तु आश्चर्य तो यह है कि तीनभुवन में व्यापकर भी आप अपने में ही सिमटे रहते हैं, निजस्वरूप से कभी भी चलायमान नहीं होते । इस प्रकार सम्पूर्ण लोक आपके ज्ञान का एकदेश भी नहीं है । हे नमि जिन ! आपके ज्ञान रूपी अमृत रस में तीनों लोक समाहित है--डूब रहा है । अभिप्राय यह कि आपके सिद्धान्त का अनुचर भव्यप्राणी सदैव इसी प्रकार के अगाध अमृतरूप हो सकता है यह आपने अद्भुत कला दर्शित की है । जो आपके समक्ष नम्र होगा वह संसार को नम्रीभूत करने में सक्षम हो सकेगा । अतः आपका नमि नाम वास्तविक है ॥ २१ ॥

जो बंधनबद्ध होता है वही बंधन मुक्त होता है यह तो प्रतिभासित होता है । जो मुक्त हो गया वह पुनः बंधनबद्ध हो यह प्रतिभाषित नहीं होता । अर्थात् ईश्वर अवतार नहीं होता । बद्ध ही सदा निर्बद्ध होता है यही भव्य की महिमा है । जो एक बार मुक्त हो गया वह पराश्रित नहीं होता, वह तो सदा मोक्षावस्था में ही रहता है । भगवान नेमिश्वर प्रभु का सिद्धान्त तो बताता है मोक्ष में भी न बद्धो न मुक्तो, यह तो वह अवस्था है जहाँ कोई विकल्प ही नहीं है, वहाँ तो चिद् मात्र-चिन्मात्र ही है । इस प्रकार सम्पूर्ण अरिष्टों से रहित-निराकुल तत्त्व प्रतिपादक अरिष्टनेमि सार्थक नाम वाले बालब्रह्मचारी नेमिनाथ भगवान हैं ॥ २२ ॥

आपके ज्ञानालोक में जो कुछ भी प्रकाशित होता है वह विभ्रमरहित प्रमाणित होता है । अथवा यों कहें जो जितने जैसे प्रमेय हैं वे उसी रूप

में आपके द्वारा प्रकट किये गये हैं । अतः त्रैकालिक सत्य स्वरूप ही निर्भ्रान्त प्रतीत होता है । चूंकि आपका क्षायिकज्ञान स्वयं अभ्रान्त होने से उससे निःसृत तत्त्व भी प्रमाणित होना स्वाभाविक ही है । विद्या विद्या रूप ही है अर्थात् ज्ञान चेतना स्वरूप है जिसका स्वभाव जानना ही है, जड़ अचेतन है, वह जान नहीं सकता । परन्तु आपकी केवलज्ञानमयी विद्या अलौकिक है वह स्वयं ज्योतित होकर अन्य समस्त जड़-चेतन पदार्थों को भी यथा तथा रूप से प्रकाशित करती है । स्वयं ज्ञानघनरूप रस से परिपूर्ण ही रहती है, ज्ञानगुण से भिन्न अन्य अनन्तशक्तियाँ भी आत्मा में समाहित ही रहती हैं, परन्तु ये सब एकाश्रयी होते हुये भी कोई भी एक-दूसरी रूप परिणत न होती हैं और न होंगी ही । ऐसा आपका अटल सिद्धान्त है जो अकाट्य है और अचल है । चैतन्य सदा-चिद् रस-चेतना रस भरित ही रहता है । ज्ञान और सुख अविनाभावी हैं । अस्तु, आपका चिदानन्द सतत सुखानन्दरस प्रपूरित रहता है । उदीयमान सुखशान्ति वाले 'पार्श्व' नाम सार्थक है ॥ २३ ॥

अचलित चित परिणाम रूप आपका स्वभाव है । आप अपने चैतन्य स्वभाव में ही लीन रहते हैं । चेतन ही आत्मा है और आत्मा ही चेतना है । यह चैतन्य चिन्मात्र परिणाम ही आत्मा का अपना स्वभाव है । उसी को आपने आत्मसात् किया है । संसार का प्रलय तथा पालन आप ही अपनी ज्ञान गरिमा द्वारा करते हैं । अभिप्राय यह है कि संसार, उत्पाद व विनाशरूप होता हुआ भी अनाद्यनिधन है । इस रहस्य को आप ही ज्ञात कर सके और अन्य भव्य जीवों को समझाया, तो भी आप यथाजात, यथारूप और यथास्थान मुक्तिधाम में विराजे रहे । उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल के उत्थान-पतन जो स्वभाव से वर्तमान भरतक्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में हो रहा है, उसके ज्ञाता-दृष्टा और उपदेष्टा होने से आपको सृष्टा-हन्ता व पालकः कहा जा सकता है परन्तु यह व्यवहार मात्र ही है निश्चयनय से तो आप न रागी हैं न द्वेषी ही । इसलिए किसी के कर्ता-धरता व पालक नहीं हो सकते । लोकत्रय स्वभाव से उत्पाद विध्वंसी है वह जैसा है वैसा ही आपके

सद्‌ज्ञान में झलकता है । अतः यह ज्ञान की निर्मलता का स्वभाव है जब समस्त विश्व को अपने ज्ञान का विषय बना लें, पर वास्तव में आप तो आप में लीन रहते हो । इस दृष्टि से विवेचन और विचार करने पर आप तो बोधमात्र आत्मतत्त्व लीन हो, निर्विकार हो । जिस धाम को आपने प्राप्त किया है वह सर्वोपरि है, इसमें क्या आश्चर्य ! आपका ज्ञान असीम है । जितना तीन लोक है इससे भी अधिक ऐसे अनन्त लोक भी क्यों न आ जायें तो भी यह वृद्धिंगत होकर अखण्ड, अचल और अविनाशी ही रहता है । अतः भगवान आपका वर्द्धमान नाम सुप्रसिद्ध, आगम प्रमाण द्वारा सुव्यवस्थित और अगम्य है । अर्थात् आत्मस्थित होकर भी ज्ञानालोक द्वारा सर्वव्यापी हैं । हम लोगों के लिए यह महाद्भुत चरित्र क्यों न होगा ? अवश्य ही कौतूहल उत्पन्न करने वाले अनोखे चारित्र के धनी हो । आपकी मुक्ति धाम तो और ही अधिक अद्भुत और आश्चर्यकारी है । क्योंकि हम छद्मस्थों के ज्ञान से निराला है अतः सर्वप्रकारेण आपका वर्द्धमान नाम सार्थक और संसार सागर को पार कराने वाला है । संसार सागर का तीर आप ही ज्ञात कर अन्य भव्यों को अवगत कराने में सक्षम है । अतः आपकी अद्भुत महिमा है ।। २४ ।।

जो भव्यजीव उपर्युक्त चतुर्विंशति तीर्थंकरों की नामावली का सतत अविकल रूप से ध्यान करते हैं, चिंतन का विषय बनाते हैं, भावना भाते हैं वे चिदात्मस्वरूप का पान कर अर्थात् ज्ञात कर सम्पूर्ण संसार को भी अवगत कर लेते हैं । अर्थात् जिन नामावली के ज्ञाता स्व-पर के ज्ञाता लीलामात्र में हो जाते हैं । इस प्रकार का ज्ञान और ज्ञानी आपके बहिर्भूत सिद्धान्ती कोई भी अन्य नहीं हो सकता । आचार्य श्री महावीर कीर्ति स्वामी का अकाट्य निर्णय है कि जिन्हें अमर आत्मरस अमृत का पान करना है वे चिदानन्द रस लीन जिनगुणनामावली का गान, ध्यान व चिंतन करें ।। २५ ।।

अध्याय 2

तेजः स्पृशामि तव तद्दशिबोधमात्र

मन्तर्बहिर्ज्वलदनाकुलमप्रमेयम्।

चैतन्यचूर्णभरभावितवैश्वरूप्य

मप्यत्यजत् सहजमूर्जितमेकरूपम्।।1।।

ये निर्विकल्पसविकल्पमिदं महस्ते

सम्भावयन्ति विशदं दृशि बोधमात्रम्।

विश्वं स्पृशन्त इव ते पुरुषं प्रमाणं

विश्वादिभक्तमुदितं जिन निर्विशन्ति।।2।।

प्रच्छादयन्ति यदनेकं विकल्पसङ्क

ख्यानान्तररङ्गजगतीजनितै रजोभिः।

एतावतैव पशवो न विभो भवन्त

मालोकयन्ति निकटप्रकटं निधानम्।।3।।

यत्रास्तमेऽपि बहिरर्थतमस्यगाधे

तत्रैव नूनभयमेवीभुदीयसे त्वम्।

व्योम्नीव नीलिमतेत सवितुः प्रकाशः

प्रच्छन्न एव परितः प्रकटश्चकास्ति।।4।।

नावस्थितिं जिनददासि न चाऽनवस्था

मुत्थापयस्यनिशमात्म महिम्नि नित्यम्।

येनायमद्भुतचिदुद्गमचञ्चुरुच्चैरेकोऽपि
ते विधिनिषेधमयः स्वभावः ॥5 ॥

यस्मादिदं विधिनिषेधमयं चकास्ति
निर्माणमेव सहजप्रविजृम्भितं ते।
तस्मात् सदा सदसदादिविकल्प जालं
त्वय्युविलासमिदमुत्प्लवते न चित्रम् ॥6 ॥

भावो भवस्यतिभृतः सहजेन धाम्ना
शून्यः परस्य विभवेन भवस्य भावः।
यातोऽप्यभावमयतो प्रतिभासि भावो।
भावोऽपि देव! बहिरर्थतयाऽस्य भावः ॥7 ॥

तिर्यग्विभक्तवपुषो भवतो य एव
स्वामिन्नमी सहभुवः प्रतिभान्ति भावाः।
तैर्खे कालकलनेन कृतोर्द्धखण्डै
रेको भवान् क्रमविभूत्यनुभूतिमेति ॥8 ॥

एकं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्त्तगुप्तं
चिन्मात्रमेव तव तत्त्वमतर्कयन्तः।
एतज्जगित्युभयतोऽतिरस प्रसारा
न्निःसारमद्य हृदयं जिन दीर्यतीव ॥9 ॥

आलोक्यसे जिन यदा त्वमिहाद्भुतश्रीः
सद्यः प्रणश्यति तदा सकलः सपत्नः।
वीर्ये विशीर्यति पुनस्त्वयि दृष्टनष्टे
नात्मा चकास्ति विलसत्यहितः सपत्नः ॥10 ॥

नित्योदिते निजमहिम्नि विमग्नविश्वे
विश्वातिशायि महसि प्रकटप्रतापे।
सम्भाव्यते त्वयि न संशय एव देव
दैवात् पशोर्यदि परं चिदुपप्लवः स्यात् ॥11॥

विश्वावलेहिभिरनाकुलचिद्विकासैः
प्रत्यक्षमेव लिखितो न विलोक्यसे यत्।
बाह्यार्थशक्तमनसः स्वपतस्त्वयीश
नूनं पशोरयमनध्यवसाय एव ॥12॥

रोमन्थमन्थरमुखो ननु गौरखिलार्थान्
नैकैकमेष जिन चर्वति किं वराकः।
त्वामेक कालतुलितातुलविश्वसार
सुस्वैकशक्तिमचलं विचिनोति किन्न ॥13॥

स्वस्मिन्निरुद्धमहिमा भगवंस्त्वयायं
गण्डूष एव विहितः किल बोध सिन्धुः।
यस्योर्मयो निजभरेण निपीतविश्वा
नैवोच्छ्वसन्ति हठकुड्मलिताः स्फुरन्त्यः ॥14॥

त्वद्वैभवैककणवीक्षणविस्मयोत्थ
सौस्थित्यमन्थरदृशः किमुदर्शितेऽमी।
तावच्चरित्रकरपत्रमिदं स्वमूर्ध्नि
व्यापारयन्तु सकलस्तु मुदैषि यावत् ॥15॥

ये साधयन्ति भगवंस्तव सिद्धरूपं
तीव्रैस्तपोभिरभितस्त इमे रमन्ताम्।
ध्यायन्न कोऽपि जिन! साधयतीह कार्यं
कार्यं हि साधनविधि प्रतिबद्धमेव ॥16॥

विज्ञानतन्तव इमे स्वरसप्रवृत्ता
द्रव्यान्तरस्य यदि संघटनाच्च्यवन्ते।
अद्यैव पुष्कलमलाकुलकस्मलेयं
देवाखिलैव विघटेत कषायकन्था ॥17॥

अज्ञानमा[illegible]शिखाप्रकीर्णा
विज्ञानमुर्मुरकणा विचरन्त एते।
शक्ष्यन्त एव सपदि स्वपदे विधातुं
संपश्यता तव विभो विभवं महिम्नः ॥18॥

बोधातिरिक्तमितरत् फलमासुकामाः
कस्मादहन्ति पशवो विषयाभिलाषम्।
प्रागेव विश्वविनयानऽभिभूयजान्
किं बोधमेव विनियम्य न धारयन्ति ॥19॥

यैखे देव पशवांशुभिरस्तबोधा
विष्वक्कषाय कणकर्बुरतां वहन्ते।
विश्वावबोधकुशलस्य महार्णवोऽभूत्
तैरेव वेशमसुधारसशीकरौधः ॥20॥

ज्ञातृत्व सुस्थिदृशिप्रसभाभिभूत
कर्तृत्वशान्तमहसि प्रकटप्रतापे।
संविद्विशेषविषमेऽपि कषायजन्मा
कृत्स्नोऽपि नास्ति भवतीशविकारभारः ॥21॥

सम्प्रत्य सङ्कुचित पुष्कलशक्तिचक्र
प्रौढ प्रकाश रभाऽर्पित सुप्रभातम्।
सम्भाव्यते सहजनिर्मल चिद्विकासै
र्नीराजयन्निव महस्तव विश्वमेतत्॥22॥

चिद्धारभैरव महोभरनिर्भराभि:
शुम्भत्स्वभावरसवीचिभिरुद्धुराभि: ।
उन्मीलित प्रसभमीलितव्यातसाक्षा:
प्रत्यक्षमेव हि महसाव तर्कयाम: ॥23 ॥

विश्वैक भोक्तरि निभौ भगवत्यनन्ते नित्योदितैकमहिमन्युदिते त्वयीति ।
एकैक मर्थमवलकच्य किलो (जिनो?) पभोग्यमद्याप्युपप्लवधिय: कथमुत्फवन्ते ॥24 ॥

चिन्ना (त्रा?) त्मशक्तिसमुदाय मयोऽयमात्मा सद्य: प्रशश्यति नपेक्षणाखंडयमान ।
नस्मादखण्डमनिराकृत खण्ड मेकमेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोस्मि ॥25 ॥

पाठ-२

भो आत्म तेज! तुम दर्शन चेतना व ज्ञान चेतना का शुद्ध स्वरूप हो, अपने अन्तरंगक्षेत्र के साथ बाह्य जगत में भी अनाकुलरूप से प्रकाशमान हो, अतीन्द्रिय होने से इन्द्रिय जन्यज्ञान की विषय नहीं होती। चैतन्य ज्योति की रश्मियों से खचाखच चूर्णसमान भरित हो, उसी से भाव्यमान होती हुई विश्वरूपअनेकरूपता लिए हो, अनन्तरूप बाह्य जगत के अनन्तगुण-पर्यायों सहित पदार्थ भी प्रकाशित हो रहे हैं। अतः वैश्यरूप भी हो, तथाऽपि अपने सहज स्वाभाविक उच्चतमतेजपुञ्ज एक चैतन्य स्वरूप को त्याग नहीं करते हो। ऐसे अपूर्व तेज द्वारा मैं स्पर्शित हो रहा हूँ। अभिप्राय यह है कि शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से निरीक्षण करने पर परमात्मा का जो लोकालोकव्यापी एक मात्र चैतन्य स्वभाव है वही मेरा भी है, मैं उसी रूप को प्राप्त करना चाहता हूँ। अतः उसी रूप से स्पर्शित होता हूँ ॥ १ ॥

जो मनीषी, इस आत्मज्योति को पूर्ण विशद-विस्तृत-निर्मल सम्यक दर्शन और ज्ञान मात्र, निर्विकल्प और सविकल्प स्वरूप संभावना करते हैं। अर्थात् दर्शन निर्विकल्प होता है और ज्ञान सविकल्प, इन्हें आगम में निराकार और साकार कहा है। इस प्रकार उभयरूपता लिए हुए भी एक रूप 'चेतना' मात्र ही है। यह मानों विश्व को व्याप्त कर अपने में समाहित कर रही हो ऐसी प्रतीत होती है। हे जिन जो इस प्रकार से उस पुराण पुरुष आत्मा को निरन्तर भाते हैं- चिन्तन करते हैं वे ही विश्व से भिन्न अपने में उदित रहने वाले आत्म स्वरूप में प्रवेश प्राप्त करते हैं। अभिप्राय यह है कि जो जिस पदार्थ का जिसरूप से एकाग्रचित्त हो, एक लयता को प्राप्त

होता है वही उस स्वरूपता को प्राप्त करता है । तद्रूप हो जाता है ॥ २ ॥

जो जन नाना संकल्प-विकल्पों से जनित नानारूप कर्मधूलि से अपने अन्तर्जगत को व्याप्त करते हैं, आच्छादित करते हैं वे मानों अनेक अंकुशों-मोह-मायादि कंटकों से आत्मनिधि सम्पन्न निजखान को व्याकीर्ण करते हैं । इस प्रकार अज्ञानतिमिर से व्याप्त पशु समान मूढ ही हैं । हे विभो! ऐसे निपट विपरीतानि निवेश में पड़े, स्वयं में भरे अति निकट रहने वाले सुख-शान्ति के खजानेरूप आत्मतत्त्व को अवलोकन नहीं कर पाते हैं । वे प्रकट निधि से भी वंचित रहते हैं । अभिप्राय यह है कि उत्तम नरभव पाकर भी जो अपना सद्बोध जाग्रत कर आत्मस्वरूप की पहिचान नहीं करते वे निपट पशुवत हैं । अतः सम्यक् दर्शन पूर्वक सद्बोध जाग्रत करना मानव जीवन का सार है ॥ ३ ॥

जहाँ वाह्य पदार्थो का अगाध-घोर तिमिर अस्त होता है, अर्थात् बहिरात्मबुद्धिरूप घनघोर तमतोम जिस समय विनष्ट होता है, उसी समय उसी में से निश्चय से तुम (आत्मज्योति) उदीयमान होती हो । जिस प्रकार नीलाकाश में जहाँ सघन कृष्ण घनघिर कर घोर अंधकार मय आच्छादित होते हैं, वहीं से अर्थात् उन मेघपटलों को भेदन कर रविरश्मियाँ प्रकाशपुंज लिए प्रकट होती हैं । इसी प्रकार चारों ओर से अज्ञान तिमिराच्छन्न आत्मा भी अपने प्रभाव से अविद्या को विघटित कर स्वयं बोधमात्र प्रकाशित होता है । चारों ओर से ज्ञानघन स्वभाव प्रकट हो जाता है ॥ अर्थात् अज्ञान तिमिर से ज्ञान भानु प्रकट हो चमकने लगता है तद्रूप पुरुषार्थ करने पर । बहिरात्मबुद्धि त्याग कर अन्तरात्मा बनो यह तात्पर्य है ॥ ४ ॥

प्रस्तुत श्लोक में चिदात्मा की चैतन्य ज्योति स्वरूप की स्थिति को सिद्ध करते हुए जिन शासन की विधि-निषेधात्मक सिद्धान्त पद्धति को प्रकट

प्रसिद्ध किया है । आचार्य श्री कहते हैं "हे जिन आपकी पद्धति आत्मा के प्रकट तेज-महिमा में किसी प्रकार की अनवस्था प्रदान नहीं करती न आप व्यवस्था देते हो अपितु नित्य ही उसे जीवन प्रदान करते हो । अर्थात् एकान्तरूप से नित्य या अनित्य कथन वस्तु का नाशक है, उभयधर्मात्मक ही स्वयं सिद्ध है, आपतो जो जैसा है उसे उसी रूप निरूपण करते हैं ।" जिससे यह चिदस्वरूप चुम्बित चिद् तत्त्व आपके सिद्धान्त में विधि-निषेध रूप से अनायास, सहज-स्वाभाविक सिद्ध होता है । परम आश्चर्य है कि एकरूप होकर भी द्विविधरूपता निराबाध ठहरती है यह अद्भुत माहात्म्य ही है । चिद् का उद्भव ही इस रूप में है और जिन देव आपका ज्ञान प्रकाश परम विशुद्ध होने से, राग द्वेष विहीन होने से अतीन्द्रिय तत्त्वों को भी यथाजात ही प्रकट करता है ॥ ५ ॥

आपके प्रतिपादित सिद्धान्त में विधि-निषेधात्मक तत्व स्वयंसिद्ध रूप ही स्वाभाविक अवस्था लिए स्पष्ट रूप से विस्तारित होता हुआ अपूर्व तेजोमय प्रकाशित होता है । अर्थात् स्व. चतुष्टय द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षा विधि रूप (स्व अस्ति स्थित) और पर चतुष्टय की अपेक्षा निषेधरूप तत्त्व-स्वरूप लिए उदीयमान रहता है । यही कारण है कि निरन्तर सत्-असत् विरोधी होकर भी सहोत्पन्न सदृश वस्तु में स्थित रहकर उसे नाश होने से रक्षित रखते हैं । इस प्रकार के विकल्पजालों को सुलझाना कोई आश्चर्य नहीं है । परन्तु यह आपही के सिद्धान्त में है अन्यत्र नहीं ॥ ६ ॥

पदार्थ-भाव स्व स्वाभाविक तेज से परिपूर्ण भरा प्रतीत होता है । वहीं पर पदार्थ के गुणों की अपेक्षा रिक्त-शून्य प्रतिभासित होता है । प्रत्येक पदार्थ भवन स्वरूप-परिणमन स्वरूप ही होता है । परन्तु शून्य होकर भी एकान्तरूप से अभावात्मक नहीं है । क्योंकि हे देव! आपके सिद्धान्त में निरन्वयनाश वस्तु का नहीं होता । अनेकान्त सिद्धान्त में अभाव भी सद्भाव रूप रहता है ।

बाह्यपदार्थ की अपेक्षा तत्त्वों में सत्ता व असत्ता अपेक्षाकृत रहती है। अभिप्राय यह है कि जिनमत में अनेकान्त सिद्धान्त अपेक्षाकृत वस्तु व स्वरूप निरूपण करता है। इसी से भाव-सत्ता और असत्ता एक ही तत्त्व में घटित हो जाती है ।। ७ ।।

वस्तु स्वरूप जिनागम में सामान्य विशेषात्मक कहा है। सामान्य के दो भेद हैं– १ तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य। इस प्रकार अनुवृत्त प्रत्यय का विशेष सामान्य और व्यावृत्तप्रत्यय का विषय विशेष या विभेद है। सामान्य से द्रव्य-और विशेष द्वारा पर्याय की प्रतीति होती है। इन उभय धर्मों के रहते ही पदार्थों में अर्थक्रिया संभव होती है। हे स्वामिन्! जिन! आपके सिद्धान्त में ही पदार्थों में उभय धर्म प्रकट रूप प्रतिभाषित होते हैं। अनुवृत्त प्रत्यय द्वारा यह वस्तु "वही है वही है" "इस प्रकार अनुवृत्ति लक्षित होकर द्रव्यत्व की सिद्धि होती है। वे द्रव्य विशेष धर्म द्वारा भेदरूप– "यह नहीं ऐसा नहीं" आदि व्यावृत्त प्रत्यय के विषय सिद्ध होते हैं। इन्हीं प्रत्ययों द्वारा समय भेद होने पर ऊर्ध्वता सामान्य सिद्ध होता है। भेद रूप होकर भी यह पदार्थ में एक रूपता-सिद्ध करता है। अर्थात् क्रमकरण विभूति अनुभूत होती है, यथा एक ही मृद पिण्ड में स्थास, कोष, कुशीलादि विभिन्न परिणमन देखे जाते हैं अथवा गौ, गौ यह सामान्य प्रत्यय है क्यों सम्पूर्ण गायों में गौत्वपना व्यापता है। परन्तु खण्डी-मुण्डी, काली-पीली आदि में गोत्व समान होने पर भी भेद दृष्टिगत होता है। एक भी अनेक रूप-क्रमिकता अनुभव में आती है। यह सब जिनशासन में ही उपलब्ध है ।। ८ ।।

आपके सिद्धान्त में तत्त्व एक चिन्मात्र स्वरूप ही है। परन्तु वह तत्त्व क्रमिक और अक्रमिक स्वभावं को पीये है। द्विविधभाव के कारण ही वह सुरक्षित है। स्वभाव तर्क का विषय नहीं होता। अतः स्वयं सिद्ध तत्त्व तर्क रहित ही रहता है। समस्त संसार इसी प्रकार से उभय धर्मों से समन्वित है और स्वरस से परिपूर्ण विस्तार को प्राप्त है। हे जिन! इसके अतिरिक्त

एकान्त वादियों की तत्त्व व्यवस्था सार विहीन और स्व पर हृदय विदारक है ।

हे जिन! अपनी अद्भुत लक्ष्मी का जिसक्षण अवलोकन करते हैं तो यह लक्ष्मी सदा देखते-देखते नष्ट हो जाती है । और इस में रहने वाली शक्ति भी नष्ट हो जाती है । यह वैभव और शक्ति अपने प्रतिद्वन्दी के नाश के साथ ही पनपती है । परन्तु हे जिन ! आपने बताया कि आत्मा एक मात्र शाश्वत-स्थायी है । इसका कोई प्रतिद्वन्दी नहीं है यह सदा बहार स्व स्वभाव में विलास-रमण करती है । इसका अहित कारक अन्य कोई नहीं है । यह तो अपने शान्त सहज स्वभाव में ही निवास करता है । इसकी असीम महिमा है ॥ १० ॥

अशेष विश्व अपने-अपने स्वभाव-तेजपुञ्ज में सतत निमग्न रहता है । अर्थात् संसार अनादि-अनन्त स्वभाव निष्पन्न है । आपका आत्म प्रकाश-तेज्जपुञ्ज तो प्रकट अपने प्रताप द्वारा विश्व को भी अतिशायी कर गया । हे देव! इस प्रकार की अद्भुत-आल्हादकारी आनन्दघन महिमा वाला आत्मा निशंसय रूप से आपमें ही प्रतिभासित होता है । भाग्यवशात् यदि कोई मिथ्यात्व के उदयवश इसके विपरीत आत्मस्वरूप को मानता है तो वह निपट अज्ञानी-पशु है और तत्त्व का विप्लव करने वाला है ॥११॥

सम्पूर्ण संसार को अपने सर्वोत्कृष्ट चैतन्य के निरकुल ज्ञान के द्वारा आत्मसात करने वाले प्रत्यक्ष रूप से लिखत के समान उत्कीर्ण करने वाले आप ही ईश हो, समर्थ हो । क्योंकि एक मात्र आप अपने आत्मरूप में निष्ठ हो । अन्य जो वाह्यपदार्थों में ही अपनी ज्ञान शक्ति का प्रयोग करने में लगे हैं वे तो पशु सदृश अज्ञानी है । उनका आत्म स्वभाव में अध्यवसाय हो ही नहीं सकता फिर भला वे प्रमादी विश्वज्ञ-ईश किस प्रकार हो सकते हैं ? कदाऽपि नहीं हो सकते ॥१२॥

जो व्यक्ति गाय के समान किसी एक पदार्थ को लेकर चर्वन करते रहते हैं अर्थात् जिस प्रकार गौ चारा को निगलकर अपने कण्ठ में रख लेती है पुनः उसी को बार-बार मुख में उगल-उगल कर चबाती है उसी में वह नवीनता समझती है। इसी प्रकार ' ' बुद्धि बेचारे अज्ञानी प्राणी पंचेन्द्रिय विषयों के भुक्त भोगी होते हुए भी उन्हीं में रम रहे हैं। उन्हीं की चर्चा-अर्चा करते रहते हैं। हे भगवन् आप ही एक ऐसे हैं जो एक साथ सम्पूर्ण विश्व के अशेष पदार्थों को अपने असीम अतीन्द्रियज्ञान द्वारा आत्म सात कर अचल अटल अपने ही स्वभाव में अधिष्ठित रहते हैं। ठीक ही है जो अतुल विश्व के सार को ज्ञात करने वाला ज्ञान वही अनुपम होता है। उसमें क्या नहीं झलकता? सभी पदार्थ अनन्त पर्यायों सहित स्पष्ट प्रतिभासित होते ही हैं ॥१३ ॥

हे स्वामिन्! आपके अपार ज्ञानसागर में समस्त लोकालोक गण्डूष के समान महिमा हीन हो गया है। अर्थात् समा गया है। इस ज्ञानसागर की लहरों में मानों एक ही उच्छ्वास में सिमटकर समा हित हो गया है। अर्थात् आपके ज्ञानरूपी सिन्धु की उर्मियों द्वारा समस्त विश्व आच्छादित कर लिया गया और वही एक मात्र स्फुराय मान हो रहा है। स्पष्ट रूप से वही ज्ञान सागर हिलोरें ले रहा है ॥१४॥

हे भगवन्! जो मन्दबुद्धि मूढ अपने आत्मस्वरूप प्राप्ति के प्रति निरूद्यमी हो रहे हैं प्रमादी हैं क्या वे आपके विश्वव्यापी-सर्वदर्शी वैभव का एक कणमात्र भी प्रदर्शित करने में सक्षम हैं? नहीं। क्योंकि यावत्-काल-याने जब तक कोई सम्यक् चारित्र रूप छत्र को अपने मस्तक पर धारण नहीं करे, तथा तदनुरूप आचरण को विकसित करता हुआ यथाख्यात चारित्ररूप

व्यापार में संलग्न हुआ सकलदर्शी निजशक्ति को उदित नहीं करे, तब तक उसे किस प्रकार देख सकता है? अर्थात् कदाऽपि देखने में समर्थ नहीं हो सकता है । दृष्टा को दृष्टा ही अवलोकन करने में समर्थ होता है ॥ १५ ॥

हे भगवन् ! जो मुमुक्ष साधक सन्त आपके सिद्ध शुद्ध-स्वरूप की साधना करते हैं, सम्यक् प्रकार से उत्कृष्ट, विशिष्ट तपश्चरण करते हैं अहर्निश उत्तरोत्तर उग्रतम् घोर तपों में ही रमते हैं । अर्थात् तपश्चरण ही उनका जीवन होता है । हे जिन आपने सिद्धान्त ही निर्धारित कर दिया है कि प्रत्येक कार्य अपने अनुरूप साधन-हेतु विधान से प्रतिबद्ध हो होता है ।अभिप्राय यह है कि "कारणानुविधायि हि कार्यम् ।" कार्य के अनुकूल ही कार्य सिद्ध होता है यथा लक्ष्य स्थिर कर ही कोई भी साधन विधि में दक्षता प्राप्त कर बाण द्वारा उसे बिद्ध करता है, अनभिज्ञ नहीं कर सकता । अतः आपके सिद्धरूप की साधन विधि का अभ्यास इच्छा निरोधस्तपः करना ही चाहिए । अन्यथा उस चिदानन्द चैतन्य सिद्धात्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती । तप करो, उसी में रमो, इन्द्रियों को विषयों से विमुख करो, यही उत्तम साधनविधि है ॥ १६ ॥

हे प्रभो आत्मा ज्ञानघन स्वरूप है । यदि ज्ञान तन्तु-सूत्र अपने ज्ञानानन्द-निजानुभूतिरस में ही तन्मय हो जायें, तो निश्चय ही उसी क्षण परद्रव्य-राग-द्वेषादि से सम्बन्ध विच्छेद हो जाये । अभिप्राय यह है कि परभावों-विकारी भावों में जकड़े ज्ञानांश अपने निजभाव में प्रवेश करें तो वे सकल विकारी परिणतियाँ छिन्न-भिन्न हो जाये और शुद्ध स्वभावमात्र रह जाये । हे देव! भो आत्मन्! इस अवस्था में आते ही अनादि कालीन् तीव्र एवं घट्टरूप से चिपके अत्यन्त मलीमश, और सच्चिकन कषायरूपीवस्त्र जर्जरित हो विघट जाये । अभिप्राय यह है कि आप ही अपनी भूल से आत्मा

ने अपने को कषाय-रूपी वस्त्र की खोल से आच्छादित कर रखा है । इस रहस्य को ज्ञात कर अपने ज्ञानामृतरस में निमग्न हो जाय तो यह खोल सर्प की कांचली समान स्वयं उतर जाय और चैतन्य मात्र स्वाभाविक सहज स्वभाव उपलब्ध हो जाये ॥ १७ ॥

संसार में अनादि अविद्या - अज्ञान के तीव्रोदय से अर्थात अज्ञान तमरूप झंझावायु के द्वारा प्रताड़ित और आकुलित होकर, सम्यक् विज्ञान ज्योति के स्फुलिंगे - कण - कण होकर बिखर रहे हैं । अर्थात् ज्ञानावरणीकर्म के क्षयोपशमानुसार विविध रूपों में यत्र-तत्र प्रसारित हो रहे हैं । हे भगवान् ! तो भी यदि आत्मा आपके सातिशायी, अद्भुत, महावैभव के प्रकाश को सम्यक् प्रकार अवलोकन करले तो शीघ्र ही सम्पूर्णकण सिमटकर अपने पद में एकत्रित हो सकते हैं । संसार की नीति है, ज्योति से ज्योति प्रज्वलित होती है, अतः आपकी निर्मलज्ञान ज्योति के उत्कृष्टतम प्रकाश पुञ्ज को देखते ही स्वात्म ज्योति भी जाग्रत हो सकती ॥ १८ ॥

हे भगवन्! महान् आश्चर्य है कि यह पामर संसारी प्राणी अपने ज्ञानस्वभाव से भिन्नभूत फल प्राप्ति की आकांक्षा से पशु समान विषयाभिलाषा के भार को वहन कर रहा है? प्रथम ही जिस ज्ञान ने अखिल विश्व को अपना शिष्य बनाया अर्थात् जिस विश्व व्यापी सर्वज्ञता के समक्ष संसार के अखिल प्राणियों ने घुटने टेक कर नमन किया, अपना गुरु माना । उसी अभूतपूर्व ज्ञान को ही अपने में समाहित कर क्यों नहीं धारण करते हैं । सुख आत्मा में है, आत्मा ज्ञानरूप है । ज्ञान और सुख एकाकार हैं परन्तु मोहतिमिर से प्रच्छन्न प्राणी ज्ञान से भिन्नभूत विषय-कषायों द्वारा इन्द्रियाभिलाषा की पूर्ति में व्यर्थ ही शक्ति लगा रहे हैं । वस्तुतः ज्ञानविहीन

व्यक्ति पशु समान है । स्वहिताकांक्षी ज्ञानाभिलाषी हो अनन्तज्ञान का प्रकाशन करें ॥ १९ ॥

हे देव! जिनके द्वारा अपने अज्ञानतम से ज्ञानावरणी कर्म को पुष्ट किया जा रहा है । वे पशु-मूढ़ अज्ञानांशों से आच्छादित हो अपने निर्मल बोध को चित्रित कर रहे हैं । कषायों के नाना भेदों से चित्र विचित्र बना रहे हैं यदि ये ही प्राणी संसार ज्ञाता-सर्वज्ञ हे प्रभो! आपके महाज्ञान रूपी सागर के शान्ति सुधा कणों को समन्वित करने की चेष्टा करें तो अवश्य ही स्वयं के ज्ञानसिन्धु को प्राप्त कर लें । अभिप्राय यह है कि स्वयं आत्मा अपार ज्ञान सुधारस परिपूर्ण अमित सागर है उसे ही प्राप्त करना चाहिए । अर्थात् अपने ही अशेष द्रव्य गुण पर्यायों का व्यक्तिकरण करना चाहिए ॥ २० ॥

परमावगाढरूप सम्यक्दर्शन के साथ आत्मा की ज्ञातृत्वशक्तिएकाकार होती है । इसके प्रभाव से आत्मज्योति का तेज प्रखर हो प्रकट हो जाता है । इसके प्रताप के समक्ष कर्तृत्वबुद्धि उपशमित हो जाती है । फलतः सम्यक्ज्ञान विशेषरूप से अनुभव में आता है । यद्यपि यह ज्ञान चेतना कुछ अंशों में कर्मचेतना से मिश्रित होने के कारण कुछ क्षीण कषाय से संविलित हो सकती है । परन्तु तो भी सम्पूर्णरूप से अपना प्रभाव नहीं डाल सकती हैं । अर्थात् विकारोत्पादन शक्ति क्षीण हो जाने से आत्मा के निज स्वभाव-अनुजीवी गुणों का घात नहीं कर सकती । अभिप्राय यह है कि सम्यक्दर्शन के साथ सम्यक्ज्ञानरूपी सूर्य के उदित होते ही कषाय रूप उल्लू स्वयं छिप जाते हैं– निष्क्रिय हो जाते हैं ॥ २१ ॥

हे भगवन् ! इस समय वेग के साथ आपके विस्तृत प्रगाढ एवं पुष्ट, उन्नत प्रकाश शक्तिचक्र ने अनुपम, अलौकिक सुप्रभात ही अर्पित किया

है। मुझे तो ऐसी संभावना-आशा जाग्रत हो रही है कि इस सहज उज्जवल निर्दोष चैतन्य विलास के द्वारा अशेष विश्व ही द्योतित हो रहा है और ऐसा प्रतीत होता है मानों संसार का समस्त तेजपुञ्ज आपके सर्व व्यापी ज्ञानोज्जवल प्रकाश की आरती ही करने आया है। अभिप्राय यह है कि आपके पूर्ण निर्मल केवल ज्ञान के समक्ष समस्त ढाई द्वीप के सूर्य चन्द्र व तारागण अपने-अपने प्रकाश द्वारा आरती लिए हुए मानों पूजार्थ आये हैं। अर्थात् सबका प्रकाश केवलज्ञान रवि के समक्ष नन्हें-नन्हे दीपों के समान टिम-टिमाते नीरांजना कर रहे हैं॥ ऐसा विशाल है चैतन्य का चिद् प्रकाश ॥ २२ ॥

हे भगवन्! घातिया कर्मों को आपने ध्यानल से भस्मसात कर दिया। इसी से आपका परमौदारिक शरीर प्रकट हो गया। यह चैतन्य के भार से पूर्णतः निर्भर है, लगता है मानों चारों ओर से चिद्रूप के प्रदर्शन के लिए तुमुलनाद-गर्जना कर रहा हो। अत्यन्त उग्र किन्तु शान्त प्रकाश भामण्डल के व्याज से आप के चारों ओर बिखर रहा है। हम तर्कणा के आधार पर यह अवगत करते हैं कि कातर-कायर या भीरु इन्द्रियाँ भयातुर हो एक साथ उन्निद्र हो गई हैं। अर्थात् अब प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञान-दर्शन के समक्ष ये सर्व निष्क्रिय हो गईं। मात्र आपका सहज आत्म स्वभाव चिद् शक्ति का ही मात्र अनुपम तेज रह गया है ॥२३॥

हे प्रभो! जिन! सर्वज्ञ संसार के सम्पूर्ण पदार्थों, उनके गुण और अनन्त पर्यायों का एक ही समय में एक साथ युगपद भोगने की शक्ति आपकी उदित हो गयी है। अर्थात् अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन का अमितकाल के लिए आप में प्रकटीकरण हो गया। यह महिमा नित्य एकरूप में उदीयमान

रहेगी। इस अवस्था में अतृप्त एक-एक विषय को सेवन करने वाली इन्द्रियों का व्यापार भला किस प्रकार चल सकता है? अर्थात् नहीं चल सकता। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने सीमित एक-एक ही विषय को सेवन करती है वह भी क्षणिक काल के लिए। परन्तु जिस समय ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो जाने से अनन्त ज्ञान और दर्शनावरणीय के क्षय से अनन्त दर्शन तथा मोह और अन्तराय कर्मों के अभाव में अनन्त सुख व अनन्त वीर्य प्रकट हो गया तो अब भला खण्डज्ञान का व्यापार किस प्रकार चल सकता है ? पूर्ण स्वातन्त्र्य में पराश्रितता क्यों रहे ? नहीं रह सकती। पूर्ण तृप्त होने पर असन्तोष नहीं रह सकता। अतः व्यग्रता, आकुलतादि स्वयं नष्ट हो जाती हैं। मात्र स्वाधीन आत्मानन्द ही रहता है ॥२४॥

उपर्युक्त विवेचना का सार यह है कि भो आत्मन्! यदि तू अपने निजरस के भार से भरित हुआ अपने स्वभाव चिदात्मशक्ति को समेट कर प्रमाण की कसौटी पर परख ले तो निश्चय ही नयों द्वारा खण्डरूप या विभिन्न शक्तियाँ बिखरी हुई प्रतीत हो रही थीं वे एक समुदाय रूप में प्रतीत होंगी। अर्थात् भेददृष्टि का अभाव होकर अभेद दृष्टि जाग्रत हो जायेगी। यद्यपि उस अभेद दशा की प्राप्ति के लिए नयात्मक भेद दृष्टि की प्राथमिक अवस्था प्रशंसनीय है, परन्तु अखण्ड एक, चिदाकार, ज्ञान घनस्वरूपात्मा का प्रत्यक्षीकरण होने पर नय व प्रमाण का भेद ही समाप्त हो जाता है। अतः आत्मस्वरूप साधक मुमुक्षु को एक अचल अखण्ड, एकान्तशान्तरस भरित चैतन्य रूप ही मैं हूँ ऐसा चिन्तन, ध्यान व मनन करना चाहिए। चैतन्य ज्योतिपुञ्ज के अतिरिक्त मै और कुछ भी नहीं हूँ यही पूर्ण ज्ञान चेतना की अवस्था मैं हूँ ॥२५॥

अध्याय 3

मार्गावताररसनिर्भरभावितस्य
योऽभूत् तवाविरतमुत्कलिकाविकाशः।
तस्य प्रभोद्भुतविभूतिपिपासितानां
मस्माकमेककलयापि कुरू प्रसादम् ॥1॥

दृग्बोधमात्रमहिमन्यपहाय मोह
व्यूहं प्रसह्य समये भवनं भवंसवम्।
सामायिकं स्वयमभूर्भगवत्समग्र
सावद्ययोग परिहारवतः समन्तात् ॥2॥

अत्यन्तमेतमितरेतरसव्यपेक्षं
त्वं द्रव्य भावमहिमा नमबाधमानः।
स्वच्छन्दभावगतसंयभवैभवोऽपि
स्वं द्रव्यसंयमपथे प्रथमं न्ययुंक्षाः करवा: ॥3॥

विश्रान्तरागरुषितस्य तपोऽनुभावाद
नार्बहिः समतया तव भावितस्य।
आसीद्बहिर्द्वयमिदं सदृशं प्रमेय
मन्तर्द्वयोःपरिचरः सदृशः प्रमाता ॥4॥

मोहोदयस्खलित बुद्धिरलब्धभूमिः
पश्यन् जनो यदिह नित्यबहिर्मुखोऽयम्।

शुद्धोपयोग दृढ भूमिमितः समन्ताद
दन्तर्मुखस्त्वमभवः कलयंस्तदेव ॥5 ॥
शुद्धोपयोगरसनिर्भरबद्धलक्ष्यः
साक्षाद्भवन्नपि विचित्रफ्तोऽवगूर्णः ।
बिभ्रत्क्षयोपशमजाश्चरणस्य शक्तिः
स्वादान्तरं त्वभगमः प्रगलत्कषायः ॥6 ॥
वेद्यस्य विश्वगुदयावलिकाः स्खलन्तीः
मत्वोल्लसन् द्विगुणिताद्भुत बोधवीर्यः ।
गाढं परीषहनिपातमनेकवारं
प्राप्तोऽपि मोहमगमो न न कातरोन्तः ॥7 ॥
अस्नन् भवान्निजनिकाचित कर्मपाक
मेकोपि धैर्यबल वृद्धितत्तुङ्गचित्तः ।
आसीन्न काहल इहास्खलितोपयोग
गाढग्रहादगणयन् गुरुदुःखभारम् ॥8 ॥
उद्दामसंयमभरोद्वहनेऽप्यखिन्नः
सन्नह्यदुर्जयकषायजयार्थमेकः ।
बोधास्तुतैक्ष्ण्यकरणाय सदैव जाय
दैवश्रुतस्य विषयं सकलं व्यचैषीः ॥9 ॥
यच्छ्रव्य पर्ययगतं श्रुतबोधशक्त्या
तीक्ष्णोपयोगमयमूर्तिरतर्कयरुवम् ।
आक्राम्य तावदपवादतराधिरूढ
शुद्धैकबोधसुभगं स्वयमन्वभूः स्वम् ॥10 ॥
तीव्रैस्तपोभिरभितस्तव देव नित्यं
दूरान्तरं रचयतः पुरुषप्रकृत्योः ।

प्राप्तः क्रमात् कुशलिनः परमप्रकर्ष
ज्ञानक्रियाव्यतिकरेण विवेकपाकः ॥11 ॥
श्रेणीप्रवेशसमये त्वमथाप्रवृत्तं
कुर्वन् मनाक्करणमिष्ट विशिष्टशुद्धिः।
आरूढ एव दृढवीर्यचपेटितानि
निर्लोठयन् प्रबलमोहबलानि विष्वक् ॥12 ॥
कुर्वन्नपूर्वकरणं परिणामशुद्ध्या
पूर्वादनन्तगुणया परिवर्त्तमानः।
उत्तेजयन्नविरतं निजवीर्यसारं
प्राप्तोऽसि देव परमं क्षपणोपयोगम् ॥13 ॥
प्राप्याऽनिवृत्तिकरणं करणानुभावा
न्निर्गालयन् झगिति बादरकर्मकिट्टम्।
अन्तर्विशुद्धिविकसन् सहजात् स्वभावो
जातः चित् चिदपि प्रकट प्रकाशः ॥14 ॥
स्वं सूक्ष्मकिट्टहठघट्टनयाऽवशिष्ट
लोभाणुकैककणचिक्कणमुत्कयं स्त्वम्।
आलम्ब्य किञ्चिदपि सूक्ष्मकषायभावं
जातः क्षणात् क्षपितकृत्स्नकषायबन्धः ॥15 ॥
उद्वम्य मांसलमशेषकषाय किट्ट
मालम्ब्यनिर्भरमनन्तगुणा विशुद्धीः।
जातोऽस्यऽसंख्यशुभसंयमलब्धिधाम
सोपानपंक्तिशिखरैकशिखामणिस्त्वम्। ॥16 ॥
शब्दः र्थसंक्रमवितर्कमनेकधावः
स्पष्टया तदास्थितमनास्त्वमसंक्रमोऽभूः।

एकाग्ररुद्धमनसस्तव तत्र चित्त

ग्रन्थौ स्फुटत्युदितमेतदनन्ततेजः ॥17॥

साक्षादसंख्यगुणनिर्जरणास्त्रजस्त्व

मन्ते भवन् क्षपितसंहृतघातिकर्म्मा।

उन्मीलयन्नखिलमात्मकलाकलाप

मासीरनन्तगुणशुद्धिविशुद्धतत्त्व ॥18॥

एतत्ततः प्रभृति शान्तमनन्ततेज

उत्तेजितं सहजवीर्यगुणोदयेन।

यस्यान्तरुन्मिषदनन्तमनन्तरूप

संकीर्णपूर्णमहिम प्रतिभाति विश्वम् ॥19॥

योगान् जिघांसुरपि योगफलं जिघृक्षुः

शेषस्य कर्मरजसः प्रसभं क्षयाय।

आस्फोटयन्नति भरेण निज प्रदेशां

स्वं लोकपूरमकरोः क्रमभृ (जृ) म्भमाणः ॥20॥

पश्चादशेषगुणशीलभरोपपन्नः

शीलेशितां त्वमधिगम्य निरुद्धयोगः।

स्तोकं विवृत्य परिवर्त्त्य झगित्यनादि

संसारपर्ययमभूज्जिनसादिसिद्धः ॥21॥

सम्प्रत्यनन्तसुख दर्शनबोधवीर्य

संभारनिर्भरभृतामृतसारमूर्त्तिः।

अत्यन्तमायततमं गमयन्नुदर्क

मेको भवान् विजयते स्खलित प्रतापः ॥22॥

कालत्रयोपचित विश्वरसातिपान

सौहित्यनित्यमुदिताद्भुतबोधदृष्टिः।

उत्तेजिताचलितवीर्यविशालशक्ति:
शश्वद्भवाननुपमं सुखमेव भुङ्क्ते ।।23 ।।
संक्रामसीवलिखसीवविकर्षसीव
रसीवमिव सीवबलेन विश्वम् ।
उद्दामवीर्यबलगर्वितदृग्विकाश
लीलायितैर्दिशि स्फुटसीव देव ।।24 ।।
देव स्फुटस्त्वयमिमं मम चित्तकोश प्रस्फोटय स्फुटय विश्वभशेषमेव ।
एश प्रभो प्रसभजृम्भित चिद्विकाश, हासैर्भवामि किल सर्वमयोहमेव ।।25 ।।

पाठ-३

प्रस्तुत श्लोक में जिनेन्द्रप्रभु के प्रति अनन्य भक्ति व समर्पण की भावना व्यक्त कर रहे हैं। हे भगवन्! आप तीर्थकर्ता हैं, यह सत्य है। परन्तु इस कार्य की सिद्धि का आपने कौन सा मार्ग स्वीकार किया। वह किस अद्भुत रस से आप्लावित मार्ग है, किस स्वाश्रित स्वरस से अभिषिक्त है। जिसके द्वारा अभिसिंचित हो आपकी जीवन कलिका अनवरत रूप से, निराबाध विकासोन्मुख होती हुई पूर्ण प्रफुल्ल हो गई। हे प्रभो! हम उसी अद्भुत वैभव के पिपासु हैं, इसी तृषा के शमनार्थ चातक पक्षी की भाँति आपके इन्दुसम शीतल चरणों में आये हैं। हमें अन्य कुछ नहीं चाहिए मात्र वह प्रगतिशील बनाने वाले रस की एक मात्र बिन्दु चाहिए। प्रसन्न हो एक दिशा दर्शक किरण का प्रसाद कीजिये। अर्थात् मोह तिमिर नाशक सम्यक्त्व ज्योति का अनुग्रह कर प्रसाद दीजिये ॥ १ ॥

आपने अनादि कालीन मोहरूपी शत्रु की चक्रव्यूहाकार में रचित सेना को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की सहज निजमहिमा में स्थित सुभटों द्वारा क्षणमात्र में परास्त कर दिया। तथा अपने स्वात्मस्वभाव आनन्द भवन में स्थित हुए। हे भगवन्! आपने चारों ओर से वेष्टित सावद्य - पापरूप योगों का परिहार किया तथा स्वयं अपने स्वस्थस्वभाव-निजानुभव में लीन हो गये। अर्थात् परम सामायिक को प्राप्त किया। नियतकाल या सर्वकाल के लिए सम्पूर्ण सावद्य-आत्मस्वरूप से भिन्नभूत क्रिया-कलापों का त्याग कर अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन करना सामायिक है। आपने इस अवस्था को धारण किया। अतः आप परम सामायिक स्वरूप ही हैं ॥ २ ॥

हे भगवन्! आपके समीचीन, निराबाध चला आया सिद्धान्त द्रव्य और भाव का सापेक्ष सम्बन्ध स्वीकार करता है। क्योंकि द्रव्य कर्मों के उदयागत आने पर तदनुरूप भाव होते हैं और भावों के अनुसार यथायोग्य

कर्म रूप पुद्गलद्रव्य का आगमन होता है एवं तत्काल कषायात्मक परिणामों से आगत द्रव्य कर्म आत्मप्रदेशों में नीर-क्षीर न्याय वत स्थिति प्राप्त करते हैं । इस प्रकार द्रव्य और भाव की यह परम्परा अबाध रूप से चलती रहती है । इसी लिए आप के द्वारा प्रणीत आगम में आस्रवादि तत्त्वों को द्रव्य और भावापेक्षा द्विविध बतलाया है । यह द्रव्य स्वभाव अबाध है । क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के द्वारा यह स्वयं सिद्ध व्यवस्था है । परन्तु जो इस सापेक्षता को स्वीकार नहीं करते वे एकान्तपक्ष के पक्षपाती होने से कर्त्तव्य च्युत हो जाते हैं । जो यह मानें कि हमारा आत्मद्रव्य तो शुद्ध-विशुद्ध टंकोत्कीर्ण ज्ञायक है ही उसका पर भाव या द्रव्य क्या बिगाड़ सकता है तो वह स्वच्छन्द होकर पर परिणति में ही लिपटा रहेगा । इसी प्रकार जो एकान्त से भाव की प्रधानता स्वीकारते हैं वे भी निज स्वभाव के प्रति उदासीन हो भटकते हैं । अतः इस प्रकार की 'एकान्ती प्रवृत्ति संयमपथ से भी भ्रष्ट कर अनन्त संसारी बना देगी । अतः हमें अपेक्षायुक्त मार्ग को अपनाना चाहिए । अर्थात् निश्चय व व्यवहार विषय में स्वच्छन्द नहीं होना अपितु दोनों की मैत्री के अनुसार चलना चाहिए । यही आपका मार्ग है ॥ ३ ॥

"इच्छानिरोधस्तपः" इन्द्रियविषयकषायों में प्रवृत्त इच्छाओं का सम्यक् दमन कर तप करे तो उससे अनुभावित हुए राग-द्वेष विकार शान्त हो जाते हैं । उस अवस्था में तुम्हारा अन्तरंग और आभ्यंतर स्वभाव समानरूप से साम्यभाव द्वारा भावित हो जाय समता रस बाह्याभ्यन्तर परिणति एक रूप हो जाय । पहले ये दोनों बाह्य में समान रूप से प्रमाण के प्रमेय बने थे । किन्तु ये दोनों राग-द्वेष अब अन्तर्दृष्टि जाग्रत होने पर दोनों सेवक के रूप में जाने जाते हैं । अभिप्राय यह है कि जब तक राग-द्वेष का बाह्य व्यापार चलता है तभी तक अन्तरंग मलिन होता है और यथार्थता प्रमेय रूप से अवगत नहीं होती । आभ्यन्तर परिणति के जाग्रत होते ही तथ्य समक्ष-प्रत्यक्ष हो जाता है ॥ ४ ॥

यदि यह प्राणी निरन्तर नित्य ही बहिरात्मा बना रहता है । अर्थात् शरीरादि पर वस्तुओं को ही अपना निज स्वभाव मानता है और तदनुसार अपने को सुखी-दुखी, मूर्ख- प्रवीण, रंक-राव आदि समझता है तो तीव्र मोहाविष्ट होने से बुद्धि विहीन हुआ अपने आत्मस्वरूप की भूमिका को प्राप्त नहीं कर सकता । इस दशा में वह देखता हुआ भी मोहतमसाच्छन्न होने से देख नहीं सकता । अभिप्राय यह है स्वयं के पास उपस्थित भी निज रस का आनन्द नहीं ले सकता । परन्तु यही भव्यात्मा यदि चारों ओर से अपने उपयोग को शुद्धोपयोग की सुदृढ़ भूमि में स्थिर कर दे तो निश्चय से अन्तर्मुखी होकर उसी परमात्मा के शुद्ध स्वरूप को ही देखेगा । हे प्रभो आपने स्व पर भेद-विज्ञान का उपाय एक मात्र उपयोग की शुद्धता ही बतलाई है । उपयोग जिस ओर जाता है वह उसी को प्राप्त करता है । ज्ञान-दर्शन का परिणमन ही उपयोग है ॥५॥

साधक जिस समय शुभोपयोग की भूमिका से ऊपर उठकर शुद्धोपयोग रस से परिपूर्ण हुआ अपने लक्ष्य की ओर बद्धकक्षसन्नद्ध होता है, उस समय साक्षात् स्वयं तप रूप हो जाता है । अर्थात् तपः साधना की ओर तत्पर होता है । उत्कृष्ट चारित्रमोह एवं ज्ञानावरणादि के क्षयोपशम विशेष से प्राप्त शक्ति युक्त होता है । कषाय रूप रस गलित होने लगता है । क्षीण कषाय होने से आत्मा एकविशेष आनन्द रस के स्वभाव का अनुभव करता है । अर्थात् क्षायोपशमिक चारित्र की परिपूर्णता होने लगती है । यह सप्तम गुण स्थान की निरतिशय दशा से सातिशय अवस्था को प्राप्त करने के उन्मुख होता है । विकल्प जाल और प्रमाद से रहित दशा प्राप्त करने में सक्षम होता है ॥ ६ ॥

ध्यानारूढ़ दशा में उदयागतकर्मों की उदयावली उदीणारूप ही शीघ्रता से प्रगलति-निर्जरित होने लगती है । असंख्यातगुणी निर्जरा होने लगती

है । मैं तो यह मानता हूँ (आचार्य श्री) कि इस समय आनन्द से उत्साह द्विगुणित हो जाता है और ज्ञान के साथ वीर्यशक्ति विशेष प्रबल हो जाती है । अनेकों बार विषम घोर परीषहों का आक्रमण भी उसे ध्यान से च्युत करने में समर्थ नहीं होता । मोह उद्रेक प्राप्त भी हो तो भी उसका अन्तः करण आकुलित नहीं होता एकाग्रचित हो चैतन्य स्वभाव में स्थिर होने पर बाह्य उद्धत उपसर्ग परीषह लोष्ठ वत् पड़े रहते हैं कुछ भी विकारोत्पन्न नहीं कर सकते । ध्यानाभ्यास करो ।। ७ ।।

निःकाचितकर्म-जिस कर्म की उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण ये चारों ही अवस्था न हो सकें वह निकाचित कर्म कहलाता है इस प्रकार के महाकठोर और निंद्यकर्म को हे आत्मन्! तू ने स्वयं उपार्जित कर उसके तीव्र विपाक (फल) को भोगा है । अब आप ही स्वयं अकेले मेरुवत् धैर्य व बल को वृद्धिंगत करो और चित्त की एकाग्रता से ध्यान को स्थिर बनाओ । इस समय यदि तुम कातर - कायर नहीं हुए तो उत्कृष्ट उपयोग से च्युत नहीं हो सकोगे । अस्तु, प्रगाढ़ रूप से अपने शुद्धोपयोग में अविचलित होकर बाह्य अचेतन गुरु कर्म जनित दुःखों को सह सकोगे । बाह्य क्षणिक घोर दुःखों की उपेक्षा कर अपने निज स्वरूप में अपने को नियुक्त करो ।। ८ ।।

उत्कृष्ट संयम के भार को वहन करने में खिन्न नहीं होना । यह संयम पंचमहाव्रत पाँच समिति, चारों कषाय, और मन, वचन, काय इन दण्डों का क्रमशः धारण, पालन, निग्रह और त्याग से सिद्ध होता है । तुम स्वयं अकेले ही दुर्जय कषाय शत्रुओं को जीतने में समर्थ हो । आप सदैव अपने ज्ञानरूपी शस्त्र को तीक्ष्ण-तेज करते जाओ । श्रुतज्ञान रूपी छेनी से अशेष विषय-कषायों को छिन्न-भिन्न करो । भेद विज्ञान ही आत्मा और कर्म की सन्धि का भेदन कर निज स्वभाव को पृथक् कर सकता है । अतः निरन्तर श्रुत भावना का चिन्तन करो । यही एक मुक्ति का पथ है ।। ९ ।।

अभीक्ष्ण श्रुतज्ञान की अवच्छिन्न ज्ञानशक्ति के द्वारा शुद्ध द्रव्य और अनन्त पर्यायों में स्थित, तीक्ष्ण तेजोमय इस परमात्मरूप मूर्ति की तर्कणा करो ! अर्थात् निर्मल सम्यज्ञान की कषौटी से ही निज देहस्थ आत्मा की पहिचान करो । तब तक कि यह क्षायोपशमिक ज्ञान आक्रमण कर तुम्हें अपवाद भूमि में न गिरादे उसके पूर्व ही शुद्ध, सुन्दर, निश्चल क्षायिकज्ञान का तुम अनुभव करो । अर्थात् खण्डरूप ज्ञान में अटक कर नहीं रह जाना, भो आत्मन्! तू अक्षय अखण्ड, चिरन्तन ज्ञानमय है यह समझ और उसी की प्राप्ति के लिए सतत उद्यमशील हो ॥ १० ॥

भो आत्मदेव! आप अपने को उग्रोग्र तपश्चरणरूपी अग्नि से निरन्तर तपाओ । चतुर्दिशाओं मे तपाग्नि से तपकर ही आत्मा और कर्मों-द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म के अनादिकाल से मिले रूप को भिन्न-भिन्न करने में समर्थ हो सकोगे । कर्म जाल के ताना-बाना को विश्लिष्टकर सकोगे । इस प्रकार द्वादशविध तपों के माध्यम से तुम क्रम से परमोत्कृष्ट कुशलता प्राप्त हो जाओ । ज्ञान और कर्मकाण्डक्रिया - ज्ञान क्रिया और अन्य नय क्रिया के भेद को अवगत करने वाले परम विवेक - भेदज्ञान को प्राप्त कर उसके फलानुभव में निपुण हो जाओगे ॥ ११ ॥

अप्रमत्त-सातवें गुणस्थान के सातिशय भेद को प्राप्त कर भव्यात्मा श्रेणी आरोहण करता है । यह श्रेणी-उपशम या क्षायिक दोनों में से कोई एक प्रारम्भ करता है । इस अवस्था में वह अधः प्रवृत्तकरण करता है । करण का अर्थ परिणाम हैं । अधः करण रूप परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं और इनका काल अन्त मुहूर्त मात्र होता है । इन परिणामों से प्रति-समय अनन्तगुणी विशुद्धता होती जाती है जिसके बल से कर्मों का उपशम, क्षय, स्थितिखण्डन और अनुभाग खण्डन रूप कार्य होते हैं । भो आत्मन्! तुम इस श्रेणी आरोहण की स्थिति को प्राप्त करो, परिणामों की विशेष विशुद्धि को वृद्धिंगत करो । अपने उत्तम संहनन और आत्मशक्ति-वीर्य

की प्रबलता से उद्भट मोहशत्रु को चारों ओर से परास्त करो । इतना निर्बल हो जाय कि पुनः आक्रमण ही न कर सके । अर्थात् आमूल नाश करने का प्रयास करो जिससे यह मोहरिपु असहाय हो भाग निकले यहाँ से अपूर्वकरण परिणामों को प्राप्त करता है ॥ १२ ॥

अधः प्रवृत्त परिणामों के द्वारा गुणश्रेणी निर्जरा, गुण संक्रमण, स्थिति खण्डन और अनुभाग खण्डन पूर्व बद्ध कर्मों के विषय में हुआ करते हैं । इसके अनन्तर अपूर्वकरण रूप परिणामों से उपशम श्रेणी चढ़ने वाले के मोहनीय का उपशम और क्षपक श्रेणी आरोहक के मोह का क्षय होता है । ये परिणाम पूर्व परिणामों से अनन्तगुणे रूप से परिणमित होते हैं । हे देव ये परिणाम विशिष्टरूप से अनवरत वीर्य शक्ति को उत्तेजित करते हैं । तथा आरोहक अपनी वीर्यशक्ति के सार से परमोत्तम क्षपण करण करने में समर्थ भूत क्षपणोपयोग को प्राप्त कर लेता है ॥ १३ ॥

कर्मों की बादरकृष्टि व सूक्ष्मकृष्टि होती है । इससे आभ्यन्तर आध्यात्म्य क्षेत्र में सहज स्वाभाविक चेतना-ज्ञान चेतना का प्रकाश होने लगता हैं । यत्र-तत्र तो प्रकट स्वानुभवरूप ज्योति दृष्टिगत होने लगती है । अर्थात् आत्मानुभूति उद्बुद्ध होती है ॥ १४ ॥

सूक्ष्मकृष्टि द्वारा सम्यक् प्रकारेण क्षीण होने पर शेष सूक्ष्मलोभ भी अपनी सच्चिक्कनता को त्यागता हुआ अकिंचित्कर हो जाता है । अर्थात् सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान को प्राप्त कर सूक्ष्मसाम्पराय संयम के आलम्बन से किंचिन् मात्र सूक्ष्म कषाय भाव को प्राप्त होता है । जिस प्रकार धोते-धोते कुसुमीवस्त्र में लालिमा अति सूक्ष्म रह जाती है उसी प्रकार यहाँ पर जीव सूक्ष्म राग-लोभ कषाय से युक्त होता है । लघु अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर क्षण में उसे भी नष्ट कर कषायबन्ध से सर्वथा रहित हो जाता है । पुनः क्या करता है, अग्रिम श्लोक देखें ॥ १५ ॥

सम्पूर्ण कषाय के भारी बोझ-भार को उगल कर अब अनन्त गुणी विशुद्धि का आश्रय लेता हैं । इस परिणाम विशुद्धि से असंख्यात शुभ संयमलब्धि स्थान को प्राप्त करता है । सूक्ष्मसाम्पराय में प्राप्त जीव यथाख्यात चारित्र से कुछ ही न्यून रहता है । इस प्रकार गुणस्थान रूपी सोपान-सीढ़ियों से उपरि-उपरि आरोहण करते हुए तुम आत्मविकास के अन्तिम शिखर को प्राप्त कर एक शिखामणि स्वरूप अवस्था पर पहुँचो । श्री जिनेन्द्रप्रणीत मार्ग का यही क्रम है ॥ १६ ॥

अविरति, प्रमाद एवं कषायादि सम्पूर्ण पर भावों का अभाव कर सूक्ष्मसाम्पराय दशा को भी पार कर यथाख्यात संयम को प्राप्त होता है । यहाँ एकत्ववितर्क ध्यान में स्थित होता है । शुक्लध्यान के चार भेद हैं । प्रथम पृथक्त्ववितर्क ध्यान त्रियोग युक्त होता है । एकत्ववितर्क द्वितीयध्यान किसी एक योग के आश्रय से सवितर्क और अवीचार होता है । श्रुत को वितर्क कहते हैं । अर्थ, व्यञ्जन, योग के संक्रमण-पलटने को वीचार कहते हैं । अर्थ से अर्थान्तर, शब्द से शब्दान्तर, योग से योगान्तर परिवर्तन-संचार या संक्रमण होने से होने वाली विविधता को भी त्याग कर तुम अब एकाग्रचित्त होकर असंक्रमण अवस्था प्राप्त करो । इस प्रकार एक विषय में एकाग्रचित्त स्थित होते ही ग्रन्थावस्था से निकल पूर्ण निग्रन्थावस्था को प्राप्त कर अनन्त आत्मतेज स्फुरायमान होगा । अपने आत्मवीर्य को उत्तेजित करने में तत्पर हो ॥ १७ ॥

उद्यमशील क्षपक इस प्रकार प्रत्यक्ष असंख्यात गुणी निर्जरा के आश्रय से अन्त में अर्थात् क्षीणकषाय-बारहवें गुणस्थान में चारों घातिया कर्मों के

समूह को अशेष नष्ट कर-क्षपण कर अपनी सम्पूर्ण आत्मकला कलाप को उन्मीलित-प्रकट करता हुआ अनन्तगुणी शुद्धि से विशुद्ध हो परम परमात्म तत्त्व को निर्मल कर देता है। इसी क्रम से आपने अपने घातिया कर्मों का संहार किया है ॥ १८ ॥

इस प्रकार उपायों से शान्त अनन्ततेज को उत्तेजित किया। अपने स्वाभाविक वीर्यगुण के उदय के द्वारा अन्तः तेज प्रकटित हुआ। इस भाँति जिसका अन्तः करण अनन्त ज्ञानकिरणों से प्रकाशित हो अनन्त रूप को प्रकट किया। अब संकीर्ण अवस्था विस्तार को प्राप्त हो, विश्व को अपने में समाहित कर लिया। अभिप्राय यह है कि घातिया कर्मों के क्षय होने परसकलज्ञ अवस्था प्राप्त हुयी। अनन्त केवल ज्ञानरूपी रवि के उदय होने से सम्पूर्ण तीनों लोकों के पदार्थ अपनी अनन्त पर्यायों सहित युगपत झलकने लगे। मानों तीनों लोक संकुचित हो यहाँ एक साथ प्रतिबिम्बित हो उठे ॥ १९ ॥

घातियाकर्मों के नाश होने पर केवली-सर्वज्ञ भगवान के मात्र योग रह जाते हैं- सत्यमनोयोग, अनुभयमनोयोग, सत्यवचनयोग व अनुभय वचन योग, औदारिक काय योग और औदारिक मिश्र तथा कर्माण काय योग ये सात योग आगम में बताये हैं। इन योगों के भी नाश का उपाय करता है। योग के फल के जीतने का इच्छुक शेष बचे अघातिया कर्मों की धूलि को भी क्षपित करता है। आयु कर्म की स्थिति जिस समय, वेदनीय, नाम व गोत्र की स्थिति से कम रह जाती है तो केवली जिन अपने सहज स्वभाव से उन प्रदेशों को नष्ट कर आयुकर्म के समान करने के लिए समुद्घात करते हैं। मूलशरीर का त्याग किये बिना आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना-प्रसरित

होना समुद्घात कहलाता है । केवली जिन जिस समय लोकपूरण समुद्घात करते हैं तो आत्मप्रदेश तीनों लोकों में विस्तृत हो जाते हैं । इस प्रक्रिया से तीनों अघातिया कर्मों के प्रदेश बिखर जाते हैं और आयुकर्म के समान स्थिति वाले हो जाते हैं ॥ २० ॥

तत्पश्चात् सम्पूर्ण चौरासीलाख उत्तरगुणों और अठारह हजार १८००० शीलों से सम्पन्न हो जाता है । इस प्रकार गुण व शीलों का अधिपति होकर योग निरोध करता है । कुछ ही समय में अर्थात् अ इ उ ए ओ इन पंच लघु अक्षरों के उच्चारण काल में संसार पर्यायका परिवर्तन कर -अभावकर शीघ्र ही सादिसिद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाता है । सादिसिद्ध जिन कहलाता है ॥ २१ ॥

इस स्थिति में अब अनन्त सुख, अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्तवीर्य-अनन्तचतुष्टयरूप भार से परिपूर्ण भरित होकर चिदानन्दामृत केसार की साक्षात् प्रतिमा हो जाता है । तब एकत्व विभक्त शुद्धरूप प्राप्त कर, अत्यन्त लाघव गुणी हो नियन्त्रित और सीमित, ऊर्ध्वगति से एक ही समय में सीधा गमन कर आप अविचल स्थिर प्रतापी हो एकाकी विजय प्राप्त करते हो । अपार महिमा है परमात्म स्वरूप की । इस प्रकार यह आत्माराम स्वयं अपनी ही उद्दाम पुरुषार्थ से सर्वतंत्र स्वतंत्र अपने परमात्म साम्राज्य को विजयकर स्वाधीन हो जाता है ॥ २२ ॥

त्रिकाल में संचित पूर्ण रसभरित आनन्दरस का पान करते हुए सर्वहितकारी मित्रवत् सतत उदीयमान, अद्भुत ज्ञान और दर्शन का उपभोग करते रहोगे । अनन्त और अविचल सुखानुभव के लिए वीर्य शक्ति भी अनन्त

होना अनिवार्य है। अतः आप परमपरमेश्वर हो अनन्त कल्पकालपर्यन्त सुख के उपभोक्ता हो चिर सुखी रहोगे ।। २३ ।।

उपर्युक्त शुद्ध सिद्धावस्था अब परिणमित नहीं होगी, इसलिए असंक्रमित के समान है। मानों वज्रसूची द्वारा उत्कीर्ण के सदृश है। पूर्ण विकर्षित के समान है अर्थात् अन्तिम निकषा पर खरी हुयी के समान है, अपने ही स्वरस में निमग्न इव स्थिर- शान्त है। अपने विश्वव्यापी ज्ञान स्वभाव से मानों अशेष विश्व को पी लिया है। उद्दाम-प्रचण्डवीर्य के बल से गर्वित अनन्त दर्शन के विकास से मानों लीलारूप हो रहा है अर्थात् संसार के नाना चित्र-विचित्र पर्यायों से परिणत पदार्थ आत्मस्वभाव की परम निर्मल आदर्शसमान रूप में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है विविध दिशाओं में नाना प्रकार के गुण-पर्यायों से परिणमित होते पदार्थ हे देव! मानों इस स्वच्छता को अपना क्रीड़ास्थल ही बनालिए हैं ।। २४ ।।

हे देव! भो परमात्मन्! मैं भी स्वयं अपने चित्तकोश को स्पष्ट करूँ मेरी इस प्रकार की शक्ति द्वारा मैं सम्पूर्ण जगत का ज्ञाता हो जाऊँ ऐसा विकास प्रदान करिये। हे प्रभो! मेरा यह चिद् चमत्कार-चैतन्य स्वभाव विस्तार को प्राप्त हो। अपने उल्लास-हास द्वारा निश्चय से मैं सर्वव्यापी हो जाऊँ। अभिप्राय यह है कि मैं, अपने को अपनी ही ज्ञानशक्ति द्वारा, अपने में पूर्ण चिद् रस भरित अवस्था प्राप्त करूँ। जैन दर्शन में परमात्मा को सर्वमय ज्ञानापेक्षा से स्वीकार किया है। परमात्मा का अंशरूप सर्व आत्माएँ हैं इसलिए वह सर्वव्यापी है ऐसा स्वीकार नहीं करता है। अपितु प्रत्येक भव्यात्मा परमात्मा बनने योग्य है।

●

पाठ-४

हे जितेन्द्र! आपके दर्पण समान निर्मल स्वच्छ ज्ञान में लोकालोक प्रति भासित हो रहा है । सदैव उदीयमान अनन्त चतुष्टयरूप आत्मवैभव का तेज-प्रकाशित हो रहा है । आप अपने ही निजानन्दरूप आत्मस्वभाव महिमा से दैदीप्यमान हैं । अत्यन्त विशुद्ध-द्रव्य, भाव, नोकर्म रहित चैतन्यभाव से भरित ज्ञाता-दृष्टामय शोभायमान हैं । अतः हे चिद् चैतन्य स्वभावी परम वीतरागप्रभो आपको नमस्कार है । स्वयं चिदानन्द चैतन्य स्वभाव प्राप्ति के अभिलाषी आचार्य परमेष्ठी मुनिकुञ्जर, समाधिसम्राट श्री १०८ आदि सागर जी अंकलीकर के पट्टाचार्य चारित्र चक्रवर्ती १८ भाषाभाषी तत्त्वज्ञ विशारद श्री १०८ आ. महावीरकीर्ति जी ने इस श्लोक में मंगलाचरण रूप में ज्ञानशरीरी परमात्मा को नमस्कार किया है ॥ १ ॥

हे भगवन् ! आपने अनादि संसार धाम को नष्ट किया और अभूतपूर्व नवीन मुक्तिधाम को वहन कर रहे हैं । आपमें यही वर्तमान शान्त छवि में आनन्द प्रवाह दृष्टिगत हो रहा है । ऐसा प्रतीत हो रहा है । मानों चैतन्य चमत्कार रूप अंगहार द्वारा आपके मुखारविन्द से महा तृप्तिकारक रस ही प्रकट हो रहा है । यही नहीं इस प्रस्फुरित आनन्द रस सीकरों से अभिषिक्त हो मानो मैं भी स्वयं तद्रूप हो आनन्द नृत्य कर रहा हूँ । दर्शक जिस भाव से प्रभु छवि को निहारता है वह अनन्यभक्ति द्वारा स्वयं को भी तन्मय अनुभव करता है । यही भाव इस श्लोक में झलकता है ॥ २ ॥

यह स्वात्मोपलब्धि रूप विशाल तेज का उदय होना अत्यन्त दुर्लभ है । अति कठिन है । परन्तु परम तत्त्वज्ञों के द्वारा पररूप नश्वर संसार वैभव का वैराग्यभावना से उत्तरोत्तर निरन्तर परित्याग किया गया । फलतः

अध्याय 4

सदोदितानन्तविभुतिनेजसे स्वरूपगुप्तात्म महिम्नि दीप्यते।
विशुद्ध दृग्बोधमयैकाचिद्धृते नमोऽस्तु तुभ्यं जिनविश्वभासिने ॥1 ॥
अनादिनष्टं नव धाम यद्बहिस्नदद्य दृष्टं त्वयि संप्रसीदति।
अनेन नृत्याम्यहमेष हर्षताश्चिदङ्ग हारिःस्फुटयन् महारसम् ॥2 ॥
इदं नवो देति दुरासदं महः प्रकाशय द्विश्वाविसारि वैभवम्।
उदञ्च्यमानं सरलीकृता स्त्वतत्त्वभावभावै र्निजतत्त्ववेदिभिः ॥3 ॥
इमाः स्वतत्त्व प्रतिबद्ध संहताः समुन्मिषन्त्यश्चितिशक्तयः स्फुटाः।
स्वयं त्वयानन्त्यमुपेत्य धारिता न कस्य विश्वे स दिशन्ति विस्मयम् ॥4 ॥
स्ववैभव्य नभिज्ञतेजसो य एव नु सः प्रतिभाससे पशोः।
स एव विज्ञानधनस्य कस्यचित् प्रकाशमेकोऽपि वहस्यनन्तताम ॥5 ॥
वहन्त्यनन्तत्वममीतवान्वया अमी अनन्ता व्यतिरेककेलयः।
त्वमेकवित्पूरचमत्कृतैः स्फुरंस्तथाऽपि देवैक इवावभाससे ॥6 ॥
आसीमसंवर्द्धितबोधवल्लरी पिनद्ध विश्वस्य नवोल्लसन्त्यमी।
प्रकाभमन्तर्मुखक्लृप्त पल्लवाः स्वभावभावोच्छलनैककेलयः ॥7 ॥
अमन्दबोधानिलकेलि दोलितं समूल मुन्मूलयतोऽखिलं जगत्।
नवेदमूर्जा स्वतमात्मखेलितं निकाममन्दोलयतीव मे मनः ॥8 ॥
अगाधधीरोद्धतदुर्द्धरं भरान तरङ्गयन् वल्गसि बोधरात्नरम्।
यदेक कल्लोल महाप्लवप्लुतं त्रिकालमाला पिंतमीक्ष्यते जगत् ॥9 ॥

विशिष्टवस्तुत्व विविक्तसम्पदो मिथः स्खलनतोऽपि परान्मसीमनि।
अमी पदार्थाः प्रविशन्ति धाम ते चिदभिनीराजनपावनीकृताः ॥10॥
परस्परं संवलिते न दीप्यता समुन्मिषन्भूति भरेण भूयसा।
त्वमेक धर्मावहिता चले पोरनेकधर्मा कथमिष्यसेऽक्षयः ॥11॥
अनन्तभावावलिका स्वतोऽन्यतः समस्तवस्तु स्वियमभ्युदीयते।
जडात्मनस्तत्र न जातु वेदना भवान् पुनस्तां विचिनोति कार्त्स्न्यतः ॥12॥
नते विभन्ति भिन्नधाति भूयसी मिथो भिन्नताऽप्यवदतांहृति।
सुसंहितद्रव्य महिम्नि पुष्कले महोर्मिभालेव निलीयते मुधौ ॥13॥
विभो विधान प्रतिषेधनिर्मितां स्वभावसीमानमसूम लङ्घयन्।
त्वमेवमेको यमशुक्लशुक्लवन्न जात्वपि द्वयात्मकतामपोहसि ॥14॥
भवत्सु भावेषु विभाव्यतेऽस्तिता तथा भवत्सु प्रतिभाति वास्ति तम्।
त्वमस्ति नास्तित्व समुच्चयेन नः प्रकाशमानो न तनोषि विस्मयम् ॥15॥
उपैषि भावं त्वमिहात्मना भवन्नभावना यासि परमात्मना भवत्।
अभावभावोपचितोऽयमस्ति ते स्वभाव एव प्रतिपत्तिदारुणः ॥16॥
सदैव एवायमनेकएवा त्वमप्यगच्छन्नवधारणामिति।
अबाधितं धारयसि स्वमञ्जसा विचारणार्हा न हि वस्तुवृतयः ॥17॥
त्वमेकनित्यत्वनिखातचेतसा क्षणक्षय क्षोभितचक्षुषाऽपि च।
न विक्ष्यसे संकलितक्रमाक्रम प्रवृत्तभावो भयभारिविभवः ॥18॥
अपेलव केवलबोधसम्पदा सदोदितज्योतिरजय्यविक्रमः।
असौ स्वनत्वप्रतिपत्यवस्थिनस्त्वमेकसाक्षी क्षणभङ्गसङ्गिनाम् ॥19॥
प्रकाशयन्नप्यनिशायि धार्माभर्जगन् समग्रं निज विज्जुलन्कृतैः।
विविच्यमानः प्रतिभासने भवान् प्रभो परस्पर्शपराङ्मुखः सदा ॥20॥

परात् पुरावृत्त चिदात्मनोऽपि ने स्पृशन्ति भावा महिमानमद्भुतम्।
न तावना दुष्यति तावकी चितिर्यतश्चितिर्या चितिरेव सा सदा ॥21 ॥
अमी वहन्तो बहिरर्थरूपतां वहन्ति भावास्त्वयि बोधरूपता।
अनन्तविज्ञानघनस्ततो भवान्न मुह्यति द्वेष्टि रज्यते च न ॥22 ॥
यदेव बाह्यार्थघनाव घट्टनं नवेदमुत्तेजनमीश तेजसः।
निःपीडन निर्भर स्फुटन्निजैकचित्कुड्मलहासंसालिनः ॥23 ॥
प्रमेयवैसद्यमुदेति यद्बहिः प्रमातृ वैसद्यमिदं तदन्तरे।
तथापि बाह्यवरतैर्न दृश्यते स्फुटः पकाशो जिनदेव ता व कः ॥24 ॥
तथा सदोन्नते जिनवीर्यसम्पदा प्रपञ्चयन् वैभवमस्ति नावकम्।
यथा विचित्राः परिकर्म कौशलान् प्रपद्यसे स्यादपरम्पराः स्वयम् ॥25 ॥
॥4 ॥छ ॥

वह दुस्साध्य निजभावोपलब्धि अति सरल बना दी गई । इसी नवीन आत्म ज्योति आपमें प्रकाशित हो रही है । अतः पर भावों विभावों का परिहार करते-करते स्वभाव-भाव सहज ही उदीयमान हो जाते हैं । हे भगवन्! ऐसा ही अचिन्त्य महा आत्म तेज मेरा भी प्रकाशित करो यही प्रार्थना है ।। ३ ।।

हे भगवन् ! आपके द्वारा स्वयं ही अपने आत्मतत्त्व में समाहित अनन्त गुणपर्यायों से सम्पन्न अनन्त शक्तियाँ स्पष्ट प्रकट कर ली गई हैं । अनन्तगुणों का समूह आपने अपने ही द्वारा प्राप्त कर धारण किया है । संसार में यह अचिन्त्य चिद्शक्ति का प्रकाशमान स्वरूप किसे आश्चर्यान्वित नहीं करता ? करता ही है । परन्तु सदृष्टि तत्त्वज्ञाता आपको आदर्शस्वरूप मान स्वयं की शक्तियों को प्रकट करने का साधन बनाते हैं । अभिप्राय यह है कि आत्मा अनन्तधर्मों का पुञ्ज है । सामान्यजन उनका बोध प्राप्त नहीं कर सकते । आपने अपने ज्ञान-वैराग्यरूप वीतरागभाव से उन्हें पहिचाना और स्पष्टरूप में प्रकट किया । अतः आप ही परमात्मा हैं ।। ४ ।।

जो जीव अपने निज स्वभाव के तेज से अनभिज्ञ है, वह निश्चय से धूलिसात हुआ-मलिन रूप में प्रतिभासित होता है । कारण अपने ही द्वारा उपार्जित कर्मरज से स्वयं को आच्छादित किया है । वही किसी विज्ञान धन को प्रकाशित करता है तो अनन्त चिद् शक्तियों के प्रकाशन से अनन्तनाम प्राप्त करता है तो अर्थात् जो मिथ्यात्व तिमिर से अपने को आच्छादित करता है वह कर्मरज का भार ढोता है दुःखी होता है । परन्तु जो तत्त्ववित् अपने ज्ञान को सम्यग्दर्शन ज्योति से द्योतित करता है, वह अनन्तगुण गण मण्डित हो अनन्त नामों से स्तुत्य हो जाता है । स्वयं अकेला ही आनन्त्य वैभव का वहन करता है ।। ५ ।।

सामान्य विशेष धर्मों से समन्वित आत्मतत्त्व एकत्व और अनेकत्व रूप उभय धर्म से सम्पन्न है, ऐसा आपने प्रतिपादित किया है क्यों कि अभेददृष्टि से आपने, विविध व्यतिरेक रूप अनन्त पर्यायों में क्रीड़ा करते हुए भी एक रूप अखण्डता को लिए ज्ञात किया। अतः आत्मा अनन्तगुणमणि मण्डित भी अखण्ड एक चिन्मय है! आप उस एकत्व के ज्ञाता-सम्यक्‌ज्योति द्वारा अनेक शक्तियों को प्रकाशित प्रकट-दर्शाते हुए भी, हे देव एकपने से ही प्रतिविम्बित होते हैं। अर्थात् अगुरुलघु गुण के निमित्त से षड्‌गुणी हानि-वृद्धियों से अनेकरूपता को प्राप्त अपने एक चिन्मात्र स्वभाव में ही स्थित हुए प्रतिभासित होते हो ॥ ६ ॥

हे भगवन्! आपकी सम्यग्ज्ञानरूपी लता अशेष लोकालोक को व्याप्त कर असीमता को प्राप्त हो गई है। यह अद्‌भुत नवोल्लास से लहरा रही है– शोभ रही है। यही नहीं अपने अन्तर्मुखी आनन्द पल्लवों से क्लृप्त-एकरूपता को प्राप्त हो, निज स्वभाव भावों से उल्लसित होती हुयी एकरूप किलोलों में लीन हो गयी है। अर्थात् सर्व को जानती-देखती हुयी भी उनसे अलिप्त अपने एकीभाव में लीन है ॥ ७ ॥

अनस्त रहने वाले ज्ञानरूपी पवन से दोलायमान क्रीड़ा से आपने संसार पर विजय प्राप्त की है। झंझावायु समान सम्पूर्ण संसार वृक्ष को आमूल चूल उखाड़फेंका है। अतः जगज्जयी हुए हो। अब यह नवीन उदित ऊर्जा अपने आत्म स्वभाव में क्रीड़ारत है। यह अकारण ही हे प्रभो! मेरे मन को आन्दोलित सी कर रही है। अभिप्राय यह है कि भगवान की स्वभावोद्‌भूत आत्मशक्ति का चिन्तन करने से चिन्तक-भक्त की भावना भी अपने विकास को आतुर हो उठती है। आत्मदृष्टि जाग्रत हो जाती है ॥ ८ ॥

निष्क्रिय टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव से एकरूप ज्ञान अगाध-गंभीर असीम धैर्य सम्पन्न, अत्यन्त दुधर्ष आनन्दभार से भरित अन्तरङ्ग गरजरहा

है। तथा चहुँओर ज्ञान रस ही छिटक रहा है। जो एक ज्ञानसिन्धु की सुधारस तरंगों से अपने ही स्वभाव में मग्न हुआ तरंगित हो रहा है। उसमें तीनों लोक ऐसा प्रतीत हो रहा है मानों तीन कालवर्ती सम्पूर्ण पदार्थों की उनकी अनन्त पर्यायों से निर्मित माला को समर्पित कर रहा है। अर्थात् सारा जगत् एकरूपता से प्रतिबिम्बित हो रहा है। हे प्रभो आपके इस रूप की महिमा अति अगम है। यही अवस्था मेरी भी हो। इस प्रकार से अविच्छिन्न ध्यान करने से स्वयं तदाकार प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

जीवात्मा और कार्माण पुद्गल वर्गणाओं का अनादिकालीन मिश्रण चला आ रहा है। यह सम्बन्ध आपमें स्खलित हुआ है। अतः परात्म दशा की सीमा से पृथक् होता हुआ भी भिन्नएकत्व प्राप्त वस्तुतत्त्व विशेष सम्पदा प्राप्त करता है। वह पर रूपता निकल गई। अब आपकी निजात्म पदार्थ शक्तियाँ प्रवेश पा रही हैं। इन्होंने आपके चैतन्य धाम में प्रविष्ट हो चिन्मय चेतना की परम पावन अवस्था बना दी। अब यहाँ मात्र ज्ञानशरीरी शुद्धात्मा है। निरञ्जन निर्विकार आपका अविनश्वर अमित रूप मात्र प्रकट है। अर्थात् भगवन्! आपका परम पावन रूप प्रत्यक्ष हो रहा है ॥ १० ॥

प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने निज स्वभाव में ही शोभा पाता है। परस्पर कोई भी दो पदार्थों का मिश्रण होने पर मलिनदशा उत्पन्न होती है अर्थात् तीसरा ही रूप प्रकट होता है। यथा हल्दी और चूना मिश्रित हो अपनी-अपनी पीतमा व सफेदी त्याग तीसरा ही लालवर्ण धारण करते हुए अशोभन-अशुद्ध हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न हुए शोभा पाते हैं। इसी प्रकार आत्मा और कर्म-राग-द्वेष-कषायादि से मलिन आत्मा दीपित नहीं होती। भिन्न-भिन्न हो अपने-अपने स्वभाव में निज वैभव से भरित हो चमत्कृत होती है। हे प्रभो! इसीसे आप अपने पुरुषार्थ से समस्त अप्रयोजनीय परभावों का अभाव कर एक स्वधर्म से सम्पन्न हो। इस स्वाधीन अवस्था में अनेक

चंचल विभाव किस प्रकार आ सकते हैं ? क्या वे अनेक धर्मात्मक एक स्वभाव की अविचल दशा को देखने में भी सक्षम हैं क्या ? नहीं । अभिप्राय यह है कि भगवन्! एक बार अपनी स्वसंवित्ति से स्वात्मा स्वाधीन हो जाय तो पुनः कोई भी शक्ति उसे संचलित नहीं कर सकती ।।११।।

अनन्त संकल्प-विकल्प जाल स्वभाव से ही बनते-बिगड़ते रहते हैं और पर निमित्तों की अपेक्षा भी आते-जाते हैं । यद्यपि समस्त वस्तुएँ अपने-अपने वैभव से अभ्युदय-उत्थान को प्राप्त होती रहती हैं । कितने ही विभाव क्यों न मिले परन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप कभी भी परिणमित नहीं होता । हे भगवन् ! इस रहस्य सम्पदा को बुद्धि अज्ञानी-मिथ्या दृष्टि कभी भी नहीं ज्ञात कर सकता । वह तो परभावों को ही स्वभाव मान भटकता रहता है । परन्तु, आप उन विपरीत स्वभावी विभावों को सम्यक् प्रकार कर लिए हैं । इसीसे उस बिभाव आवलि का मालिका के कण-कण को चुन-चुनकर पूर्णतः वहिर्भूत कर दिया । अतः स्वयं अपने अभ्युदय से दीपित हो रहे हैं ।।१२।।

हे भगवन्! आप वस्तु तत्त्व को एकभी कहते हैं और अनेक भी आपने भिन्न और अभिन्न रूप उभय धर्म एक ही समय में आत्मतत्त्व में उपदिष्ट किये हैं । यह विरोधाभास स्पष्ट लगता है परन्तु आपके सिद्धान्तानुसार यह कथन सर्वथा अविरोधी ही सिद्ध होता है । यथा आपका शुद्धात्मा पर भावों को धारण नहीं करता, उनसे वियुक्त हुआ है अतः भिन्न है और अपनी अनन्तशक्तियों से सम्पन्न है उनसे कभी भी च्युत नहीं होगा इसलिए अविभक्त-मिथरूप है । इस प्रकार विरोधों का अविरोध रूप से एक वस्तु में एक साथ प्राप्त होना ही द्रव्य की महिमा है । ऐसे महातेज में महानन्द स्वभाव की पुष्ट लहरें माला के समान लीन हुई शोभायमान होती हैं । आर्थिक और परमार्थिक नयों द्वारा विवक्षित और अविवक्षित धर्मो की अपेक्षा वस्तु

अनेकात्मक रूप से शोभित होती है । हे प्रभो आपका सिद्धान्त सर्वथा अबाधित है ।।१३।।

हे प्रभो आपका सिद्धान्त विधि और निबन्ध स्वभाव का कभी भी उल्लंघन नहीं करता क्योंकि पदार्थ का स्वभाव ही विधि-प्रतिषेध रूप है । स्वभाव स्वभावी से कभी च्युत होता नहीं है । समान्य विशेषात्मक वस्तु का लक्षण है । स्वभाव या धर्म अपनी सीमा का उल्लघन नहीं कर सकता । अभिप्राय यह है कि वस्तु स्व चतुष्टय-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षा विधिरूप-अस्तिरूप है । तथा पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव की अपेक्षा से निषेध-प्रतिषेध रूप हैं । ये दोनों ही धर्म एक कालावनिच्छन्न रहकर ही वस्तु के अस्तित्व को रक्षित रखते हैं । हे भगवन् ! आप ही एक मात्र हैं जो कृष्ण व शुक्ल के समान कभी भी वस्तु की द्विविधता को निषिद्ध नहीं करते । अर्थात् अमुक कृष्णपक्ष है, तो यह स्वयं सिद्ध हो जाता है शुक्ल पक्ष नहीं है । यह शुक्ल है कथन करते है कृष्ण नहीं है यह अनायास ध्वनित हो जाता है । इसी प्रकार 'शुद्धात्मा हैं उच्चारण करने पर अशुद्धता का इसमें निषेध स्वयं सिद्ध हो जाता है अतः आपका विधि-निषेधात्मक वस्तु स्वभाव अकाट्य, अविरोधी और त्रिकाल सत्य रूप है । निः सन्देह आपके सिवाय अन्य एकान्तवादियों के तत्त्व व्यवस्था है ही नहीं ।। १४ ।।

पदार्थों में भवनस्वभाव अर्थात् परिणमन स्वभाव उनके अस्तित्व का द्योतन करता है । इसी प्रकार भवन क्रिया ही अस्तित्व धर्म का प्रकाशन करती है । एकान्त नित्य सिद्धान्त में क्रियोत्पत्ति का अभाव होने से वस्तु का ही अभाव सिद्ध होता है । अर्थात् एकान्त क्षणिक व कूटस्थनित्य पने में पदार्थ की स्थिति नहीं बनती । अतः हे भगवन् ! आपने अस्ति और नास्ति दोनों धर्मों के समुदाय रूप से वस्तु तत्त्व निरूपण कर हमें यथार्थ मार्ग दर्शन कर वस्तु स्वरूप प्रकाशित किया है । यह विरोध सादृष्टिगत होता हुआ भी विस्मयोत्पादक नहीं है । अपितु पदार्थ की समीचीनता प्रकट करता है ।

वस्तुतः आपने आपेक्षिक दृष्टि से एक ही पदार्थ में एक साथ नास्तित्व और अस्तित्व धर्म की युगपत् सत्ता सिद्ध की है । पर चतुष्टय अपेक्षा नास्तिपना और स्व चतुष्टयापेक्षया अस्तित्व पना स्वयं वस्तु द्योतित करती है । आपके ज्ञान की स्वच्छता में वस्तु स्वरूप जैसा झलका वैसा ही निर्दिष्ट किया है ॥१५॥

हे भगवन् आत्मतत्त्व में भवन (परिणमन) एवं अभवन् (स्व स्वभाव अच्युति) स्वभाव के माध्यम से आपने अपने निज स्वभाव को प्रकट प्राप्त किया है । इसीसे निज परिणति से परिणत हो परमात्मत्व को प्राप्त किया है । अभाव और सद्भाव का उपचय-समन्वय रूप ही यह आपका स्वभाव है । विभाव रूप रागादि परिणतियों का अभाव और ज्ञानादि गुणों की संहति प्रप्ति ही तो आपका निज स्वभाव है । इस रहस्य का सही परिज्ञान होना अति कठिन है । परन्तु आपने अपने पुरुषार्थ का सम्यक् प्रयोग कर उसे अपनी ही पूर्णज्ञान शक्ति द्वारा अवगत कर प्राप्त कर लिया ॥१६॥

सम्पूर्ण पदार्थ ग्राही प्रमाण होता है और एक अंशग्राही नय होता है । अतः नय सप्तभंगी की अपेक्षा सदा एकरूपता लिए वस्तु एक धर्मात्मकही है और यही निरवद्यरूप से अनेकात्मक ही है । आप भी इसी प्रकार अवगत कर अवधारित किये हो । अपने निरंजन ज्ञान द्वारा यह सिद्धान्त निर्बाध स्वीकृत किया है । अतः तुम इस सिद्धान्त को क्यों निराबाध मानते हो ? क्योंकि वस्तु स्वभाव-वस्तु का प्रवाह तर्क का विषय नहीं होता । विचारणा की कसौटी पर उसे परखने की आवश्यकता नहीं होती । जो जैसा है वह वैसा है और जो जिसरूप होता है वही ज्ञान का ज्ञेय विषय बनता है । आपके ज्ञान में भी वही पदार्थ स्वभाव आया है ॥१७॥

भगवन्! तुम तो टंकोत्कीर्ण एक मात्र ज्ञायक स्वभाव रूप चैतन्य द्वारा एक नित्यपने से अवस्थित हो । अर्थात् केवल ज्ञान-अनन्त व अच्युत

है उसे प्रत्यक्षी करने को अतीन्द्रिय ज्ञान ही समर्थ है । इन्द्रियों से जन्य क्षायोपशमिक ज्ञान क्षण-क्षण में परिवर्तित होता हुआ स्वयं क्षोभ को प्राप्त होता रहता है । क्रम और अक्रम रूप से परिवर्तित होता हुआ अपने अस्तित्व रक्षण के भय के बोझ से बोझल हो रहा है । अतः संकल्प-विकल्पों से उद्वेलित उस ज्ञान द्वारा तुम नहीं देखे जा सकते हो । स्थिर जल में ही अपना प्रतिबिम्ब स्थिर दृष्टिगत होता है इसी प्रकार भगवान आत्मा के स्थायी, सर्व से भिन्न एक ज्ञायक स्वरूप को क्षायिक ज्ञान ही विषय कर सकता है । हम जैसे छद्मस्थों का इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं । वस्तुतः बौद्धादि सिद्धान्तवादी इन्द्रियज्ञान को ही प्रत्यक्ष स्वीकारते हैं उनके अतीन्द्रिय आत्मस्वरूप व्यवस्था नहीं हो सकती । आपका ज्ञाता प्रत्यक्ष ज्ञानी सर्वज्ञ ही होना चाहिए ।। १८ ।।

केवलज्ञान रूपी सम्पत्ति अनन्त और अक्षय है । निरन्तर उदीयमान प्रकाशपुञ्ज ज्योति सम्पन्न एवं अजेय पराक्रम सम्पन्न है । वह स्व तत्त्व प्रतिपत्ति अवस्थित है । क्षणक्षयी क्षायोपशमिकज्ञान धारियों के ज्ञापन कराने में आप ही एक मात्र साक्षी हैं–गवाह हैं । अभिप्राय यह है कि अखण्ड केवल ज्ञान ज्योति सम्पन्न अनन्तशक्तिधारी आत्मा को दर्शाने वाला आप द्वारा प्रणीत आगम ही है । आपके प्रति अकाट्य श्रद्धालु ही उसके माध्यम से उसे अवगत कर अपने स्वयं के स्वरूप को प्रकट कर सकता है ।। १९ ।।

हे प्रभो ! जो अपने निज प्रज्वलित कृत्यों के द्वारा सम्पूर्ण निज शक्तियों को समग्रता से अर्जन करता हुआ, आतिशायी धर्मो-स्वभाव को प्रकाशित करता हुआ आपके स्वरूप की विवेचना करता है वही आपको स्पष्ट देख सकता है । आप सदा पर पदार्थ के स्पर्श से पराङ्मुख रहते हो, यह प्रत्यक्ष प्रतिभासित होता है । यहाँ अभिप्राय यह प्रकट किया है कि इन्द्रादि अपने सम्पूर्ण वैभव को समवशरण सभा मण्डप के ब्याज-बहाने से आपके चारों ओर बिखेर देता है, परन्तु तो भी आप अपने वीतरागभाव में ही निरत

रहते हो, यहाँ तक कि सिंहासन पर भी चार अंगुल ऊपर अधर-निराश्रय से ठहरते हो ॥ २० ॥

हे प्रभो पर पदार्थों से सर्वथा विरक्त हुयी चिदात्मशक्ति अपने में स्थित हुयी भी अपने निजभावों से सम्पन्न हुयी । आपकी चित् चैतन्य प्रभा अपने निज स्वभाव को स्पर्श करती हुयी अद्भुत महिमा को प्राप्त हुयी है । वह चिति-चेतना अपनी स्वजातीय चेतनामयी भावों से द्वेष को प्राप्त नहीं होती, अपितु अशेष शक्तियों को अपने में समेट कर निज स्वभाव भाव से भरित रहती है । क्योंकि जो ज्ञान-दर्शन रूप पूर्ण शुद्ध चेतना है वह सदा चैतन्यरूप ही रहती है ॥ २१ ॥

यह अपूर्व चेतना परम निर्मल स्वभाव रूप हो वाह्य पदार्थों के यथा तथा स्वरूप का वहन करती है अर्थात् उन्हें प्रतिबिम्बित करती है । तथा भगवन् आप में स्थित ज्ञानशक्ति की अविनाभावी शक्तियों को भी धारण करती है । अर्थात् अन्तर बाहिर अशेष पदार्थ इसमें प्रतिबिम्बित होते हैं । परन्तु तो भी अनन्त विज्ञानधन स्वरूप आप मोह को प्राप्त नहीं होते, द्वेष भी नहीं करते और रागी भी नहीं होते । यह ज्ञान की महिमा बड़ी ही अद्भुत है ॥ २२ ॥

यह जो वाह्य पदार्थों का समूह आपके ज्ञानधन स्वभाव में आ संघट्टन करता है अर्थात् ज्ञानज्योति में प्रवेश करता सा प्रतीत होता है वह आपके अनन्त ज्ञान प्रकाश ज्योति को उद्वेलित नहीं कर सकता । यद्यपि त्रिकालवर्ती, त्रैलोक्य पूरित पदार्थ एक साथ सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रवेश पाते हैं, झलकते हैं परन्तु उसकी स्वच्छता को तनिक भी मलिन करने में समर्थ नहीं होते । वह चेतना अबाध रूप से निज एक चिदात्मकलिका के विकास-हास में ही निमग्न रहती है ।

अभिप्राय यह है कि सर्वज्ञ प्रभु निश्चय से अपने आत्मस्वरूप को ही देखते व जानते हैं—उसी में तन्मय रहते हैं । व्यवहार से सम्पूर्ण जगत के ज्ञाता-दृष्टा कहे जाते हैं ॥ २३ ॥

हे जिनदेव ! आपका स्पष्ट चैतन्य प्रकाश जिस प्रकार बाह्य पदार्थों को प्रमेय रूप से स्पष्ट दर्शाता है, उसी प्रकार अन्तरंग तत्त्व को भी विशद-स्पष्टरूप उदित करता है । तथाऽपि वह आपका स्वभाव बाह्य पदार्थों के आवर्तन में दृष्टिगत नहीं होता । पर को दर्शाता हुआ भी निज में ही रमण करता है ॥ २४ ॥

जिस प्रकार आपका स्यात् पद लाञ्छित अनेकान्त सिद्धान्त नाना प्रकार के परिकर्मों में विविध कौशलों की परम्परा को प्रकट करता है । नानाविध गुण पर्यायों को प्राप्त कराता है, उसी प्रकार हे जिन ! आपकी अनन्तवीर्य सम्पदा को सदा उन्नतिशील प्रदर्शित करता है । तथा आपके अनन्त चतुष्टयरूप वैभव को प्रकाशित कर उसकी महिमा को विस्तारित कर उदीयमान रहता है ॥ २५ ॥

॥ ० ॥

अध्याय 5

न वर्धसे यासि च [illegible]

तामसीमनिम्नोऽसि विभो नमन्नपि।

अवस्थितोऽप्यात्महोहिरद्भुतैः

सम्पन्न विस्तारततोऽवभाससे ॥1॥

अनाद्यनन्तक्रमचुम्बिवैभव

प्रभावरुद्धाखिलकाल विस्तरः।

अयं निजद्रव्यगरिम्णि पुष्कले

सुनिश्चलो भासि सनातनोदयः ॥2॥

इदं तव प्रत्ययमात्रसतया

समन्ततः स्यूतमपास्तविभ्रियम्।

अनादिमध्यान्त विभक्तवैभवं

समग्रमेव श्रयते चिदुच्छताम्॥3॥

भवन्तमप्यात्ममहिम्नि कुर्वतीं

किलार्थसत्ता भवतो गरीयसी।

तथापि सालं विदितज्जतीह ते

यतोऽस्ति बोध विषयो न किच्चन॥4॥

समग्रशब्दानुगमा द्गभीरया
जगद्ग्रसित्वाऽप्यभिधानसत्तया ।
त्वदच्छबोधास्थिते या विडम्ब्यते
नभस्थल प्रस्फुरितैक तारका ॥5 ॥

विनैव विश्वं निजव स्तुगौरवाद्
विभो भव[illegible] ।
न जातुचित् प्रत्ययसत्तया परः
करम्ब्यते भाति तथापि चिन्मयः ॥6 ॥

न वार्थसत्तापृथगर्थमण्डली
विलंध्य विस्फूर्जति कापि केवला ।
भवान् स्वयं सन्नाखिलार्थमालिकां
सदैवसाक्षात्कुरूते चिदात्मना ॥7 ॥

न शब्दसत्ता सहसर्ववाचकै
र्विलङ्घ्येत् पुद्गलतां कदाचन ।
तथापि तद्ग्राहकशक्तिरञ्जसा
चिदेककोणे तव देव वल्गति ॥8 ॥

कुतोऽन्तरर्थो बहिरर्थनिह्नवे
विनान्तरथाद्बहिरर्थ एव न ।
प्रमेयशून्यस्य न हि प्रमाणता
प्रमाणशून्यस्य न [हि तु] प्रमेयता ॥9 ॥

न मानमेयास्थितिरात्मचुम्बिनी
प्रसह्यबाह्यार्थ निषेधन क्षमा
वदन्ति बोधाकृतयः परिस्फुटं
विशैव वाचा बहिरर्थमञ्जसा ॥10 ॥
विनोपयोग स्फुरितं सुखादिभिः
स्ववस्तुनिर्मग्न गुणैर्विभावितः ।
तदेकतामेषि समग्रबाह्यकं
यथा विना वाचकवाच्य भावतः ॥11 ॥
क्रमापतद्भूरिविभूतिभारिणि
स्वभाव एव स्फुरतस्तवानिसम् ।
तमं समग्रं सहभाविवैभवं
विवर्त्तमानं परितः प्रकाशते ॥12 ॥
क्रमाक्रमान्तविशेषनिह्नवा
दनंशमेकं सहजं सनातनम् ।
सदैवसन्मात्रमिदं निरङ्कुशं
समन्तनस्त्वं स्फुटमीश पश्यसि ॥13 ॥
प्रदेशभेदक्षण भेदखण्डितं
समग्रमन्तश्च बहिश्च पश्यतः ।
समन्ततः केवलमुच्छलन्त्यमी
अमूर्त्तमूर्त्ताः क्षणिकास्तवाऽणवः ॥14 ॥
सतो निरंशात् क्रमशोंऽशकल्पना
द्विपश्चिमांशावधिवद्धविस्तरा:

यथोत्तरं सौक्ष्म्यमुपागताः सदा
स्फुरन्त्यनन्ता नव तत्त्व भक्तयः ॥15 ॥
अखण्डसत्ताप्रभृतीनि कार्त्स्न्यतो
बहून्यपि द्रव्यविखण्डितानि ते।
विशन्ति तान्येव रतानि तैर्विना
प्रदेश शून्यानि पृथक् चकासति ॥16 ॥
कृतावता रान्तिरेतरं सदा
सतश्च सत्तां च चकाशतः समम्।
विचिन्वतस्ते परितस्सनातनं
विभाति सामान्य विशेष सौहृदम् ॥17 ॥
मुहुर्मिथः कारणकार्यभावतो
विचित्ररूपं परिणाम मिय्रतः।
समग्र भावास्तव देव! पश्यतो
व्रजन्त्यनन्ताः पुनरप्यनन्तताम् । ॥18 ॥
अनन्तशो द्रव्यमिहार्थपर्ययै
र्विदारितं व्यञ्जनपर्ययैरपि।
स्वरूपसत्ताभरगाढयन्त्रितं
समं समग्रं स्फुटतामुपैति ते ॥19 ॥
व्यपोहितुं द्रव्यमलं न पर्यया
न पर्यया द्रव्यमपि व्यपोहते।
त्यजेद्भिदां स्कन्धगतो न पुद्गलो
न सत्पृथग्द्रव्यगमेकतां त्यजन् ॥20 ॥

अभेद भेद प्रतिपत्तिदुर्गमे
महत्यगा धाद्भुततत्त्ववर्त्मनि।
समग्र सीमा स्खलना दनाकुला
स्तवैव विष्वग् विचरन्ति दृष्टय: ॥21॥

अभिन्नभिन्नस्थितमर्थमण्डलं
समक्षमालोकयतः सदाऽखिलम्।
स्फुटस्तवात्माऽयमभिन्नसन्मयो
ऽप्यनन्त पर्याय विभिन्न वैभव: ॥22॥

अनाकुलानादिभिरात्म लक्षणै:
सुखादिरूपनिजवस्तुहेतव:
त्वैककाले विलसन्ति पुष्कला:
प्रगल्भबोधज्वलिता विभूनय: ॥23॥

समस्तमन्तश्च बहिश्च वैभवं
निमग्न मुन्मग्नमिदं विभासयन्।
त्वमुच्छलन्नैव विधीयसे परै
रनन्तविज्ञानघनौघघस्मर: ॥24॥

नितान्तामिद्धे न तपो विशोषितं
तथा प्रभो मां ज्वलयस्व तेजसा।
यथैष मां त्वां सकलं चराचरं
प्रधर्ष्या विष्वगज्ज्वलयन् ज्वालाम्यहम् ॥25॥छ॥

पाठ ५

हे भगवन् ! आपकी केवलज्ञान रूपी लता वृद्धि को प्राप्त नहीं होती । और सर्वोच्च शिखर को भी प्राप्त होती है। यहाँ वृद्धि नहीं होने पर भी असीम सीमा प्राप्त होना विरोधाभास लगता है, परन्तु जिन प्रणीत तत्त्व सिद्धान्त से पूर्ण अविरोध है । कैसे ? केवलज्ञान अविनश्वर और पूर्ण है । अपने असंख्यात आत्मप्रदेशों को व्याप्त कर ही रहता है उससे बाहिर नहीं जाता । अतः बढता नहीं । बढकर अन्य ज्ञान नहीं अतः सर्वोच्च है । अपने आत्मतेज के अदभुत प्रकाशपुञ्ज में अवस्थित रहकर भी सम्पूर्ण विस्तार को प्राप्त हुआ अवभासित होता है । निश्चयनयापेक्षा निज स्वभाव-ज्ञानधन स्वभाव में स्थित रहता है । परन्तु व्यवहार नय की अपेक्षा सम्पूर्णलोक को प्रकाशित करता है अतः सर्वव्यापी भी है ॥ १ ॥

आपका कैवल्यज्ञानप्रभाव अनाद्यनन्त है । यह द्रव्यार्थिक नय से सिद्ध है । पर्यायार्थिक नयापेक्षा विचारने पर भूतपूर्व क्रमिक अनन्त पर्यायों की शृखंला को भी निज में समाहित किये हुए है । क्यों कि "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" यह द्रव्य का निज स्वभाव ही है । त्रैकालिक शक्तियों से विस्तृत होता हुआ भी अपने ही प्रभाव से आविद्ध है—अपने में ही समाहित है । भूत-भविष्यत् वर्तमान का व्यवहार परिवर्तनीय है, यह परिणमन इसमें प्रतिबिम्बित होता है । परन्तु यह तो अपने निज द्रव्य की गरिमा - गौरव से पुष्ट, सुनिश्चल, सुस्थित सनातन और समीचीन उदयरूप प्रतिभासम्पन्न प्रकाशित होता है ॥ २ ॥

यह आपकी ज्ञानरूप सत्ता ने सम्पूर्ण विभावरूपता का परित्याग कर दिया है । क्षायोपशमिक अवस्था में होनेवाले हानि-वृद्धि रूप विकारी क्षणिक पर्यायों को समाप्त कर दिया । क्योंकि विकार के कार कारणभूत ज्ञानावरणी कर्म का क्षय कर दिया । अतः क्षायिक ज्ञान होने से आत्मा के

सम्पूर्ण-असंख्यात प्रदेश निरावरण हो जाने से ज्ञान में चतुर्दिक् व्यापी हो हो गया । मानों सब ओर से अपने स्वभाव से ग्रंथित हो गया । आपका ज्ञान वैभव अनादि होकर आदि, मध्य अन्त से रहित एक विलक्षण ही शक्ति सम्पन्न है । क्योंकि एक समय मात्र में अपनी निर्मल-शुद्ध सम्पूर्ण चैतन्य का आश्रय प्राप्त करता है । चिद् परिणति में समय भेद नहीं । वह तो सर्वता, सर्वदा एकरूप ही रहने वाली है ॥ ३ ॥

प्रत्येक तत्त्व अपने गुण द्रव्य, व पर्यायों से स्वतः समन्वित होता है । इनमें प्रदेशभिन्नता नहीं होती । इन सबके एकीकरणभूत द्रव्य की सत्ता भी तद्रूप ही होती है । आत्मा एक द्रव्य है और केवलज्ञान उसके चिद्स्वभाव की शुद्ध गुण-या अर्थ पर्याय है । यहाँ आचार्य श्री इसी तथ्य का निरूपण करते हुए कहते हैं कि निश्चय से हे प्रभो! आपकी सत्ता विशेष महत्वपूर्ण है, सबल है, क्योंकि आपकी आत्मीय महिमा में आपको समाहित कर आपकी गरिमा बढ़ाती है । तथाऽपि आपकी ज्ञान की सीमा का उल्लंघन नहीं करती । क्योंकि ज्ञान और सत्ता एकात्मक है । वह कोई अन्य रूप पदार्थ नहीं है । अर्थात ज्ञान से अतिरिक्त सत्ता कुछ भी नहीं है । जो सत्ता है वही ज्ञान है और जो ज्ञान है वही सत्ता है । अभेद दृष्टि से एक रूप ही हैं ॥ ४ ॥

समय-आत्मा शब्दागम से आचूलमूल भरित है । अर्थात् आत्मबोध से शब्दागम (द्रव्यश्रुत) का उद्‌गम हुआ है । अशेष संसार इसी के रसका रसिक हो रहा है । यह अकाट्य-अविरोधी वाक्यों की सत्ता द्वारा निर्मित है । शब्द रचना द्वारा यह अनेक विध होते हुए भी भाव रचना की अपेक्षा एकरूप और अकाट्य है । हे भगवन् ! आप तो अपने अखण्ड निर्मलज्ञान में सतत एक रूप से ही स्थित रहते हैं । यथा नभस्थल अनेक तारावलियों से खचित सा दृष्टिगत होता है, परन्तु आकाश की स्वच्छता व अखण्डता को विकृत नहीं कर सकता । इसी प्रकार शब्दागम की अपेक्षा आपकी दिव्यध्वनि रूप ज्ञानगरिमा अनेक शाखा-प्रशाखा रूप होकर भी दिव्य बोध

को तनिक भी विकृत या मलिन नहीं कर सकती । वह तो निरन्तर अपने ही स्वभाव से दैदीप्यमान होता रहता है ॥ ५ ॥

हे विभो प्रत्येक वस्तु पर पदार्थ की अपेक्षा बिना अपने ही स्वभाव भाव से परिणमित होती रहती है । स्वभाव निरपेक्ष होता है । इसी प्रकार आपका सर्वोत्कृष्ट ज्ञान भवनमात्रशक्ति सम्पन्न होने से विषयों की अपेक्षा बिना ही अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति से प्रवर्तन करता है । स्वभाव की गरिमा इसी में है । प्रबोध-ज्ञान की सत्ता कभी भी पर की अपेक्षा से अपना अस्तित्व नहीं रखती, अपितु स्वाश्रय से स्थित रहती है । यद्यपि उस अक्षुण्ण प्रज्वलित ज्ञान ज्योति में अशेष विश्व एक साथ समुदाय रूप से प्रतिविम्बित होता है । तथाऽपि वह तो अपने चिन्मय स्वरूप से ही ज्योतित होता है । ज्ञान स्वभाव की महिमा अपार है, उसकी विशद स्वच्छता इतनी उज्ज्वल प्रकाशित होती है कि तीन लोक का क्या अनन्त लोक भी हों तो वे भी झिला-मिला उठेंगे । अत: पर पदार्थों-ज्ञेयों के आलम्बन से ज्ञान परिणमन नहीं करता अपितु स्वत: स्वभाव से ही करता है । इस सिद्धान्त से बौद्धों की तदाकार तदुपत्ति मान्यता निर्मूल हो जाती है ॥ ६ ॥

हे प्रभो आप . के सिद्धान्तानुसार पदार्थों की सत्ता और पदार्थ समूह भिन्न-भिन्न नहीं हैं । कोई भी पदार्थसत्ता अपने गुण धर्म-स्वभाव का परित्याग कर भिन्न रूप से अकेली स्फुरायमान नहीं होती । यह तो मीमांसकादि जो ज्ञान को अस्वसंवेदी स्वीकारते हैं । उनका वचन विलास मात्र सिद्धान्त है । उनके सिद्धान्त में आत्मा अलग है और ज्ञान गुण उससे सर्वथा भिन्न है, एक समवाय सम्बन्ध और है जो उन दोनों को जोड़ता है । यह कथन असंभव है । अनेक दोषो से दूषित है । आपके सिद्धान्त में तो निरूपित है कि आप स्वयं ज्ञानघन स्वरूप होकर ही सदैव सम्पूर्ण पदार्थमलिका को अपने ही चैतन्यात्मा से प्रत्यक्ष करते हो । अर्थात् आत्मा स्वयं ज्ञानात्मक है– चिद् ज्योति स्वरूप है । पूर्ण विकास से प्राप्त हो सर्वज्ञ में स्थित

है ॥ ७ ॥

प्रत्येक शब्द अपने वाच्य-वाचक रूप परिणमन करने की शक्ति से सम्पन्न रहता है । वह इसी कार्य-कारण शक्ति के साथ अपनी सत्ता को स्वभाव ही से सुरक्षित रखता है । परन्तु वह अपनी पौद्गलिक पर्याय का उलंघन नहीं करते । बौद्ध सिद्धान्त में शब्द को अपोह वाचक कहा है । यथा 'गौ' शब्द सीधा गाय का बोध नहीं कराकर 'अंगौ' अर्थात् यह अश्व नहीं, गज नहीं, महिष नहीं इत्यादि अपोह-नकार रूपता को सिद्ध करता है । सांख्यवादी शब्द को सर्वथा नित्य और आकाश से उत्पन्न आकाश का गुण कहते है । ये सिद्धान्त तर्क की तुला पर चढ़ते ही अपना अस्तित्व खो बैठते हैं । हे जिन देव :- आपके सिद्धान्त में शब्द पुद्गल की पर्याय है स्वतंत्र द्रव्य नहीं । पर्यायें स्वभाव सिद्ध होते हुए भी अपनी व्यक्ति में पर निमित्तों की भी अपेक्षा रखती है । चूंकि शब्द अपने पौद्गलिक पने का कभी भी उलंघन नहीं करता । जो जिसकी पर्याय होती है वह अपने द्रव्य-आश्रयी के स्वभावरूप ही होती है । जड पदार्थों की व्यंजना चेतन-ज्ञान की अपेक्षा करती है । अस्तु हे देव । आपके सिद्धान्त में शब्दों की "वाचकशक्ति" चेतना के द्वारा यथार्थ रूप से यथायोग्य समय में अपने वाच्य का याथातथ्य ज्ञान करा देती है । इस प्रकार शब्द शक्ति का व्यक्तिकरण आपने बतलाया है जो यथार्थ है उचित और निर्दोष है ॥ ८ ॥

निश्चय नय से अन्तरंग और बाह्य पदार्थ अपनी-अपनी स्वभाव सत्ता से ही स्थिति पाते हैं । परन्तु व्यवहार नय की विवक्षा बिना उनका विवेचन नहीं हो सकता । हर पदार्थ अपने प्रतिपक्षी स्वभाव से जीता है । इसीलिए आपने अपनी देशना में स्पष्ट बतलाया है कि बाह्य पदार्थों का अपलाप-अभाव करने पर आभ्यन्तर पदार्थ किस प्रकार सिद्ध हों ? और अन्तरङ्ग के बिना बाह्यपदार्थ ही नहीं रह सकते । उभय शक्तियों के रहने पर ही यह आभ्यंतर है" यह बाह्य है" इस प्रकार का व्यपदेश संभव है । इसी

प्रकार प्रमेय के शून्य-अभाव होने पर प्रमाणता नहीं टिक सकती और प्रमाण नहीं तो प्रमेय का ज्ञापन किस प्रकार हो सकता है? नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि आपके सिद्धान्त में प्रमेय और प्रमाण सिद्धि में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। यथा दिवस नहीं तो रात्रि का ज्ञान कैसे हो और रात्रि नहीं तो यह दिवस है यह भी कथन क्या संभव है? नहीं है। अतः प्रमाण नहीं तो प्रमेयों का ज्ञान कौन कराये? और प्रमेय नहीं तो प्रमाण ज्ञापकरूप क्रिया किस प्रकार करे? ऊभय शून्यता दोष निवारण करने वाला आपका सिद्धान्त हीं चिरन्तन जयशील है ॥ ९ ॥

प्रमाण और प्रमेय निश्चय से अपने-अपने आत्मस्वभाव में अवस्थित हैं। बलात् बाह्य पदार्थों का निषेध करने में प्रमाण-ज्ञान समर्थ नहीं हो सकता। वचनोच्चार के बिना भी बोध-ज्ञान का परिणमन स्पष्ट रूप से उन्हें (बाह्यार्थों को) सम्यक् रूप से कथन करता ही है। यहां विज्ञानाद्वैत वादी मात्र ज्ञान की ही सत्ता स्वीकार करते हैं। ज्ञेयों का सर्वथा अभाव बतलाते हैं। परन्तु यह एकान्तवाद सिद्ध नहीं होता। सर्वज्ञ प्रणीत शासन में प्रमाण और प्रमेय की स्वतंत्र सत्ता स्वीकृत की है। जिन शासन में सर्वथ शून्य रूपता स्वीकृत नहीं की है। क्यों कि यहाँ तो (सर्वज्ञवाणी में) अभाव भी सद्भाव लिए होता है। आपका अनेकान्तवाद ही अपेक्षाकृत होने से प्रमाण-प्रमेय का यथार्थ स्वरूप निरूपण कर दोनों अस्तित्व सिद्ध करता है ॥ १० ॥

निज शुद्ध स्वभाव में स्थित आत्मतत्त्व अनिच्छा से अपने में निमग्न हो अपने ही अनन्त सुखादि गुणों के द्वारा विभावित होता है। भगवन्! आप वीतरागी और क्षायिक ज्ञान से विभूषित हैं। अतः ज्ञातव्य पदार्थों की ओर उपयोग परिणमन किये बिना ही अशेष पदार्थ प्रतिभासित होते हैं। इच्छा के सात उपयोग का परिणमन करना पड़ता है। आप इच्छा विहीन हैं फिर क्यों उपयोग लगायें? आप एकता को लिए सम्पूर्ण पदार्थों

को एक साथ विषय करते हो । वाच्य-वाचक भाव के बिना जैसे समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं । यहाँ आचार्य श्री ने सर्वज्ञप्रभु की वीतराग परिणति से सर्वाङ्ग से उत्पन्न दिव्यध्वनि का सातिशायी वर्णन किया है । दिव्यध्वनि वाच्य-वाचक सम्बन्ध की अपेक्षा न कर सकल तत्त्वों का ध्वनिरूप से निरूपण करती है । श्रोताओं के कर्णपुट में पहुँच कर अक्षरात्मक रूप धारण कर वाच्य-वाचक सम्बन्ध से व्यक्त होती है ॥ ११ ॥

वस्तु व्यवहारनयापेक्षा पर्यायों की अनेक विविधताओं के भार से भरित है, वही निश्चयनय की दृष्टि से अपने स्वभाव मात्र से निरन्तर स्फुरायमान रहती है । इस प्रकार आपके सिद्धान्त में गुण-पर्यायों का समुदाय सहभावि वैभव से समग्रता के अन्तिम विकास को प्राप्त है । चारों ओर से क्रमिक पर्यायों और सहभावी गुणों से प्रकाशमान रहती है । भेद और अभेद विवक्षा से वस्तु में नानात्व और एकत्व का समन्वय आपने अपने सिद्धान्त में प्रतिपादित किया है ॥ १२ ॥

पदार्थ सामान्य और विशेष धर्मों से सम्पन्न हैं । उभय धर्मों का परिज्ञान कराने वाली दो दृष्टियाँ हैं । इनका मुख्य और गौणरूप से प्रयोग करने पर ये दोनों धर्म पृथक्-पृथक् से दृष्टिगत होते हैं । यथा जिस समय विशेष-भेद विवक्षा को गौण कर विचार किया जाता है तो वस्तु सहज रूप से एक, अखण्ड, सनातन, निःप्रतिद्वन्दी, सन्मात्र ही सदा रहती है । हे ईश आप समन्ततः इसी रूप देखते हो । आपके सिद्धान्त मे एकान्तवाद कहीं भी प्रतिपादित नहीं है, क्योंकि वस्तु स्वरूप ऐसा है ही नहीं । वह तो भेदाभेद विवक्षा की मुख्य गौण अपेक्षा पर ही आधारित है । आपके असीम ज्ञान में उसी रूप प्रतिभासित होती है ॥ १३ ॥

हे भगवन्! आपके सिद्धान्त में मूर्त (पुद्‌गलरूप) और अमूर्त अर्थात् रूप-रस-गंध और स्पर्श रहित पदार्थ पर्यायार्थिक नयापेक्षा भेद रूप हैं । यह भेद या खण्डता काल द्रव्य की अपेक्षा से व्यक्त होती है । प्रदेशभेद से

अणुओं के भेद से ये खण्ड-भेद पर्यायनय से ही सिद्ध है। पर्यायें प्रतिक्षण परिवर्तित होती हैं अत: कालाणु के माध्यम से सभी क्षणक्षयी होती हैं। अर्थपर्यायें या व्यञ्जन पर्यायें सभी आपके सिद्धान्त में इसी प्रकार उछलती हुयीं पदार्थ की समग्रता को सिद्ध करती हैं। अभिप्राय यह है कि भेद भी अभेदता को सिद्ध करता है। क्योंकि भेदाभेद निरपेक्ष नहीं है ।। १४ ।।

निरंश-अभेद रूप सत्ता एक है। यह द्रव्यार्थिकनय से सिद्ध है। इसी को पर्यायनय से विवेचना करने पर अंश-भेद कल्पना प्रकट होती है। पूर्ववर्ती एकत्व ही कालावधि की अपेक्षा से अंशरूप विस्तार को प्राप्त होता है। पुद्गल का परिणमन स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार से होता है। अंशांश ही सूक्ष्मतम अवस्था को सतत प्राप्त करते हैं। इस प्रकार आपके सिद्धान्त में तत्त्व नाना भेदों से अनन्त प्रकार से स्फुरायमान होते हैं ।। १५ ।।

महासत्ता और अवान्तर सत्ता के भेद से दो प्रकार की सत्ता है। अवान्तर सत्ताएँ अनेक हैं। तो भी समग्रता-द्रव्यदृष्टि से द्रव्यापेक्षा वे सभी अखण्ड रूप हैं। अर्थात् अवान्तर सत्ताएँ भी अपने-अपने द्रव्यत्व अपेक्षा अभेदरूप हैं। अभेद विवक्षा में वे समस्त भेद उसी अपनी-अपनी सत्ता में समाहित होती हैं, अर्थात् उसी में तन्मय होकर रहती हैं। इन प्रदेश भेदों के बिना वह सत्ता भिन्न-भेद बिना एकत्व लिए प्रकाशित होती है इस प्रकार भगवन्! आपके अनेकान्त सिद्धान्त में भेदाभेद विवक्षा सिद्ध होती है ।। १६ ।।

सत् सामान्य और सत्ता-विशेष ये दोनों ही इतरेतर सम्बन्ध से एक साथ रहते हैं। एक के रहने पर दूसरे की उपस्थित होना, नहीं होने पर नियम से नहीं रहना "इतरेतर" सम्बन्ध कहलाता है। विधि-निषेध एक ही वस्तु में नियम से एक साथ रहते ही हैं। उभय धर्ममय ही वस्तुतत्त्व का अस्तित्व होता है। अत: सामान्य-विशेष के एकीकरण करने पर सामान्य

विशेष की घनिष्ट मित्रता स्पष्ट अवगत होती है । जिस प्रकार धर्म धर्मी से चिपटकर रहता है कभी भी वियुक्त नहीं होता, उसी प्रकार सामान्य, विशेष धर्म भी वस्तु में अविच्छिन्न रूप से सदाकाल रहते हैं ॥ १७ ॥

हे भगवन् आपका केवल ज्ञान अपूर्व प्रभावशाली है । स्वयं अनन्त होते हुए भी अनन्त पदार्थों की अनन्त पर्यायों के एक साथ विषय कर भी अनन्तता को ही धारण किये रहता है । लोक में कार्य-कारण भाव को प्राप्त कर समस्त पदार्थ बार-बार परिणमन करते हुए विचित्रता अनेक रूप होते रहते हैं । परिणत दशा प्राप्त सभी पदार्थ निमित्तों की अपेक्षा करते ही हैं । निमित्त अनेक प्रकार के होने से नैमित्तिक भी अनन्तता का धारण करते हैं । हे देव! आप उन अनन्तों को एक समय में ही दृष्ट बना लेते हैं । फिर भी पुनः पुनः अनन्त रूप से अनन्त ही दृश्यमान होते रहते हैं । अभिप्राय यह है जो कुछ दृश्य है वह अनन्तगुण भी क्यों न हो जाय तो भी आपके केवल दर्शन में समाहित हो जायेगा, फिर भी वह अनन्त का ग्राही ही बना रहेगा । यह अलौकिक शक्ति आप में ही है ॥ १८ ॥

हे सर्वज्ञ! आपके दर्शन में प्रत्येक पदार्थ अपनी स्वाभाविक अनन्त अर्थ पर्यायों द्वारा भरित है । वह भी व्यंजनपर्यायों के द्वारा विविधरूप को प्राप्त होते हैं । गुणों के विकार को अर्थ पर्याय कहते हैं और प्रदेशवत्त्व गुण के विकार को व्यञ्जन पर्याय कहते हैं । ये दोनों ही पर्यायें शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो-दो प्रकार की हैं । इसी दृष्टि से आपने निरूपित किया है कि व्यञ्जनपर्यायों द्वारा भेद रूप होकर भी वह कभी भी अपनी स्वरूप सत्ता का परित्याग नहीं करता । अर्थात् नर-नारकादि पर्यायों में परिभ्रमण करता नानारूप आकार धारण कर भी जीव अपनी असंख्यात प्रदेशी अखण्ड एकरूप सत्ता का कभी भी त्याग न कर अपनी ही समग्रता में स्पष्टता को प्राप्त करता है । इसी प्रकार पुद्गल भी है । आपका अनेकान्त सिद्धान्त ही इस गूढ़ता का स्पष्टीकरण करने में समर्थ है ॥ १९ ॥

द्रव्य और पर्याय अभेद विवक्षा से एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं होते । अर्थात् द्रव्य का निषेध कर पर्यायें पृथक अस्तित्व रखने में समर्थ

नहीं और द्रव्य भी पर्यायों का सर्वथा निषेध कर भिन्न रूप नहीं हो सकता कारण कि पयार्यों में प्रदेश भेद नहीं है तथा पुद्गल प्रदेश स्कंधपनता को प्राप्त होकर भी प्रदेश सत्ता से सर्वथा भिन्न नहीं है । सत् धर्म का त्याग कर स्कन्ध नहीं होता, इस अपेक्षा से अपनी-अपनी सत्ता रूप में ही स्थित हैं । अत: एकान्त रूप से मिलकर भी एकरूपता को धारण नहीं करते । अभिप्राय यह है कि आपने प्रत्येक परमाणु को सत् रूप बतलाया है । यद्यपि ये अपनी स्वभाव शक्ति से स्कंध रूप परिणमन करते हैं तो भी स्वरूप सत्ता का परित्याग नहीं करते ॥ २० ॥

आपके सिद्धान्त में तत्त्व परिज्ञान की पद्धति अत्यन्त दुर्गम, अगाध, और महान अद्भुत है । क्यों कि एक ही वस्तु तत्त्व एक ही समय में भेद रूप भी है और अभेदरूप भी । इस गहन मार्ग में अनेकान्त सिद्धान्त ही प्रवेश पा सकता है । इसके अतिरिक्त प्रतीति कराने वाला कोई नहीं है । समय की सीमा का उलंघन करने वाली और अनाकुल, हर एक पहलू से आपकी ही अनन्त ज्ञान दृष्टियाँ विचरण करती हैं । अनेक धर्मात्मक तत्त्व की विवेचना के लिए अनेक नयात्मक दृष्टिकोण चाहियें, वे आपके ही प्रणीत दर्शन में व्यवस्थित हैं । वस्तु स्वरूप प्रतिपादन का माध्यम वचन हैं और वचनों द्वारा एक साथ सकलवस्तुतत्त्व कथित करना असंभव है अत: भेदरूप करके ही व्यवहृत करते हैं । प्रमाण स्वयं में पूर्ण होने से सम्पूर्ण वस्तु को एक साथ अभेदरूप में ग्रहण कर लेता है । इस तथ्य के ज्ञाता भगवन्! आप ही हैं ॥ २१ ॥

सकल पदार्थ समुदाय अभिन्नव भिन्न रूप से स्थित हैं । अर्थात् शुद्ध निश्चयनय से अभिन्न है सत् प्रत्यय से इसी प्रकार प्रतीति होती है । व्यवहारनय की अपेक्षा विशेष दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न हैं । इसी प्रकार का अशेष संसार आपके समक्ष प्रत्यक्ष हो रहा है । अर्थात् 'हस्तामलक' वत् सम्पूर्ण जगत् आपके केवलज्ञान में भिन्नाभिन्नरूप से प्रतिभासित हुआ है । स्पष्ट रूप से आपकी आत्मा-ज्ञानघनस्वरूप अभिन्न सत्ता स्वरूप होकर भी विभिन्न अनन्त पर्यायों के वैभव से सम्पन्न है ॥ २२ ॥

अनन्तसुख स्वरूप निजात्मतत्त्व स्वरूपोपलब्धि के कारण अनाकुलत्वादि लक्षणों से लक्षित हुए आपके सिद्धान्त में एक ही समय में सर्वोच्च सम्पूर्ण ज्ञानज्योति द्वारा परिपुष्ट वैभवों के साथ विलसित होती हैं । अभिप्राय यह है कि आत्मा अविनाशी सुख का सागर है, जिस की पहिचान के लक्षण अनाकुलतादि हैं । निराकुलता, सुखस्वरूपता आदि एक समय में आत्मस्वरूप में स्पष्ट प्रकाशमान रहते हैं । यह सिद्धान्त आपके केवलज्ञान के सर्वोच्च प्रकाश से सिद्ध है । इसलिए अकाट्य और निर्बाध होने से परिपुष्ट है ॥ २३ ॥

आपका अनन्त चतुष्टय रूप अन्तरङ्ग वैभव है । इसमें आप निमग्न-तन्मय रहते हैं । समवशरणादि वाह्य लक्ष्मी है जिसके मध्य रहते हुए भी उन्मग्न-अलिप्त परिलक्षित होते हो । अनन्त विज्ञान घन समूह के तेज से अभिव्याप्य आप का यह वैभव व पराक्रमी तेज अन्य मिथ्यादृष्टियों द्वारा पराभूत नहीं हो सकता । अर्थात् सर्वज्ञत्व नहीं होने पर भी अपने को देव मन्यमाना मिथ्यावादियों द्वारा आप परास्त नहीं हो सकते ॥ २४ ॥

आचार्य देव अपनी अनन्य श्रद्धा व भक्ति से प्रभु से प्रार्थना करते हैं । याचना करते हैं कि हे प्रभो मेरे स्वरूप में नितान्त संलग्न तेज जो तप के द्वारा भी शोषित नहीं होने वाला है उससे जाज्वल्यमानकरिये । अर्थात् अनन्त ज्ञानोद्योत से द्योतित कीजिये । ऐसी ज्वाला चाहिए जो मुझको, आपको इतना ही नहीं, समस्त चराचर संसार को भी प्रकृष्ट रूप से विशेष आभा द्वारा पूर्णतः प्रकाशित करती रहे । उस ज्ञान पुञ्ज रूप से मैं अमर ज्योतिर्भूत हुआ प्रज्वलित रहूँ । मेरा अनन्तज्ञान प्रकट हो यही वर प्रदान करो ॥ २५ ॥

●

अध्याय 6

क्रियैकमूलं भवमूलमुल्वणं
क्रियामयेन क्रिययैव निघ्नता।
क्रियाकलापः सकलः किल त्वया
समुच्छलच्छीलभरेण शीलितः॥1॥

अमन्दनिर्वेदपरेण चेतसा
समग्रभोगान् प्रविहाय निस्पृहः।
तपो नले जुह्वदिह स्वजीवितं
बभौ भवध्वंशकुतूहली भवान्॥2॥

भवस्य पन्थानमनादिवाहितं
विहाय सद्यः शिववर्त्म वाहयन्
विभो पुरावृत्त्य विदूरमन्तरं
कथं च नाध्वानमथाश्रयानसि॥3॥

अधृष्य धैर्यं विहरन्तमेककं
महीयसि ब्रह्मपथे निराकुलम्।
अधर्षयन्नेव भवन्त मुद्धता
मनागपि क्रूरकषायदस्यवः॥4॥

तपोभिरध्यात्मविशुद्धिवर्द्धनैः
प्रसह्य कर्माणि भरेण पावयन्।

मुहुर्मुहुः पूरितरेचितांन्तरा
भवानकार्षीत प्रबलोद्यावली: ॥5 ॥
त्वमुच्छिरवप्रस्खालितैक धारया
रज:क्षयश्रेणिकृता धिरोहणः ।
अखण्डितोत्साहहठाव घट्टनैः
कषाय शरीर वाष्मक्षिपयः प्रतिक्षणम् ॥6 ॥
उपर्युपर्यध्यवसाय मालया
विसुध्य वैराग्यविभूतिसन्मुखः भ्भु ।
कषाय संघट्टन निष्ठुरो भवा
नऽपातय द्वादरसूक्ष्मक्रिट्टिकाः ॥7 ॥
समन्ततोऽनन्त गुणाभिरद्भुतः
प्रकाशसाली परिणम्य शुद्धिभिः ।
नितान्तसूक्ष्मीकृतरागरञ्जनो
जिन क्षणात् क्षीणकषायनां गतः ॥8 ॥
कषायनिष्पीडनलब्ध सौष्ठवो
व्यतीतकाष्ठां जिनसाम्परायिकीम् ।
स्पृशन्नपीर्यापथमन्तमुज्वल
स्त्वमस्खलः स्थित्यनुभागबन्धनः ॥9 ॥
शनैः समृद्धव्यवसाय सम्पदा
क्रमात् समासन्नशिवस्य ते सतः ।
बभूवुरून्मुणकलङ्ककश्मलाः
प्रफुल्लहर्षोत्कलिका मनोभुवः ॥10 ॥

समामृतानन्दभरेण पीडिते
भवन्मनः कुड्मलके स्फुटत्यति।
विगाह्य लीलामुदियाय केवलं
स्फुटैकविश्वोदरदीपकार्चिष: ॥11॥

स्वयं प्रबुद्धाऽखिल वास्तव स्थितिः
समस्तकर्तृत्वनिरूत्सुकोऽभवन्।
चिदेकधातु प्रचय प्रपञ्चितः
समन्तविज्ञानघनो भवानभूत् ॥12॥

ततो गलत्यायुषि कर्मपेलवं
स्खलद्बहिः शेषमशेषयन् भवान्।
अवाप सिद्धत्वमनन्त मद्भुतं
विसुद्धबोधोद्धत धाम्नि निश्चलः ॥13॥

चिदेक धातोरपि ने समग्रता
मनन्त वीर्यादिगुणाः प्रचक्रिरे।
न जातुचिद्द्रव्यमिहैक पर्ययं
विभर्ति वस्तुत्वमृतेऽन्यपर्ययैः ॥14॥

स्ववीर्यसाचिव्यबला दवीयसीं
स्वधर्ममालामखिलां विलोकयन्।
अनन्तधर्मोद्धतमालभारिणीं
जगत्त्रयीमेव भवानलोकयन् ॥15॥

त्रिकालविस्फूर्जदनन्तपर्यय
प्रपञ्चसंकीर्णसमस्तवस्तुभिः।

स्वयं समव्यक्तिकिलैक केवलं
भवन्ननन्तत्वमुपागतो भवान् ॥16 ॥
यदत्र किञ्चित् सकलेऽर्थमण्डले मण्डले
विवर्त्तते वर्त्स्यति वृत्तमेव वा।
समग्रमप्येकपदे तदुद्गतं
त्वयि स्वयं ज्योतिषि देव ? भासते ॥17 ॥
निवृत्ततृष्णस्य जगच्चराचरं
व्यवस्य तस्तेऽस्खलदात्मविक्रमम्।
परात् परावृत्य चिदंशवस्त्वयि
स्वभावसौहित्यभरा द् ड्र डन्त्यमि ॥18 ॥
अनन्तरूपमान्यगभीरसारणी
भरेण सिञ्चन् स्वविशेषवीरुधः।
त्वमात्मनात्मानमनन्यगोचरं
समग्रमेवान्वभवस्त्रिकालगम् ॥19 ॥
अनन्तशः खण्डितमात्मनो महः
प्रपिण्डयन्नात्ममहिम्नि निर्भरम्।
त्वमात्मनि व्यापृतशक्तिरून्मिष
न्ननेक धात्मानमिमं विपश्यसि ॥20 ॥
प्रमातृमेयाद्यविभिन्न वैभवं
प्रमैकमात्रं जिनभावमाश्रितः।
अगाधगम्भीरनिजा सुमालिनी
मनागपि स्वां न जहासि तीक्ष्णताम् ॥21 ॥

अनन्तरूप स्पृशि शान्ततेजसि
स्फुटौजसि प्रस्फुटतस्तवात्मनि।
चिदेकतासङ्कुलिताः स्फुरन्त्यमूः
समन्ततीश्यानुभलाः स्वशक्तयः ॥22॥

अनन्तविज्ञान मिहात्मना भवा
ननन्तमात्मानमिमं विघट्टयन्।
प्रचण्ड संघट्ट हठ स्फुटत्स्फुट
स्वशक्ति चक्रः स्वयमीश भासते॥23॥

स्वरूपगुप्तस्य निराकुलात्मनः
परानपेक्षस्य तवोल्लसन्त्यमूः।
सुनिर्भर स्वानु भवैक गोचरा
निरन्तरानन्दपरम्परास्त्रजः॥24॥

प्रसह्य मां भावनयाऽनया भवान्
विशन्नयः पिण्डमिवाग्निरूत्कटः।
करोति नाद्यापि यदेकचिन्मयं
गुणो निजोऽयं जडिमा ममैव सः ॥25॥छ॥

पाठ- ६

शुभ, अशुभ और शुद्ध की अपेक्षा क्रिया तीन प्रकार की हैं । अशुभ क्रियाओं से अशुभ कर्मास्रव बंध होता है और शुभ क्रियाओं से शुभास्रव बंध । बंधक क्रियाएँ सभी संसार परिभ्रमण की शक्तिशाली मूल कारण हैं । मिथ्यात्व पूर्वक सभी क्रियायें भवभ्रमण की प्रधान हेतू हैं । हे भगवन् ! आपने उन अशेष क्रियाकाण्डों को अपने शुद्धोपयोग से प्राप्त शील के अठारह हजार भेदों को प्राप्त कर शील के माहात्म्य को विनष्ट कर दिया । आपकी शील महिमा प्रकाशित हुई जयशील है । इसके प्रभाव से सम्पूर्ण क्रिया समूह आमूल-चूल नष्ट हो गईं ।। १ ।।

सतत, निरन्तर तेजोमय, जाग्रत वैराग्यभरित चित्तवृत्ति द्वारा, समस्त भोगों को निस्पृह हो त्याग दिया । परम वीतराग भाव से विषयभोगों से विरक्त हो अपने जीवन सुतपरूपी अग्नि में होम दिया । हे प्रभो ! इसी तपोऽग्नि होम से क्रीड़ामात्र में संसार सन्तति से भिन्न हो गये । अर्थात् जन्म-मरण की शृंखला को नष्ट किया ।। २ ।।

हे विभो ! आप अनादि कालीन चले आये संसार के मार्ग को त्याग कर शीघ्र ही मोक्षमार्ग के वाहक हो गये । हे जिन उस भवभ्रमण का पथ परिवर्तित हो अतिदूर हो गया । जब आप स्वयं ही उसका तिरस्कार कर उससे पराङ्मुख हो गये तो फिर क्यों नहीं उससे विपरीत मोक्षमार्ग के आरोही होते ? अवश्य होते ही । अभिप्राय यह है कि जो जिससे विरक्त हो विमुख हो जाता है उससे वह भी दूरतम हो जाता है । भगवन् आपने संसार पथ का परित्याग किया तो मोक्ष मार्ग मिलता ही ।। ३ ।।

भो जिनेश ! आपने अजेय धैर्य के साथ एकाकी महान उत्तम आत्मपथ-मोक्षमार्ग में आकुलता रहित विहार कर आत्म साधना की । आपने उद्दाम पुरुषार्थ द्वारा भयंकर क्रूर, आत्मस्वरूप विध्वंसक कषायरूपी डाकुओं के सम्यक् प्रकार कृष किया । अर्थात् तनिक भी उनका अस्तित्व नहीं रह सका । आप पूर्ण निष्कषाय हुए । आत्मा के रत्नत्रय स्वरूप अनन्तचतुष्टय

रूप धन को हरण करने वाले कषायरूपी चोर हैं। आपने ही उनका घर्षण कर विजय प्राप्त की है ॥ ४ ॥

आपने ही हे जिन ! असह्य, दुस्तर कर्म भार से मलीमस आत्मा को तपश्चरण से आध्यात्म्य विशुद्धि की वृद्धि द्वारा पवित्र किया। बार-बार भव भवांतरों में संचित किये कर्मों को बलात् तप द्वारा तीव्ररूप में उदयावली में लाकर निर्जरित किया। अर्थात् पूर्व बद्ध कर्मों का अपकर्षण कर उन्हें स्थिति पूर्ण होने के पूर्व ही आपने उदयागत कर खपा दिया। इस प्रकार आत्मा से सम्बद्ध कर्मों के खजाने को रिक्त कर आत्मा को शुद्धावस्था में प्राप्त करा दिया। अतएव आप स्वयं विशुद्ध हुए ॥ ५ ॥

हे जिनेश्वर ! आपने ध्यान रूपी अग्नि की अचल प्रज्वलित शिखा की धारा से कर्म रज को भस्म किया। तथा क्षपकश्रेणी पर आरोहण किया। आप हतोत्साह नहीं हुए। अपितु धारा प्रवाह से उत्साहित होते हुए उद्यमशील बने रहे। उस अखण्ड उत्साह के बल से प्रतिक्षण क्रमिक रूप से कषायों का क्षपण किया। अर्थात् चारित्र मोह का भी पूर्ण नाश किया। कषायरूप कार्माण वर्गणाओं के समूह को बादर कृष्टि और सूक्ष्म कृष्टि द्वारा घर्षण कर चूर-चूर कर डाला। प्रथम कषायों-मोह को विनष्ट कर पुनः उसी समयान्तर से ज्ञानावरण, दर्शनावरण रूप रज कर्म धूलि को उड़ा दिया। इस प्रकार निरन्तर तपश्चरण और ध्यानानल की तीक्ष्ण शिखा से कर्म-कषाय संहार किया ॥ ६ ॥

ज्यों ज्यों आपका वैराग्यभाव अनुकूल होता गया, त्यों त्यों आत्मवैभव प्रकट हुआ। तदनुसार उत्तरोत्तर पुरुषार्थरूप अध्यवसाय परिणतियाँ वृद्धिंगत हुयीं। फलतः परिणाम विशुद्धि एवं आत्मशुद्धि भी विकसित होने लगी। भगवन् ! आप परम दयालु, आकस्मिक वैद्य स्वरूप प्राणीमात्र के कष्ट हरने वाले होने पर भी कषायरिपुओं के संहार करने में अति कठोर व निर्दय हो गये। इस कार्य में उनको (कषायों) दलन करने के लिये क्रमशः बादर कृष्टि और सूक्ष्मकृष्टि का प्रयोग कर उन्हें सदैव को

नष्ट कर दिया । जो आत्मा को कषै-कष्ट दें या जो संसार क्षेत्र को कर्षण कर पुष्ट करें वे कषाय कहलाती हैं । आत्म स्वातन्त्र्य के अभिलाषी भला आप इन पर किस प्रकार दया करते ? आत्महितैषी अपने कल्याण में दत्तचित्त होते हैं । अतः आत्म स्वरूपानन्द की घातक क्रोधादि कषायों का संहार आपके लिए योग्य ही है ।। ७ ।।

स्वसंवेदन से प्राप्त निजानन्द रस निमग्न हो, दुष्कर्मों की असंख्यातगुणी निर्जरा कर अनन्त अद्भुतगुणों से सम्पन्न विशुद्धि द्वारा परिणमन कर तेजस्वी ज्ञान प्रकाश शाली हुए । इस पराक्रम द्वारा सूक्ष्म लोभ की क्षीण, निशक्त लालिमा को भी धो डाला । सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में लघु अन्तर्मुहूर्त रहकर हे जिन आप क्षणभर में ही क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान में पहुँच गये । यहाँ अशेष कषायों से रहित हो गये ।। ८ ।।

इस प्रकार (उपर्युक्त विधि से) हे प्रभो, आपने कषायों को नीरस अर्थात् अनुभाग शक्ति विहीन करने का सुकौशल प्राप्त किया । इस प्रकार साम्परायिक आस्रव की अन्तिम सीमा को पार किया । फलतः अविनश्वर, उज्ज्वल ईर्यापथ आस्रव को प्राप्त किया । तथा स्थिति और अनुभाग बंध का द्वार सदैव के लिए पिहित (बन्द) कर दिया । आगम में प्रकृति और प्रदेश बन्ध का हेतू योगों को कहा है और स्थिति, अनुभाग बन्ध का कारण कषायों को । चूं कि हे जिन आपने कषायों का आमूल उन्मूलन कर दिया - उखाड़ फेंका, फिर भला कारण के अभाव में कार्य किस प्रकार हो ? नहीं हो सकता । अतः स्थिति और अनुभाग बन्ध स्वयमेव रुक गये ।। ९ ।।

शनैः शनैः गुणस्थान सोपान पर चढ़ते हुए आपने क्रमशः अपने शिवस्वरूपोपलब्धि के व्यवसाय को समृद्ध बनाया । अर्थात् मुक्ति प्रासाद के सन्निकट पहुँचने की स्वानुभूति रूप सम्पत्ति को सुदृढ़ बनाया । इस निज वैभव से घातिया दुष्ट कर्मों की कालिमा कलङ्क को वंचित करने की सामर्थ्य हो आत्मसात किया । परम हर्ष से उत्फुल्ल हुयी मनो कलिका विकसित हो गयी । आत्मानन्द की कलियाँ विकासोन्मुख होने लगी ।। १० ।।

साम्यरससुधा के आनन्द रस से भरकर मनोद्भव कलिका विकसित की। उस निजानन्द रस सागर में निमग्न होकर केवलज्ञान रूपी अग्निज्वाला को प्रज्वलित किया। वह केवल ज्ञान शिखा के सुप्रकाश में तीनों लोक समाहित हो जाते हैं अर्थात् ढलकने लगते हैं। अभिप्राय यह है कि केवलज्ञान रूपी दीपक की अखण्ड ज्योति त्रैलोक्य को एक साथ उदरस्थकर लेती है। अर्थात् स्पष्ट प्रकाशित करती है। इस प्रभापुञ्ज अमर ज्योति में तीनों लोक द्योतित होते हैं ॥ ११ ॥

हे जिनेन्द्र ! आप सम्पूर्ण कर्तृत्व भाव से पूर्णतः विरक्त हुए। संसार की अशेष स्थितियों के ज्ञाता हो गये। वीतराग भाव परिणत होने से कर्तृत्व बुद्धि का अभाव और मात्र ज्ञातृत्व बुद्धि का प्रकाशन हुआ। एक मात्र चैतन्य धातु (आत्मतत्त्व) के विकास का ही एक मात्र प्रयास किया। अतः तदनुसार आप स्वयं विज्ञान घन स्वरूप हुए। ज्ञान शरीरी त्रिविध कर्म मल वर्जित हो गये। अब एक मात्र केवल ज्ञान रूप रवि ही सर्वात्मरूप से प्रकट हुआ ॥ १२ ॥

भो जिन ! सयोग केवली दशा में रहते हुए जब आयु कर्म क्षीण हो जाता है अर्थात् आयु के पूर्ण होने पर शेष अघातिया कर्म जो आत्मस्वरूप से वहिर्भूत हैं उनका भी अभाव किया। तदनन्तर समय में ही आपने अनन्त, विशुद्ध, अभूतपूर्व, अलौकिक, निश्चल, परम विशुद्ध परम ज्योति पुञ्जमयी, अनन्त सिद्धत्व अवस्था को प्राप्त किया ॥ १३ ॥

अब आपका विशुद्ध आत्मतत्व एक मात्र चैतन्य रूप में समग्रता को प्राप्त हुआ। अनन्त वीर्यादि गुण प्रकट प्रकाशित हो गये। अब समग्र आत्म द्रव्य एक मात्र चिद् पर्याय रूप ही अनन्त काल तक रहेगी क्योंकि परिवर्तन के निमित्तों का पूर्ण अभाव हो गया। अब चैत न्य पुञ्ज द्रव्य यथा जात तथा रूप ही रहेगा। अपने द्रव्यत्वस्वभाव का परित्याग कर अन्य पर्याय रूप कभी भी परिणमन नहीं करेगा। शुद्ध चैतन्य अन्य पर्याय धारण नहीं करता ॥ १४ ॥

निजात्मवीर्य के साहचर्य से अपनी निजात्म की अनन्त स्वभाव शक्तियों की माला को आपने स्पष्ट प्रत्यक्ष अवलोकन किया। उसी अपने प्रकट आत्म प्रकाश के माध्यम से तीनों लोकों की अनन्त धर्मात्मक अर्थात् अनन्त द्रव्य, गुण, पर्यायों से युक्त पदार्थ मालिका को भी प्रत्यक्ष किया इसी से आपका अनेकान्त सिद्धान्त अकाट्य, अबाध और अविरोधी सिद्ध होता है। आपका अनन्तज्ञान, अनन्तशक्ति रूप सचिव के साचिव्य से प्रवृत्त होता है। अनन्त सुख शील, दर्शन का अधिपति आत्मा स्वयं के द्वारा स्वयं में स्वयं शिवराज्य का अधिपति हुआ। अनन्तवीर्य को अपना मन्त्री नियुक्त कर तीनों लोकों का ज्ञाता हो गया। हे जिन ! आपकी महिमा अपार है। ॥ १५ ॥

सम्पूर्ण पदार्थों के द्वारा विस्तृत त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायों के समूह को व्याप्त कर उनके साथ स्वंय को भी निश्चय से एक केवलज्ञान द्वारा आपने ज्ञात कर लिया। आप स्वयं अनन्तता को प्राप्त हुए। अर्थात् अनन्तकाल पर्यन्त अपने अनन्त गुण पर्यायों को विशुद्धता को धारण कर अजर-अमर अवस्था में स्थित हुए ॥ १६ ॥

संसार के समस्त पदार्थ समूहों में आपका ज्ञान व्याप्त हो हुआ, होगा (होता रहेगा) और हो रहा है। एक ही समय में एक साथ सर्व को आत्मसात कर लेता है। अर्थात् अशेष वस्तु तत्त्व आपके क्षायिक, निर्मल, समुज्ज्वल पूर्ण ज्ञान की स्वच्छता में दर्पणतल समान प्रतिभासित हुए, ज्ञान अविनश्वर होने से होते रहेंगे और वर्तमान में तो चमक ही रहे हैं। आप में मानों उदीयमान ज्योति समाहित हो गई है। हे देव! अशेष ज्योतिपुञ्ज स्वयं आ आप में ही समाहित हो गया है ॥ १७ ॥

हे देव! संसार के समस्त चराचर (जड़-जंगम) पदार्थों की तृष्णा से निवृत्त हो आपका स्थायी आत्म विक्रम (पराक्रम) स्व-स्वरूप में ही व्यापृत हो गया है। यही कारण है कि पर पदार्थों से पराङ्मुख होकर आपके चिदंश

अपने स्वभाव से आप ही में समाहित हो मैत्रीभाव से स्थित हो गये हैं । प्रत्येक आत्मप्रदेश से आनन्दामृत का झरना अविरल रूप से प्रवाहित होता है ॥ १८ ॥

अनन्त और अति अगाध तरंगिनी का आनन्द स्रोत अजस्र प्रवाहित होता हुआ अनन्त गुण रूपी विशिष्ट पादपों का अभिसिंचन करती रहती है । आप स्वयं आत्मा के द्वारा आत्मा को अनन्य स्वभाव से अनुभव करते हैं । यह आत्मानुभूति त्रैकालिक रूप से एक साथ अनुभूत होती है । सिद्धात्मा अपने शुद्ध स्वभावोपलब्धि हो जाने से उसी में तल्लीन रहते हैं ॥ १९ ॥

क्षायोपशमिक ज्ञानावस्था में आत्मा का ज्ञान प्रकाश अनन्त भेदों में प्रवृत्ति करता था । उन अशेष भेदों का एकीकरण कर आपने केवल ज्ञान में केन्द्रित कर लिया । अर्थात् आत्मतेज को एक साथ सम्पुट कर एक समय में एक साथ अनन्त भेदों का ग्राही कर लिया । हे देव! तुम अपने आत्म स्वरूप में अन्तर्लीन हो आत्मशक्ति को प्रकट कर इसे अनेक धर्मात्मक रूप में देखते हो । ज्ञानशक्ति और दर्शनशक्ति दोनों ही एक साथ अनन्त रूप मे अध्यवसाय करती हैं ॥ २० ॥

हे जिन! सर्वज्ञता भाव से भावित आप परम ज्ञाता हो गये । आपकी ज्ञायकशक्ति एकरूप हो विभिन्न शक्तियों रूप वैभव को विषय करती है । अगाध -असीम गहराई के साथ केवलज्ञान की अखण्ड किरणे श्रेष्ठ माला के समान प्रसरित हैं । अनन्त पदार्थों और पर्यायों से अभिव्याप्त होकर भी वे अपनी तीक्ष्ण प्रकाश स्वरूपता को तनिक भी परित्याग नहीं करतीं ॥ २१ ॥

आपका कैवल्यप्रकाश अनन्तरूपों में अभिव्याप्त होकर भी अपने शान्त तेज में निविष्ट रहता है । आपकी आत्मा में ही तद्रूप निवास करता हुआ स्पष्ट रूप से आत्मस्वरूप को प्रतिभासित करता है । सम्पूर्ण शक्तियाँ

इस तीक्ष्ण और व्यापी प्रकाश पुञ्ज में एक मात्र चैतन्य स्वभाव से ही संकलित होकर स्फुरायमान होती हैं । ज्ञानमात्र में ही अनुभवन कराने की योग्यता है क्योंकि यह ज्ञायक स्वभावरूप है । अन्यशक्तियाँ इसी चैतन्य से ज्ञापित होती हैं ।। २२ ।।

हे भगवन्! आप अपने अनन्त ज्ञान द्वारा आत्मा को अनन्त स्वरूप ज्ञात करते हैं और इसी से अन्य अनन्त आत्माओं को भी अपनी इसी ज्ञायकशक्ति के ज्ञेय बनाकर उन्हें भी अवगत करते हैं । इस प्रकार प्रचण्डता से समस्त पदार्थों का समूह रूप से आपके में स्पष्ट दृष्टिगत होता है । यह आपकी निज शक्तिचक्र (समूह) ही आपके ईश्वरत्व को प्रकट स्पष्ट करती है । अर्थात् आप में ईश्वरत्व कहीं अन्य से प्राप्त नहीं है अपितु आप ही की आत्मशक्ति से उपलब्ध है ।। २३ ।।

अपने जिन स्वभाव में समाहित और सुरक्षित स्वभाव, निराकुल आत्मा का द्योतन करता है । यह प्रभाव पर की सहायता की अपेक्षा से विहीन आप में उल्लसित होता है । स्वानुभव का विषयभूत सर्वतंत्र स्वतंत्र होता हुआ निरन्तर आनन्दामृत का अजस्र स्रोत परम्परा को प्रवाहित करता है । आत्मोत्थ आत्मानुभवोत्पन्न आत्मानन्द आत्मा में अमन्दरूप से प्रवाहित रहेगा । अर्थात् यह अनन्तकाल तक ज्यों का त्यों बना रहेगा । आत्म स्वातन्त्र्य की अपूर्व महिमा है, जो अपने ही स्वभाव में निरन्तर स्थित रहेगा ।। २४ ।।

हे प्रभो! इसी अखण्ड, अक्षय भावना के द्वारा मुझे भी मेरी इसी केन्द्रीभूत, उत्कृष्ट आत्म ज्योति में प्रविष्टि करिये । अर्थात् जिस प्रकार अग्नि कण लौह पिण्ड में प्रविष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार मेरी अखण्डज्योति मुझ में अभिव्याप्त हो जावे । मेरे ही अज्ञानभाव के कारण आज भी उस एक चिन्मय प्रकाश को मुझरूप नहीं होने दे रहा है । अतः मेरे गुण मुझमें प्रकट हों इस प्रकार का प्रसाद करें । हे प्रभो! मेरी प्रमाद दशा का अभाव हो ।। २५ ।।

अध्याय 7

असीम संसारमहिम्नि पञ्चधा
व्रजन् परावृत्ति मनन्तशो वसः ।
लगाम्ययं देवबलात्क्वचिदञ्छले
स्वधाम्नि विश्रान्ति विधायिनस्तव ॥1 ॥

कषायसङ्घट्टनघृष्टशेषया
[illegible] चित्कलया [illegible] ।
क्रियान् क्रियान् प्रकाशस्तव भूतिभासने
भवत्यलानन्दिन कुत्र जातुचित् ॥2 ॥

क्रियत् क्रियत् स्फुटं किञ्चिदनादिसंवृतं
क्रियञ्चलन् किञ्चिदतीवनिर्वृतम् ।
क्रियन् स्पृशा किञ्चिदसंस्पृशन् मम
त्वयीशनेजः करुणं विषीदति ।।3 ॥

प्रलापविश्वं सकलं बलाद्भवान्
मम स्वयं प्रक्षरितोऽतिवत्सलः ।
पिपासितोऽत्यन्ततम बोधदुर्बलः
क्षमेन पातुं क्रियदीश मादृशः ॥4 ॥

अयं भवद्बो धसुधैक सीकरो
ममाद्यमात्रापरिणामकाङ्क्षिणः।
क्रमेण संधुक्षितबोधतेजसा
मयैव पेयस्य कलो भवानपि॥5॥

अनारतं बोधरसायनं पिबन्
खण्डितान्तर्बहिरङ्गसंयमः।
ध्रुवं भविष्यामि समः स्वयं त्वया
नसाध्यते किं हि गृहीतसंयमैः॥6॥

व्यतीत संख्येष्वपि शक्तयरक्षया
स्थितस्य मे संयमलब्धि धामसु।
सदागुण श्रेणि शिखामणिश्रिव
विभो कियद्दूरमिदं पदं नव॥7॥

उपर्युपर्युर्जित वीर्यसम्पदा विभो
विभिन्दंस्तव तत्त्वमस्म्यहम्।
अलब्धविज्ञानधनस्य योगिनो
न बोध सौहित्य मुपैति मानसम्॥8॥

अजस्रम श्रान्त विवेकधारया
सुदारुणं देव मम व्यवस्यतः।
स्वयं जयन्त्यल्लसिताद्भुतोदयाः
क्षणप्रहीणावरणामनो भुवः॥9॥

समामृतक्षालनगाढकर्मणा
कषायकालुष्यमपास्य तत्समम्।

ममाद्य सद्यः स्फुटबोधमण्डलं

प्रसह्य साक्षाद्भवतीशते महः ॥10 ॥

त्वमात्मसात्मज्ञ चिदेक वृत्तिता

मशिश्रियः शोषित रात्र दुर्गदः ।

परे तुराग ज्ज्वरसात्म्यलामा

विशान्ति बालाविषयान्विषोपमान् ॥11 ॥

क्रियत्क्रियन् संयमसीमवर्त्मनि

क्रियारतेनाप्यपरा क्रिया घ्नना ।

त्वयेदमुच्चण्ड चिदेक विक्रमैः

समस्त कर्तृत्वमपाकृतं हठात् ॥12 ॥

अकर्तृसंवेदन धाम्नि सुस्थितः

प्रसह्य पीत्वा सकलं चराचरम् ।

त्वमेष्ट पश्यस्य निशं निरुत्सुकः

स्वधातुपोषोपचितं निजं वपुः ॥13 ॥

नवाऽर्हतोऽत्यन्त महिम्नि संस्थितिं

स्वसीमलग्नाखिल विश्वसम्पदः ।

सदा निरुच्छ्वासधृतात स्वशक्तयः

स्वभावसीमान भिन्दते ॥14 ॥

तवेदमुच्चावचमीशमजाय

जयत्यनन्ताद्भुतसत्त्ववैभवम् ।

स्वतत्त्व एव स्फुरदात्मयन्त्रितं

चिदुद्गमोद्गारतरङ्गितं महः ॥15 ॥

स्पृशन्नपि स्वां सुभरेण भूयसा
समुच्छ्वसद्विश्वमिदं स्वसीमनि।
परेण सर्वत्र सदाप्यलङ्घित
स्वभावसीमा जिननाभि भूयसे ॥16॥
स्वभावसीमानमनन्यबाधितां
स्पृशन्ति भावाः स्वयमेव शाश्वतीम्।
परः परस्यास्ति कृतोऽपि तेन न
क्रियेति शान्ता त्वयि शुद्धबोद्धरि ॥17॥
अकर्तृविज्ञातृ नवेदमद्भुत
स्फुट प्रकाशं सततोदितं महः।
न जात्वपि प्रस्खलति स्वशक्तिभि
भरेण संधारितमात्मनात्मनि ॥18॥
नवेति विस्पष्ट विकाशमुल्लस
द्विलीनदिक्कालविभाग मेककम्।
क्रऽडन क्रियाकारक चक्रम क्रमान्
स्वभावमात्रं परितोऽपि वल्गति ॥19॥
प्रवर्त्तते नैव न चातिवर्त्तते
स्वभाव एवोदयते निराकुलम्।
अपेलवोल्लासविलालमांसल
स्वशक्तिसम्भारभृतं भवन्महः ॥20॥
भृतोऽपि भूयो म्रियसे स्वधामभिः
स्वतः प्रतृप्तोऽपि पुनः प्रतृप्यसि।

असीमवृद्धोऽपि पुनर्विवर्द्धसे
महिम्नि सीमैव न सा भवादृशाम् ॥21 ॥
त्वमात्मणाहात्म्य निराकुलोऽपि सन्
न तीक्ष्णतां मुञ्चसि देव! जातुचित् ।
सदैव यत्तैक्ष्ण्यमुदेनि दारुणं
नदेव माहात्म्यमुशन्ति संविदः ॥22 ॥
अनारतेत्तिजतशान्ततेजसि
त्वयि स्वयं स्फूर्जति पुष्कलौजसि ।
समक्ष संवेदन पूतचेतसां
कुतस्तम काण्डकथैव मादृशाम । ।23 ॥
हठस्फुट च्चित्कलिकोच्छलन्महो
महिम्नि विश्वस्पृशि साम्प्रतं मम ।
अखण्डदिग्मण्डल पिण्डितत्विष
स्तमो दिगन्तेष्वपि नावतिष्ठते ॥24 ॥
समन्तताश्चिद्भरनिर्भरो भवान्
जगद्भराकंस्खलदेकचित्कणम् ।
तवानुभूतिर्भवतैव योऽथवा
भवेत्तवाऽनुग्रहबृंहितोदयः । ।24 ॥छ ॥7 ॥

पाठ-७

संसार परिभ्रमण की पाँच वीथियाँ हैं । इन्हें आगम भाषा में पञ्चपरावर्तन कहते हैं यथा १. द्रव्यपरावर्तन २. क्षेत्र परावर्तन ३ कालपरावर्तन ४. भवपरावर्तन और ५. भावपरावर्तन। इनका उत्तरोत्तर अनन्त-अनन्त गुणा काल है । इन परावर्तों को अनन्तों बार घूम डाला । यह है संसार की महिमा, अभव्य की तो अनादि असीम है पर भव्य अनादि से इसे सादीसान्त कर सकता है । आप भगवन् अपने अविचल स्व चैतन्य तेज में विश्रान्ति प्राप्त कर लिए । मैं भी उसी निज ज्ञानात्मक तेज स्वरूप में अब काललब्धि वशात् अनुरक्त होता हूँ । अर्थात् यह संसार भ्रमण से निकल मैं स्वरूपोपलब्धि में प्रवेश करता हूँ ॥ १ ॥

मेरी एक मात्र चैतन्य चित् कला, निश्शेषत: कषायों के संघर्षण में प्रयत्नशील हो जाय तो आपके विश्वविकासी या संसार को प्रकाशित करने वाले प्रकाश स्वरूप को कभी भी क्या उसे पाने में सक्षम नहीं होगी ? अर्थात् अवश्य समर्थ होती ही है । प्रत्यनशील होने पर कृतकृत्यदशा प्राप्ति होती है । परमानन्द प्राप्त होता है ॥ २ ॥

हे भगवन् मेरा उत्तम ज्ञान अनादि काल से सूक्ष्म लब्ध्य पर्याप्तक दशा में आच्छादित रहा मात्र अक्षर के अनन्तवें भाग प्रमाण मात्रा में प्रकाशित रहा । अत्यन्त पुरुषार्थ से प्राप्त क्षयोपशम से कुछ और अधिक प्रकाशित होता हुआ स्पृष्ट हुआ एवं कुछ असंस्पृष्ट रहा अर्थात् सम्यक्त्व युक्त हुआ । हे ईश ! आप में आपका ज्ञान तेज पूर्ण प्रकाशित है । वही तेज पुञ्ज अपने दयापूरित भाव से मुझ दयापात्र को दुख से उन्मुक्त करता है । अर्थात् आपकी करुण दृष्टि से ही मेरा रक्षण संभव है ॥ ३ ॥

हे भगवन् आपने सम्पूर्ण संसार के दु:खों से व्याकुल पीड़ित प्राणियों को अपने अत्यन्त वात्सल्य रस से अभिसिंचित किया । मैं अपने अज्ञानतम से आच्छादित ज्ञान से अति नि:शक्त हो रहा हूँ । आपके उसी करुणा रस का पिपासु हूँ । इस प्रकार ...पात्र को हे ईश ! क्या वह

समतारस रक्षण करने में समर्थ नहीं है ? अवश्य सक्षम है । अतः आपकी दयादृष्टि ही मेरा संसार दुःखों से त्राण कर सकती है । यहाँ आचार्य श्री अपनी संसार भ्रमण की दुर्दशा से छुटकारा दिलाने वाली जिनेन्द्रभक्ति को ही समर्थ बता रहे हैं ॥ ४ ॥

हे प्रभो आपके अनन्तज्ञानामृत की एक बिन्दु मात्र का आकांक्षी आज मेरे परिणमन का हेतू होवे । यह परिणमन क्रमशः मेरे द्वारा मेरे ही ज्ञानानल के द्वारा सन्तप्त हो मधुर तेजस्वी पेय का रूप धारण कर सके । अर्थात् मैं भी आपके द्वारा प्रदर्शित प्रक्रिया द्वारा अपने आत्मीय अमीरस का आस्वादी बनूँ यही एक मात्र आकांक्षा हो ॥ ५ ॥

हे स्वामिन् ! निरन्तर अनवरत रूप से सम्यग्ज्ञान-भेद विज्ञान रूपी रसायन का पान करते हुए अन्तरंग और बाह्य सराग संयम अथवा क्षायोपशमिक भेदरूप संयम मेरा व्यवस्थित है । आपके आदर्शनीय सिद्धान्त का अनुसरण करने की विधि द्वारा सम्यक प्रकार से साधित किये जाने पर क्या आप ही के समान यथाख्यात चारित्र (संयम) ग्रहण द्वारा वैसा ही नहीं होगा ? निश्चय से अवश्यमेव हो ही जायेगा । आचार्यदेव अपनी अकाट्य श्रद्धा व्यक्त कर जिनदेव की स्तुति कर रहे हैं ॥ ६ ॥

हे विभो ! संख्यातगुणी कर्म निर्जरा की श्रृंखला को व्यतीत कर मैं संयमलब्धि स्थान के तेज में स्थित हुआ हूँ । इस स्थिति के होने पर भी निरन्तर अविच्छिन्न रूप से असंख्यातगुण श्रेणी निर्जरायुक्त श्रेणी आरोहण शिखामणि पद का आश्रय कितनी दूर है ? आपका स्वरूप कब प्राप्त हो सकेगा ? अभिप्राय यह है कि भगवान् मुझे भी आप के समान वीतराग अवस्था कब प्राप्त होगी ॥ ७ ॥

हे विभो ! आपके अनेकान्त सिद्धान्त का ज्ञाता हो आपकी उत्तरोत्तर वृद्धिंगत हुयी वीर्यशक्ति रूप सम्पदा प्राप्त कर अपनी ही आत्मतत्त्व रूपता रूप हो जाऊँ क्योंकि मेरा स्वरूप भी आप ही के समान है । योगी जन

अप्राप्तपूर्व ज्ञानधन तत्त्व को अपने ही भेदविज्ञान के साथ मैत्रीभाव स्थापितकर एकाग्रचित्त से उसे नहीं पाते क्या ? प्राप्त करते ही हैं । अर्थात् आपके आदर्श से प्राप्त शक्तियों द्वारा निजात्मशक्तियों का प्रकाशन करते हैं ।। ८ ।।

हे देव ! मेरा व्यवसाय (प्रयत्न) निरन्तर प्रवाहित विवेक रूपी दारुण धारा से श्रमित हुआ है । प्रमादयुक्त होने से कार्यकारी नहीं हो रहा । यदि निष्प्रमाद हो जाय तो स्वयं क्षणमात्र में आवरणों का संहार कर आन्तरिक शक्तियाँ आश्चर्यजनक अभ्युदयों के साथ जयशील हो जाती हैं । हे भगवन् ! आपने आत्मस्वरूपोपलब्धि में प्रबल बाधक प्रमाद बतलाया है । प्रमाद निजशक्तियों को आच्छादित करता है । अतः उस (प्रमाद) के अभाव में वे अनन्त शक्तियाँ विजयी हो जाती हैं ।। ९ ।।

कषायरूपी कलंक अर्थात् कलुषता को अत्यन्त गाढ़ प्रयत्नों द्वारा दूर कर दिया तथा साथ ही साम्यभावामृत से प्रक्षालित कर उसे मूलतः स्वच्छ बना दिया । आज शीघ्र ही मेरा ज्ञानमण्डल स्पष्ट हो गया । हे ईश-परमेश्वर ! आपका आत्म तेज प्रकृष्ट रूप से प्रत्यक्ष हो रहा है । अभिप्राय यह है कि क्रोधादि कषायें गाढ़ कज्जल सदृश हैं जो ज्ञानरूपी दर्पण को अपनी कालिमा से आच्छादित कर देती हैं । साधक इन्हें अपने सत्पुरुषार्थ अर्थात् जिन प्रणीत विधि से नष्ट कर साम्यभाव रस से प्रक्षालित करे तो आत्मज्ञान प्रकट हो जाये । उसकी निर्मलकान्ति में लोकालोक व्याप्त हो जाते हैं ।। १० ।।

भगवन् ! आप आत्मस्वरूपज्ञाता हो चैतन्य की एकमात्र धारा का आश्रय लिया । इस चिद्स्वरूप में एक लयता-एकत्वलीन हो रागरूपी दुष्कर रोग को नष्ट कर दिया । अर्थात् वीतरागभावस्थ हो राग रोग का क्षय किया । आपसे भिन्न मिथ्यामार्गी तो राग में रागी हुए उसे ही अपना स्वरूप

समझ रागज्वर को ही आत्मसात् कर विष सदृश प्राणनाशक विषयों में ही प्रवृत्त हो रहे हैं। अर्थात् अज्ञानी हरी हरादि आहारादि चारों संज्ञाओं के ज्वर से रुग्न हुए हालाहलविष सदृश विषयों को ही औषधि समझ उन्हीं का सेवन करते हैं। संसार परिभ्रमण ही कर रहे हैं ॥ ११ ॥

कितने ही स्वयं को संयमी मन्यमाना, कितने ही काल से संयम मार्ग में प्रवर्तन कर रहे हैं। परन्तु अज्ञान वश अन्य-अन्य क्रियाओं का नाश कर अन्य क्रियाकाण्डों में रत हो रहे हैं। अर्थात् वाह्याडम्बर त्याग अन्तरङ्ग विषय-कषाय रूप क्रियाओं में फंस रहे हैं। परन्तु हे जिन! आपने एक मात्र अत्यन्त उग्र तेजस्वी, चैतन्यशक्ति के पराक्रम द्वारा वाह्याभ्यन्तर अशेष क्रियाओं का बलात् निरोधकर डाला। परमपुष्ट यथाख्यात् चारित्र धारण किया ॥ १२ ॥

हे जिनदेव! आप निरन्तर कर्तृत्व बुद्धि को नष्ट कर अकर्तापने की अनुभूति के प्रकाश में ही सम्यक् प्रकार से स्थित रहते हो। अशेष चर और अचर पदार्थों की परम्परा को बलात् पीकर अपने स्वभाव में स्थित हो गये। इतना ही नहीं, अपितु परम वीतरागभाव से उत्सुकता रहित हो अहर्निश अपने ही इष्ट स्वभाव को देखते हो। अपने ही ज्ञायक स्वभाव रूप निज शरीर को आत्मीय तत्त्वों से पुष्ट करते हो। पूर्णतः उसी में तन्मय हो रहे हो ॥ १३ ॥

आपकी अर्हत् दशा की उत्तम महिमा में ही आप स्थिति प्राप्त कर सम्पूर्ण विश्व की असीम सीमा को आत्मसात् कर विश्वेश्वर हो गये। स्वयं अशेष सम्पदा आप में संलग्न हो गई। सदैव श्वासोच्छ्वास रहित अपने में समाहित शक्तियों का भेद निरूपण करते हैं। अपनी स्वाभाविक सीमा का कभी भी उल्लंघन नहीं करते ॥ १४ ॥

आपकी निरक्षरी सर्वाङ्ग से वाणी का प्रवाह प्रवाहित होता है । वह आपके अनन्त अद्भुत, सत्य तत्व प्रतिपादन के वैभव को जयशील बनाता है । अर्थात् अनादि अनन्त तत्त्वों के स्वरूप की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रहता है । अपने ही आत्मस्वभावरूप यंत्र से नियंत्रित हुआ चैतन्य से जन्य चिदोद्गागार अपने में ही प्रकाश से प्रकाशित होता है । तरंगित होता रहता है ॥ १५ ॥

अपने चैतन्य स्वभाव से परिपूर्ण अपने को ही स्पर्श करता हुआ भी अपने ही में व्याप्त रहता है । संसार स्वयं अपनी सीमा में अवस्थित है । कारण निज-निज स्वभाव पर स्वभाव द्वारा उल्लंघित नहीं किया जा सकता । हे जिन आपके सिद्धान्त में प्रत्येक तत्त्व अपनी सीमा में ही सीमित उपदिष्ट किया है । अभिप्राय यह है कि आपके चिद् स्वभाव में सर्व विश्व प्रतिबिम्बित होकर भी आप रूप नहीं होता और न ही आपका स्वभाव पर रूप होता है । यही वस्तु व्यवस्था है ॥ १६ ॥

आत्मस्वभाव अनन्य बाधित है । उसी को शाश्वतमयी भावों के भार से सम्पन्न शक्तियों से ज्ञान किरणें छूती हैं–प्रकाशित करती हैं । निश्चय नय से यही सिद्धान्त है । निज भाव से भिन्न जो कुछ भी है वह सब पर स्वरूप है । वह पर स्वभाव पर का ही है । आपके परम शुद्ध चैतन्य स्वभाव में वह किसी प्रकार भी कुछ भी विकार उत्पन्न नहीं कर सकता । आप तो अपने परम शान्त स्वभाव में ही रहते हैं ॥ १७ ॥

हे परमेश्वर ! आपका नित्योदघाटित, पूर्ण प्रकाशित, ज्ञानोद्योत अत्यन्त विलक्षण है । अद्भुत हैं क्योंकि सर्वज्ञ-सर्वज्ञाता होते हुए भी कर्तृत्त्वभाव से सर्वथा शून्य हैं । अपने ही आत्मस्वभाव से परिपूर्ण भरित हुए कभी भी स्व शक्तियों से स्खलित नहीं होते हैं ॥ १८ ॥

जिन आत्मन् ! तुम्हारा विकास इतना प्रखर और समुज्ज्वल है कि उसमें समस्त दिशा-विदिशा अन्तर्निहित हो जाते हैं । एकरूपता ही दृष्टिगत होती है । स्वयं में ही स्वयं को स्वयं अनुभव करते हो इससे क्रिया, कारक आदि भेदों से उत्पन्न क्रम व अक्रमचक्र सभी विलीन हो जाते हैं । अतः सर्वज्ञता में सर्वत्र, सदा एक मात्र निज स्वभाव ही परिलक्षित होता है । यही दशा आत्म सिद्धि कराती है ।। १९ ।।

अपने स्वभाव के अतिरिक्त अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं होती । तथा स्वभाव से भिन्न भी कुछ प्रतिभासित अपने में होता नहीं । अतः वीतराग अवस्था में आकुलता रहित सुख स्वसंवेदन रूप अपना ही स्वभाव उदीयमान रहता है । समस्त स्वभाव शक्तियाँ संघटित हो यह आत्म विलास एक ठोस और सघन प्रतापपुञ्ज से उल्लसित हो अति शोभायमान हो जाता है ।। २० ।।

स्वाभाविक षड्गुणी हानिवृद्धि के द्वारा अपनी ही सीमा में अपने ही निज स्वभाव से भरित व रिक्त होता हुआ आत्म तत्व उत्पाद व्यय ध्रौव्यता से युक्त अपना अस्तित्व स्थित रखता है । अपने ही प्रताप से अपने को तपाता है । हे जिन ! आप भी इसी सिद्धान्तानुसार अपने में तप्त होते हो । आश्चर्य यह है कि आप पूर्णवृद्धिंगत होकर भी पुनः वृद्धिंगत होते हो । तो भी आपकी सीमा जो है वही रहती है । आप आप ही के सदृश हैं । अन्य कोई उपमा नहीं । क्योंकि अपने ही ज्ञान प्रकाश में निहित रहते हो ।। २ १ ।।

हे देव ! आप अपने आत्ममहात्म्य से निराकुल हो वीतरागभाव से आत्मस्थ होकर भी अपने ज्ञान की उत्कटता का कभी भी परित्याग नहीं करते हो । जिस रूप में वह उत्तम तेज प्रकट प्रकाशित हुआ है वैसा ही अवस्थित है । उसी माहात्म्य को ज्ञानीजन निरन्तर जाज्वल्यमान रखते हैं ।

क्योंकि दारुणता से ही कठोर कर्मजन्य कालिमा पुनः प्रकट नहीं हो सकती ।। २२ ।।

आप अनन्त शान्त, पुष्ट स्वात्मोत्थ तेज में अनवरत लीन रहते हैं । यह प्रकाश स्वयं ही उत्तेजित हुआ स्फुरायमान रहता है । इस प्रकार के स्वसंवेदन से उत्पन्न पवित्र चित्तवाले ज्ञान स्वरूप के समक्ष मेरे समान अज्ञानी का अज्ञानरूपी अंधकार का समूह कैसे रह सकता है ? अर्थात् आपकी ज्ञान गुण गरिमा का प्रकाश मेरी अनुभूति में रहेगा तो मेरा भी अज्ञानतम नष्ट हो आप ही जैसा स्वरूप प्रकट हो सकेगा ।। २३ ।।

हे प्रभो आपको केवलज्ञान स्वरूप अर्हंत रूप का चिन्तन करने से ऐसा प्रतीत होता है मानो इस समय मेरे अन्तस्तल में भी वही ज्योति सहसा जाग्रत होकर स्फुरायमान हो रही है । अखण्ड दशों दिशा मण्डल में भी आपके तेज प्रभापुञ्ज के समक्ष अंधकार नहीं टिक सकता है । अभिप्राय यह है कि आपके सिद्धान्त का अनुसरण करने वाला विश्व भी अज्ञानतम से परिमुक्त हो सकता है ।। २४ ।।

आप चारों ओर से घनाकार रूप चिद् भाव से ही भरपूर हैं । यद्यपि आप अपनी ही अनुभूति में अवस्थित रहते हैं । कारण आप परम वीतराग हैं । आप अपने ही अनुग्रहकर्ता हैं । तथाऽपि यह दीन-हीन संसारी प्राणी उस चैतन्य कण में रुलता फिरता है, यदि आपका अनुग्रह हो जाय तो यह लघु ज्ञान कला वृहद् रूप को प्राप्त हो सकती है । अर्थात् आपके सिद्धान्त से अनुग्रहीत हो उदयशील बन सकेगा ।। २५ ।।

●

अध्याय 8

अनादिरक्तस्य तवायमासीन्

य एव संकीर्णरसः स्वभावः

मार्यावतारे हठमार्जितश्रीस्त्वया

कृतः शान्तरसः स एव ॥1 ॥

अशर्मभिस्तत्स्वदोषैः त्रिभुलै

रेकः कषायक्षय एव हेतुः ।

अयं कषायोपचयस्य बन्ध

हेतो र्विपर्यस्ततया त्वयेष्टः ॥2 ॥

एकः कषायानभिषेणनंस्त्वं

नित्योपयुक्तश्चतुरङ्गकर्षी ।

सर्वाभियोगेन समं व्यवस्यन्

नैकोऽप्यनेकः कलिनः कषायैः ॥3 ॥

मुहुर्मुहुर्वीक्षितचित्प्रहारैः

पलायितव्या घुटितै र्मिलाद्भिः ।

तवा प्रकम्प्योऽपि दृढैः कषायैः

स्वशक्तिसार स्तुलितः प्रधृष्य ॥4 ॥

प्रतिक्षणं संस्पृशता स्ववीर्यं
लब्ध्वान्तरं सम्यगविक्लवेन।
त्वयाऽथ तेषां विहितः प्रहारः
प्रसह्य सर्वं कष एक एव ।।5।।
साक्षात् कषायक्षपणाक्षणेऽपि
त्वमुद्वहन् केवलबोधलक्ष्मीं।
विश्वैकभोक्ताजिन पौरुषस्य
प्रभावमाविष्कृतवान् परेषाम् ।।6।।
आयुस्थितिं स्वामवसोपभोग्यां
ज्ञानैक पुञ्जोऽप्यनुवर्तमानः।
प्रदर्शयन् बत्मीशिवस्य साक्षाद्
धिताय विश्वस्य चकर्थ तीर्थम् ।।7।।
तीर्थाद्भवन्तः किल तद्भवद्भ्यो
मिथो द्वयेषामिति हेतुभावः।
अनादिसन्तानकृतावतार
श्चकास्ति बीजाङ्कुरवत् किलायम् ।।8।।
समस्तमन्तः स्पृशताऽपि विश्वं
वक्तुं समस्तं वचसामशक्तेः।
प्रत्यक्षदृष्टाऽखिल भावपुञ्जा
दनन्तभागो गदितस्त्वयैकः ।।9।।
भिन्दंस्तमोऽनादिदृढप्ररूढं
महाद्भुतस्तम्भितचित्तेः।

नवैव वक्त्रादवधारितोऽयं
सुरासुरैर्व्याप्तिमकस्तुवादः ॥10॥
वाग्विप्रुषस्ते कृतचित्रमार्गाः
प्रत्येक तीर्थप्रतिपत्ति कर्याः।
श्रुत्वाऽपि कैश्चित् समुदायबोध
शुद्धाशयैरेव धृतस्तदर्थ ॥11॥
विपक्ष सापेक्षतयैव शब्दा
स्पृशन्ति ते वस्तुविरुद्ध धर्मा।
तदेक देशेऽपि विशीर्णसाराः
स्याद्वादमुद्राविकलाः स्खलन्ति ॥12॥
इयं सदित्युक्तिरपेक्षतेऽसद्
व्यावृत्ति सीमन्त्रितत सत्प्रवृत्तिः।
जगन्समक्षां सहसैव जहुः
स्वभावसीमानमथन्यथार्थाः ॥13॥
सर्वं सादित्यैक्यमुदाहरन्ती
कृत्वाऽपि सद्भेदमसंहरन्ती।
न सनत्या पीयत एव विश्वं
पीयेत सत्तेव यदीश तेन ।।14।।
सप्रत्ययः संस्पृशतीशविश्वं
तथापि तत्रैकतमः स आत्मा।
असत्त्वसन्नन्यतयाऽभिधत्ते
द्वैतस्य नित्यप्रविजृम्भितत्वम् ।।15॥

पिबन्नपि व्याप्यहठेन विश्वं
स्खलन् किलायं स्वात्मसीम्नि।
विश्वस्य नानात्वमनादि सिद्धं
कथं भुवि ज्ञानघनः प्रमाष्टुं ।।16।।
सर्वं विदित्यैक्यमपि प्रमाष्टुं
न चेतना चेतनतां क्षमेन।
न संस्कृतस्यापि चिताजडस्य
चित्त्वं प्रतीयेत कथंञ्चनापि ।।17।।
प्रत्यक्षमुत्तिष्ठति निष्ठुरेयं
स्याद्वादमुद्राहठकारतस्ते।
अनेकशः शब्दपथोपनीतं
संस्कृत्य विश्वं सममस्खलन्ती ।।18।।
अवस्थिति सा तवदेव दृष्टे
र्विरुद्धधर्मेष्वनवस्थितिर्या
स्खलन्ति यद्यत्र गिरः स्खलन्तु,
जानं हि नावन्महदन्तरालम् ।।19।।
गिरां बला धान विधानहेतोः
स्याद्वादमुद्रामसृजस्त्वमेव।
तदङ्किताास्ते तदतत्स्वभावं
ददान्ति वस्तु स्वयमस्खलन्नः ।।20।।
परात्मनोस्तुल्य मनादिदुःख
प्रबन्धनिर्भेदफलप्रयासः।

आयासयन्नप्यपरान् परेषा

मुपासनीय स्त्वमिहैक आसीः ॥21 ॥

व्यापारयद्‌ुःख विनोदनार्थ

मारोपय दुःख भरं प्रसह्य ।

पौरश्धृष्यं जिनशासनं ते

दुःखस्य मूलान्यपि कृन्ततीह ॥22 ॥

समामृत स्वाद विदां मुनीना

मु[illegible]दुःखाकारोऽपि सौख्यम्

पयो रसज्ञस्य यथा वृषारे

हठाग्नितप्तं पिबतः पयोऽत्र ॥23 ॥

अमन्द संवेदन सान्द्र मूर्त्तिः

समग्रवीर्याति शयोपपन्नः ।

निः शेषिताऽशेष कलङ्क पङ्कः

कोऽन्यो भवेदाप्ततरो भवन्तः ॥24 ॥

यतरत्तवेदं प्रतिभाति शब्द

ब्रह्मैकाचिन्मण्डपकोण चुम्बि ।

ततः परं ब्रह्म भवानिहैको

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् ॥24 ॥छ ॥4 ॥

पाठ-८

हे भगवन् ! आपका अनादिकाल से स्वभाव कषाय रंग से अनुरञ्जित था । इसी से वह संकीर्ण हो रहा था । मिथ्यात्व, अज्ञान, प्रमादादि से आच्छादित था । भला विकसित कैसे होता ? अतः संकुचित हो रहा था । हे प्रभो आपने इसे अवगत कर शिवमग में प्रवेश किया और बलात् आपके द्वारा अन्तरंग-बहिरङ्ग लक्ष्मी अर्जित की गई । कषाय शत्रुओं का सर्वथा क्षयकर अनन्तज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुखरूप अनन्त चतुष्टय स्वरूप अन्तरंग लक्ष्मी एवं समवशरण विभूति बहिरंग प्राप्त की । फलतः कषायों से उग्रतम वही स्वभाव रस परम शान्तरस में परिणमित हो गया । अपने स्वभाव को परमोत्तम शान्तरस में संक्रमित कर लिया । आचार्य देव स्वयं भी इसी पथ पर आरुढ़ होना चाहते हैं ॥ १ ॥

जीवन्मुक्त होने पर आप सर्वज्ञ हुए । आप समस्त तत्त्वों को अबाधित रुप से ज्ञात कर अर्हत् अवस्था प्राप्त हो गये । इसका हेतू एक मात्र कषायों का क्षय होना ही है । इन कषायों का समूह ही बन्ध का हेतू है । कषाय सकिन सदृश कर्मों को चिपका कर आत्मा को बंधनवद्ध कर कटु व मधुर फल प्रदान कर संसार भ्रमण कराती हैं । इसीलिए इससे विपरीत संवेग, वैराग्य रूप विरक्ति मार्ग ही आपने इष्ट समझा और संयम धारण कर उस पर चल अपने इष्ट की सिद्धि की ॥ २ ॥

हे भगवन् ! आपने सम्यक् रूप से ज्ञात कर लिया कि कषायों के द्वारा मेरा एक अविचल रूप नाना प्रकार का हो रहा है । ये ही नित्य उपयुक्त होकर स्वरूपोपलब्धि की साधक सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूप चारों आराधनाओं का घात कर रही हैं । इस प्रकार अवगत कर आपनेकषायों की चमू (सेना) पर आपने पूर्ण प्रयास के साथ आक्रमण किया और एक मात्र स्वयं के प्रयत्न से परास्त करने का प्रयास किया ॥ ३ ॥

बारम्बार आपके चित् स्वभाव के द्वारा प्रहार किये गये, जिनसे ये कषाय रिपु वंचित किये गये । उन चैतन्य के शस्त्रों के प्रहार से भग्न जाना चाहिए । इस प्रकार मानों वे पीछे हटीं । फिर भी उन कषायों के आक्रमण किये जाने पर भी आप (भगवन्) निष्कम्प ही बने रहे । उन दुष्ट कषायों को परास्त करने-उनका सामना करने में अपनी पूर्ण शक्ति का प्रयोग किया । क्योंकि आपने अपना दृढ़ संकल्प उनके नाश का कर लिया था ।। ४ ।।

हे प्रभो ! प्रतिक्षण आप अपने आत्मवीर्य में संतुलित रहे । मध्यान्तर में आप पूर्ण सतर्कता से अविचल ही बने रहे । अर्थात् निश्चल एकाग्र चिन्ता निरोध से ध्यानस्थ रहे । फलतः आपके द्वारा उनके प्रहारों ने आपको विचलित नहीं किया । समताभाव से वीतराग परिणति से आप स्वयं अपने ही स्व वीर्य द्वारा इस कषौटी पर खरे सिद्ध हुए । अभिप्राय यह है कि कषायों ने आपको ध्यान च्युत करने की भरपूर चेष्टा की परन्तु आप अपने संकल्प से तनिक भी विचलित नहीं हुए । अग्रतर ही होते रहे और दुष्ट कषायों का क्षय कर ही दिया ।। ५ ।।

उपर्युक्त प्रकार दृढ़ संकल्प के बल से आपने अशेष कषायों का निःशेष क्षय कर ही दिया । अन्य सर्वज्ञता के घातक कर्म बलहीन हो स्वयं ही पलायित हो गये और आप निज निधि केवलज्ञान लक्ष्मी के अधीश हो गये । अपने ही पुरुषार्थ से आप अशेष विश्व के भोक्ता हो गये अर्थात् ज्ञाता होकर दृष्टा बने और एक साथ तीनों लोकों को अपने ज्ञान का विषय बना लिया । अभिप्राय यह है कि निश्चयनय से अपने ही चैतन्य स्वभाव ज्ञान-दर्शनादि गुणों के ज्ञाता-दृष्टा व भोक्ता हुए । अनन्त सुख के भोक्ता हो गये । व्यवहार नय दृष्टि से पर रूप संसार के ज्ञाता-दृष्टा-भोक्ता हुए । इस प्रकार आपने निज स्वभाव से अपनी आत्मीय सम्पत्ति को प्राप्त किया और अन्य भव्यों को भी आत्म स्वातन्त्र्य प्राप्ति का मार्ग प्रदर्शित किया ।। ६ ।।

हे स्वामिन् ! आप अपने एक मात्र पूर्ण स्वरूप से प्रकट केवलज्ञान के प्रकाशपुञ्ज में पूर्ण उपयोग से तल्लीन हो गये । ज्ञानधन स्वरूप के ही भोक्ता हुए । यद्यपि पूर्ण वीतराग परिणति से परिणत हो गये । तथाऽपि आयु कर्म की स्थिति ने आप को समवशरण में रोक कर विराजमान कर लिया । इस प्रकार मोक्ष के मार्ग का प्रत्यक्ष प्रदर्शन करते हुए आपने संसार के भव्य जीवों के कल्याणार्थ धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया । भव्यों के तीव्र पुण्योदय से राग विरहित होने पर भी आपकी दिव्य ध्वनि प्रकट हुयी और धर्मोपदेश द्वारा मोक्षमार्ग प्रदर्शित किया गया ।। ७ ।।

अनन्त धर्मों से युक्त वस्तु तत्त्व है । अनन्त वस्तुओं से विश्व खचित है । भगवन ! वह सकल विश्व आपके ज्ञान में स्पष्ट झलकता है । इस प्रकार विश्व के ज्ञाता होकर भी आप उसका पूर्णतः प्रतिपादन नहीं कर पाते । क्योंकि प्रतिपादक वचनों की शक्ति सीमित है । आपका ज्ञान जितना जानता है, उतना प्रतिपादन में समर्थ होते हुए उसके वाचक वचनों की असमर्थता है । यही कारण है कि अखिल विश्व के अशेष पदार्थपुञ्ज के प्रत्यक्ष दृष्टा (देखनेवाले) होते हुए भी आपके द्वारा उनका अनन्तवाँ भाग मात्र प्रतिपादित किया गया है ।। ९ ।।

हे जिन् ! आपके महान अद्भुत उत्तुंग ध्यान-शुक्लध्यान से निरुद्ध चित्त के प्रभाव से अनादिकालीन सुदृढ प्रकट प्रसरित मोहांधकार नष्ट कर दिया गया । इसी कारण से सुर, असुरों आदि द्वारा निश्चय व्यवहार नयों की अपेक्षा वस्तु तत्त्व के प्रतिपादक निर्धारण किया गया है । यह सुनिश्चित है कि आप ही तत्त्व के यथार्थ स्वरूप के ज्ञाता-दृष्टा होने से सन्मार्गोपदेष्टा हैं । क्योंकि कारण से कार्य की सिद्धि प्रसिद्ध है ।। १० ।।

जिन शासन अनाद्यनन्त है । अनन्तों तीर्थंकरों ने अपने-अपने तीर्थ प्रवर्तन काल में उस अनेकान्तात्मक श्रेयमार्ग का अवबोध कराया है । अनन्त

श्रोताओं ने उस सिद्धान्त को स्याद्वादशैली में श्रवण किया। तथाऽपि कुछ ही शुद्ध अभिप्राय वाले भव्यों ने ही उसके यथार्थ स्वरूप को ज्ञात कर धारण किया ।। ११ ।।

शब्दों में वस्तु स्वरूप के अनुसार विधि-निषेध रूप पक्षों के निरुपण करने की योग्यता विद्यमान है। एक ही वस्तु में अनन्त विरोधी धर्म विद्यमान हैं। उनकी अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से ही होती है। इस प्रकार अनेकान्त सिद्धान्त में विरोधी धर्म भी अविरोध रूप से एक ही पदार्थ में रहकर उसके अस्तित्त्व अक्षुण्ण बनाये रहते हैं। किन्तु जिनके एकान्ती सिद्धान्त में वस्तु की सर्वाङ्ग विवेचना न होकर एकाङ्गी निरूपण है वे एकान्तवादी स्याद्वादमुद्रा से रहित होने से विनष्ट हो जाते हैं। उनके द्वारा वस्तु का यथार्थ विवेचन नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तु स्वयं अपेक्षावाद की अपेक्षा रखती है। कारण वस्तु सामान्य विशेषात्मक उभयं धर्मों से युक्त है ।। १२ ।।

"यह सत् है" इस प्रकार का कथन असत् की अपेक्षा करता है। क्योंकि 'सत्' की प्रवृति अपने व्यावृत धर्म के साथ स्थिति रखती है। वस्तु धर्म की यही सीमा है। जिस प्रकार "इस समय दिन है" ऐसा कहते ही रात्रि नहीं है यह निषेधात्मक उक्ति स्वयं आ उपस्थित होती है। यह स्वाभाविक सिद्धान्त है। स्वभाव की सीमा को संसार त्याग दे तो अर्थ ही अन्यथा हो जाये। अर्थात् वस्तु तत्त्व ही नहीं रहेगा। सर्वत्र अव्यवस्था हो जायेगी। अमुक वस्तु इसी प्रकार ही है अन्य प्रकार नहीं यह कथन ही सिद्ध नहीं होगा। अथवा किसी भी पदार्थ का स्वरूप ही निर्धारित नहीं होगा। स्वरूप शून्यता का प्रसंग आयेगा। संकर दोष भी उत्पन्न हो जायेगा ।। १३ ।।

हे जिनेन्द्र ! आपका सिद्धान्त अनेकान्त से सम्पूर्ण पदार्थ सत् रूप हैं, इस कथन से वस्तु तत्त्व का सामान्य स्वरूप से अभेद सिद्ध होते हुए भी सत्ता के भेद का अभाव नहीं होता । अर्थात् सामान्य की मुख्यता से सत् अभेद (एक) रूप है तो विशेष गौण होकर भेद रूपता को भी रखता है । यदि मुख-गौण अपेक्षा से तत्त्व को भेदाभेद न माना जाय तो एकान्त रूप से सत् प्रत्यय की व्यापक व्यवस्था नहीं टिक सकती । इसलिए हे ईश ! जिन ! आपका सिद्धान्त ही अविरोधी है सापेक्ष होने से । यही अशेष विश्व को अपने में समाहित करने की क्षमता रखता है ।। १४ ।।

हे ईश ! आपके द्वारा प्रतिपादित दर्शनानुसार आत्मा अपने ज्ञान घन स्वरूप से समस्त विश्व को व्याप्य कर रहती है । परन्तु तो भी वह आत्मा अपने एकत्त्व स्वभाव से च्युत नहीं होती । अत: एक अखण्ड ही रहती है । क्योंकि सत् और असत् विरोधी धर्म होकर भी एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं । तत्त्व नित्य ही द्वैतभाव से अवस्थित रहता है । एकान्त अद्वैत कभी भी सिद्ध नहीं होता । जो स्वयं असिद्ध है वह अन्य वस्तु तत्त्व की सिद्धि किस प्रकार कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता । अत: सभी ऐकान्तिक सिन्द्धान्त मिथ्या है । आपका ही सिद्धान्त समीचीन सिद्ध होता है ।। १५ ।।

आत्मा बलात् सम्पूर्ण संसार के नाना द्रव्य पर्यायों को आत्मसात करती है अर्थात् अपने विश्वव्यापी ज्ञान द्वारा प्रतिभासित करती है । परन्तु तो भी ये स्व और पर की सीमा में निश्चय से विद्यमान रहते हैं । अर्थात् आत्मा अपने आत्मीय स्वभाव में और अन्य तत्त्व अपने-अपने स्वभाव में ही स्थित हो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप से परिणमन करते हुए अपना अस्तित्व रखते हैं । पदार्थों का नाना पना अनादि सिद्ध है । फिर भला ज्ञानघन संसार में उसे किस प्रकार लोप कर सकता है ? ज्ञान का स्वभाव तो जो पदार्थ जैसा है उसी रूप में उसे प्रकट दर्शाने का ही है ।। १६ ।।

सम्पूर्ण पदार्थों की गुण, द्रव्य, पर्यायों को युगपत् एक समय में ज्ञात कर भी स्वयं अपनी चैतन्य वृत्ति को त्यागने में समर्थ नहीं होते । क्योंकि सद् का अभाव हो ही नहीं सकता । जड़ या अचेतन पदार्थ का सत्ता कितनी ही संस्कृत हो जाय अर्थात् चेतन के साथ मिलकर कितनी ही संस्कृत हुयी हो तो भी कभी भी चेतनत्व रूप से प्रतीति में नहीं आती । अभिप्राय यह है कि भगवन् आपके सिद्धान्त में एक द्रव्य दूसरे रूप परिणमन नहीं करते । स्व द्रव्यापेक्षा 'अस्ति' और पर द्रव्यापेक्षा 'नास्तित्व' धर्म ही सिद्ध होते हैं ॥ १७ ॥

आपके सिद्धान्त की प्रतिपादक शैली स्याद्वाद मुद्रांकित है । 'स्यात्' शब्द एकान्त का कट्टर विरोधी है । यह कठोरता पूर्वक पदार्थों की स्थिति को प्रत्यक्ष दर्शाती है । अनेक प्रकार से शब्दमार्ग में प्राप्त हो उनके अनेकार्थों सुसंस्कृत कर विभिन्न धर्मों में विचलित न होकर उन्हें सुसंस्कारित कर यथातथ्य रूप में वचनों का विषय बना देती है । स्याद्वाद शैली में ही यह क्षमता है कि विचित्र नाना धर्मों को अविरोध रूप से दर्शा सके ॥ १८ ॥

वस्तु में अनेकों विरोधी धर्म विद्यमान रहते हैं, जो अनवस्थिति प्रतीत होती है, परन्तु हे देव आपके सिद्धान्त में वे सम्यक् अवस्थिति प्राप्त करते हैं । यद्यपि वाणी-वचनावली उन्हें कथन करने में एक साथ समर्थ नहीं हो तो मत होवे, क्योंकि शब्दों में एक साथ कथन की सामर्थ्य नहीं है । कारण उनमें महान अन्तर होता है । परन्तु आपका "अवक्तव्य" स्याद्वाद शैली का अंग उन सभी विरोधी धर्मों को व्यवस्थित बनाये रहता है । इसका अभिप्राय यह है कि परस्पर विरोधी धर्मों का एक साथ कथन नहीं हो सकता इससे उन धर्मों का अस्तित्व या वस्तु की सत्ता समाप्त नहीं हो जाती ॥ १९ ॥

वाणी में तत्त्व स्वरूप प्रतिपादन की शक्ति स्याद्वादमुद्रा के द्वारा ही आती है । इस शैली के हे जिन ! आप ही प्रतिपादक हैं । अतः वाणी में प्रतिपाद्यशक्ति के आप ही कारण हैं । उस स्याद्वाद मुद्रा से अंकित आपका सिद्धान्त तद् व अतद् स्वभावों को स्वयं अस्खलित रहकर वस्तु में अर्पित करती है । प्रत्येक धर्म कथंचिद् स्वभाव के निमित्त से वस्तु में अनेकों विरोधी स्वभावों को निर्विरोध सिद्ध होते हैं ॥ २० ॥

हे जिन ! आपके सिद्धान्त के बहिर्भूत प्राणी पर और स्व को एक रूप समझ बहिरात्मा अनादि दुःख को नष्ट करने का विफल प्रयास कर रहे हैं । निष्फल प्रयास के श्रम से श्रमित हुए उन मिथ्यादृष्टियों के अन्ततोगत्वा आप ही शरणभूत होते हैं । अर्थात् संसारभय से भयभीत हुए वे आपकी ही उपासना करते हैं । इस प्रकार आप अपने विरोधियों को भी शिवसुख मार्ग प्रदर्शन कर उनके द्वारा पूज्य होते हो । भेद-विज्ञान बिना आत्मीय सुख प्राप्ति असंभव है । वह भेद-विज्ञान भी आपके सिद्धान्त सिवाय अन्यत्र होना भी असंभव है । अतः एक मात्र आप ही उपासनीय सिद्ध होते हो ॥ २१ ॥

जन्म, जरा, मरणादि संसार दुःखों से छुटकारा पाने के लिए बाल वत प्रयास करते हुए भी मिथ्यात्वी अज्ञानवश और अधिक दुःख के भार को ही वहन करते हैं । उन मोहान्धों के दुःख के मूल को उखाड़ फेंकने में आपका जिनशासन ही समर्थ है । आपके द्वारा निर्दिष्ट पथ पर आरूढ़ होने वाला ही भेद-विज्ञान रूपी तीक्ष्ण छेनी से संसारदुःख रूपी वृक्ष की जड़ का उन्मूलन करने में समर्थ होती है । आपका शासन ही एकमात्र दुखियों की शरण है ॥ २२ ॥

वीतरागी मुनिराज समता सुधा के स्वाद के ज्ञाता होते हैं । वे बाह्य उपसर्ग, परीषहों के आघातजन्य महादुःख से युक्त भी आत्मीय सुखनिष्ठ रहते हैं । अर्थात् बाह्य अचेतन जड़ जन्य दुःखों से वे कभी भी स्वस्वभाव च्युत नहीं होते । जिस प्रकार दुग्धरस पान का ज्ञाता उग्र अग्नि तप्त होने पर भी वह दुग्ध का ही पान करता है विषाक्त रस का नहीं । अथवा विष पान करता हुआ भी पयपानरसज्ञ उसे दुग्धरस का ही अनुभव करता है । बाह्य पीड़ा की चिन्ता न कर विडाल गरम-गरम दूध पान करने में ही निमग्न रहता है । बाह्य विपत्ति की चिन्ता नहीं करता ॥ २३ ॥

सदैव निरन्तर, परिपूर्ण आत्म संवेदन की मूर्ति स्वरूप आप ही हैं । क्योंकि पूर्ण प्रयास से प्रकट कर अपने आत्मवीर्य के अतिशय से उसे उत्पन्न किया है । सम्पूर्ण कर्मकलङ्क को आमूल चूल नष्ट करने में अन्य कौन समर्थ हो सकता है ? आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी उस कर्मकालिमारूप पंक का प्रक्षालन करने में समर्थ नहीं है । इसलिए आप ही आप्त हैं–सच्चे देव हैं । आप से अधिक अन्य कोई है ही नहीं । सर्व दोष (अठारह) दोषों से रहित ही आप्त कहलाता है । उन दोषों का आपने ही नाश किया है । अतः आप ही अर्ह-पूज्यदेवाधिदेव हैं ॥ २४ ॥

हे जिन ! एक मात्र आप ही अपने ज्ञायक स्वभाव से सम्पूर्ण शब्द ब्रह्म के वितान के शिखर को ज्ञात करने में समर्थ हुए हो । क्योंकि वह सर्व व्यापी ज्ञान आप में ही प्रकट प्रतिभासित हो रहा है । पूर्ण क्षायिक निरावरण अनन्त केवलज्ञान अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता । अतः संसार में एक मात्र आप ही ब्रह्म हैं । आपके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं । आपके सर्वज्ञपने से सर्वहितोपकारिणी दिव्य वाणी आपसे ही उत्पन्न हुई है । अतः आप ही स्वयं शब्दब्रह्म स्वरूप हैं । अन्यशब्दाद्वैत वादी या ब्रह्माद्वैतवादियों के एकान्त सिद्धान्त में निरूपित शब्दब्रह्म समीचीन नहीं है ॥ २५ ॥

अध्याय 9

मार्गावतारे सम संभृतात्मा
स्वयं प्रकाशं स्वमितः परैस्त्वम्।
सुनिष्ठुरश्च्युतकुतर्कवाक्यैः
क्षिप्तोऽपि नाशीः प्रतिपतिमन्दः ॥1॥

अवाम भूतार्थं विचारसारो
निष्कम्पमेकत्वकृतप्रतिज्ञः
निःशेषितान्तर्बहिरङ्गसङ्गे
दीनानुकम्पाविषयस्त्वमाशीः ॥2॥

संरक्षतस्ते स्खलितार्थं दृष्टेः
सूत्रेण षड्जीवनिकां निकायम्।
अपक्षपातस्य बल्यादिवाऽऽसीत्
समस्तभूतेष्वपि पक्षपातः ॥3॥

सूर्यांशुभाः पावक विप्रुषस्ते
विनिर्दहन्त्य परितोऽपि गोत्रम्।
अभीप्सितः कर्णफलकैपाक
मासत् सुधासीकरनिर्विशेषाः ॥4॥

मन्दः समस्वाद भरेण नक्तं
गृहीतयोगः शबवद्विचेष्टः।
परे तु भूमौ परिशुष्क मूर्तिः
विघट्टितस्त्वं दर्शनैः शिवाभिः ॥5॥

विदग्धरोगीव बलाविरोधान्
मासार्द्धमासक्षपणानि कुर्वन्
अनादिरागज्वरवेग मुक्तं
क्रमेण निःशेषितखानलोलः ॥6॥

ततः कथञ्चित् सकलात्मवीर्य
व्यापारपर्यागिन संयमस्त्वम्।
जातः कषायक्षयतोऽक्षरात्मा
ज्ञानैक पुञ्ज स्वयमेव साक्षात्॥7॥

ततस्त्वया व्यासपरापरेण
स्वायुः स्थितिप्राप्तिनियन्त्रितेन।
स्वकर्म शेषस्य तथा विपाक
मुत्पश्यता देशि शिवस्य पन्था ॥8॥

अन्तः कषायक्षपण प्रसह्य
बहिर्यथा शक्ति चरित्रपाकः।
सूत्रार्थ संक्षेपतया त्वयाऽयं
प्रदर्शितो नाथ शिवस्य पन्थाः ॥9॥

बोधप्रधानः किल संयमस्ते
ततः कषायक्षयजा शिवाप्तिः।

शिवासि हेतोरपि हेतुहेतु

रहेतुवन्निश्चरणस्य बोध: ॥10॥

समस्तनिस्तीर्णचरित्र भार:

स्वायु स्थितिज्ञसविशीर्ण बन्ध: ।

शिखेव वह्नेः सहजोद्धगत्या

तस्तिद्धिधामाऽध्यगमस्त्वमन्ते ॥11॥

तस्मिन् भवानप्रचल प्रदेश:

पिबन् दृशा विश्वमशेषमेव।

समक्षासंवेदनमूर्तिरास्ते

स्वगुप्तवीर्यातिशय: सुखेन ॥12॥

दृग्बोधयोस्तैक्ष्ण्यविधायि वीर्यं

दुग्बोधतैक्ष्ण्येसु निराकुलत्वम्।

निराकुलत्व तव देव सौख्यं

गाढोपयुक्तोऽसि सुखं त्वमेव ॥13॥

वितृष्णाता ज्ञानमनन्तरायां

दृग्वीर्यसारो स्खलित: समन्तान।

अयं समस्त: सुखहेतुपुञ्ज

स्तवा भवन्नित्य निराकुलस्य ॥14॥

अनादि संसारपथादपेन

मनन्नसिद्धत्वकृत व्यस्थम्।

त्रिकालमालाय नामात्म तत्वं

साक्षात् समं पश्यसि बुद्धयसे च ॥15॥

दृग्बोधवीर्योपचितात्म शक्तिः
समन्ततो नित्यमखण्डयमानः
अत्यन्त तैक्ष्ण्याद विभागखण्डै
रनन्तशः खण्डय सीश विश्वम् ॥16 ॥
दृढोपयुक्तस्य तव स्फुटन्त्य
स्वशक्तयो विश्वसमावभासाः ।
विभो न भिन्दन्ति सदा स्वभाव
चिदेक सामान्यकृतावताराः ॥17 ॥
प्रमातृरूपेण तव स्थितस्य
प्रमेय रूपेण विवर्तमानाः
श्लिष्टावभासा अपि नैकभावं
त्वया समं यन्ति पदार्थमालाः ॥18 ॥
परप्रदेशैर्न परः प्रदेशी
प्रदेशशून्यं न हि वस्तु किञ्चित् ।
आलानयन् दर्शनबोधवीर्य
जिनप्रदेशेषु सदैव भासि ॥19 ॥
आलम्ब्य विश्वं किल पुष्कलेयं
दृग्बोधवैचित्र्यमयी विभूतिः ।
नवस्वभावाद् दृशिबोधमूर्ते
रैतावदेवोपकृतं परेभ्यः ॥20 ॥
अनन्तधर्म प्रचितैः प्रदेशै
दृग्बोधयोरा श्रयमात्रभूतः

दृग्बोधवैचित्र मुखेन शाश्वत्

द्विभो विभास्येव हि विश्वरूपः ॥21 ॥

अभावभावो भयरूपमेकं

स्ववस्तुसाक्षात् स्वयमेव पश्यन्

न सज्जसे ऽपि सदा प्रकम्पः

स्वभावसीमाङ्कितत्स्वमग्नः ॥22 ॥

भूतं भवद्भाविसमस्त विश्व

मालम्बमानः सममेव साक्षात् ।

अनन्त विश्वात्मक दिव्यदीप्ति

स्तवोपयोगो जिन नास्तमेति ॥23 ॥

समन्ततो दृष्टिरवारितेयं

सर्वत्र बोधोऽयमरुद्धशक्तिः ।

अनन्तवीर्यातिशयेत्त गाढं

सुदुर्द्धरं धारयसि स्वमीश ।।24 ॥

भान्त्वा समग्रं जगदेव दीनं

खिन्नात्मना प्राणपणं विधाय ।

बन्दीकृतो स्यद्यमयाति लोभात्

सर्वस्वमेवाप्याय किं विषादैः ॥24 ।छ ॥7 ॥

पाठ-९

हे जिन! आपने अपनी ही शक्ति से अपने में सर्वज्ञता, वीतरागता, हितोपदेशतादि गुण भरपूर - पूर्णतः प्रकट किये । सर्व शक्ति सम्पन्न ज्ञान चेतना के प्रकाश से दीप्तिमान होकर ही धर्म तीर्थ का प्रवर्तन किया । मोक्षमार्ग का प्रदर्शन किया । यही कारण है कि अन्य मिथ्या सिद्धान्त एकान्त वादियों के द्वारा अत्यन्त निष्ठुर कुतर्की वाक्यों द्वारा पराभूत करने का असफल प्रयास किये जाने पर भी आप अपने सिद्धान्त प्रतिपादन में अमन्द उत्साह व प्रयत्न से सन्नद्ध ही रहे । वे कुवाद वादी स्वयं ही पराजित हो गये ।। १ ।।

आप हे जिन! एक मात्र दृढ़प्रतिज्ञ हो एकत्त्व भावना में निष्कम्प अचल हुए और उसका फल अपने संकल्प का सार प्राप्त कर लिया । सम्पूर्ण बाह्याभ्यन्तर चौबीस प्रकार परिग्रह का त्याग कर दीन दुःखी संसारी भव्यात्माओं की अनुकम्पा-दया करने में समर्थ हुए । उत्कृष्ट शुभ संक्लेश परिणामों के द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है । अर्थात् आपने भी "मैं सारे जगत का कल्याण करूँ । शिवपथ पर कर्णधार बनूँ" इस प्रकार की उत्कट भावना की थी । जिसका मधुर फल आपने वीतरागी हो सर्वज्ञता को प्राप्त कर लिया । अतः सर्व जगत के उद्धारक हुए ।। २ ।।

हे प्रभो! सम्यग्दर्शन से च्युत होने वाले कुमार्गी षट्निकायोंभेदों में विभाजित समस्त जीव समूह को आपने अपने सूत्र-नियामक आगम द्वारा संरक्षित किया है । अर्थात् समस्त प्राणी समूह को जीवन जीने की कला सिखायी । किसी के प्रति आपको पक्षपात नहीं है । सभी जीवें और अन्य को भी जीने दें । यह आपकी अमिट; अनन्त वाणी का अकाट्य सर्वमान्य सूत्र है । आपका अशेष प्राणियों के प्रति वीतराग भाव साम्य सिद्धान्त यही था कि प्रत्येक भव्यात्मा अपना आत्मकल्याण करने में स्वतंत्र है । आत्म स्वातंत्र्य का ही एक मात्र पक्षपात था । यही तो अहिंसा परमोधर्मः

यतो **धर्म स्ततो** जय: । यह है आपका सर्व व्यापी, सर्व हितंकर, सर्वप्रिय एक मात्र पक्ष ॥ ३ ॥

सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से उत्पन्न अग्नि ताप ज्येष्ठमास में समस्त भूमण्डल को संतप्त कर देती है अर्थात् जलाती है, परन्तु जितने प्रदेश में वे प्रसरित होती हैं उतने को ही संतप्त करती हैं । परन्तु आपकी दिव्यवाणी से नि:सृत सिद्धान्त जिनके कर्णकुहरों से हृदयस्थ हो जाता है तो वह अमृत बिन्दुओं के रूप में अशेष कर्म राशि को भस्मसात कर देती हैं । यद्यपि यहाँ अग्नि और शीतलसुधा विरोधी प्रतीत होती हैं, परन्तु तर्क न्याय के अनुसार यह पूर्ण अविरोधी सिद्ध होता है । लोक में भी देखा जाता है कि शीतल पाले की सीकरों (बिन्दुओं) से हरे-भरे क्षेत्र भस्म-नष्ट हो जाते हैं । उसी प्रकार वीतराग साम्यरस से कर्मवन भस्म हो जाता है । हे जिन ! आपने इसी से कर्माष्टक नष्ट किये ॥ ४ ॥

मिथ्या दृष्टि साधु रात्रियोग धारण कर समानश्वास से भरकर निर्जीव के समान चेष्टाहीन हो भूमि में पड़े रहते हैं । उनका यह योग साधन या कुचेष्टा मात्र शरीर शोषण के लिए होती है । आत्मसिद्धि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता । परन्तु आपने यथार्थरूप में मन, वचन कायरूप योगत्रय का निरोध कर मोक्षस्वरूप अथवा शिव स्वरूप आत्मदर्शन के लिए किया । आपके सिद्धान्त से वहिर जीव आत्म तत्त्व से अनभिज्ञ हुए मन्दश्वासोच्छ्वास क्रिया द्वारा कुसमाधि कर संसार भ्रमण ही करते अथवा – आपकी देशना से विरुद्ध जन योग साधना द्वारा केवल शरीर का शोषण करते हैं । परन्तु आपने परम कल्याणकारी-शिव के साधक रूप कवच को धारण कर रात्रियोग द्वारा अशेष दुष्ट या घातिया कर्मरूप शत्रुओं को नष्ट किया ॥ ५ ॥

जिस प्रकार संक्रामक रोग से अत्यन्त पीड़ित हुआ रोगी हर प्रकार से अपनी शक्ति का प्रयोग, एक पक्ष व महीने में उस रोग का नाश करता है, हे जिन उसी प्रकार आपने निर्विकल्प हो वीतराग भावरूप औषधि द्वारा बल-वीर्य का सम्यक् और पूर्ण प्रयोग कर अनादिकालीन राग-मोह ज्वर क्रमशः पूर्णतः नष्ट कर दिया । फल स्वरूप परलोक की सिद्धि कर ली । जन्म, जरा, मरण संसार में महा भयंकर और प्रबल रोग हैं । इनका मूल हेतु राग परिणति है । इसकी विरोधी वीतराग परिणति है । अतः आपने परमार्थ की सिद्धि के लिए पूर्ण शक्ति लगाकर क्रमिक प्रयोगों द्वारा उस रागपरिणति को जड़ से नष्ट किया । तथा अर्हत् दशा प्राप्त की ॥ ६ ॥

इस प्रकार हे प्रभो! आपने हर प्रकार से अपने अशेष आत्मवीर्य को सम्पुट कर संयम में केन्द्रित कर लिया । अर्थात् चारों ओर से उपयोग को संकुचित कर एक मात्र संयमसाधना में ही उपयुक्त कर लिया । ध्यानैकतान होने से कषायों का क्षय हो गया । आपका स्वरूप स्वयमेव प्रत्यक्ष ज्ञानघन स्वरूप हो गया । परिणामतः आत्मा अक्षय अविनाशी बन गया ॥ ७ ॥

इस विधि से आपके द्वारा सकलज्ञता प्राप्त हुयी । जिसमें समस्त स्व-पर अर्थात् चराचर व्याप्त हो गया । एक साथ झलकने लगे । अपने आयुकर्म की स्थिति पर्यन्त उसके नियंत्रण में रहकर धर्मदेशना रूप व्यवहार कार्य किया । अपने शेष कर्म वेदनीय गोत्र और नाम के विपाक् को सम्यक् प्रकार ज्ञात करते हुए भव्यों को मुक्तिपथ प्रदर्शित किया ॥ ८ ॥

परिपूर्ण पुरुषार्थ से आपने बाह्य चारित्र को परिपक्व किया । तथा उसी व्यवहार नयापेक्षा सराग चारित्र में निष्णात होकर अन्तरंग कषाय शत्रुओं का नाश किया । यही सिद्धान्त आपने अपने भव्य श्रद्धालु भक्तों को अपनी वाणी द्वारा सूत्र रूप में प्रदर्शित किया । आपने मोक्षमार्ग की

यही पद्धति निरबाध बतलायी है । अर्थात् व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है । मोक्षमार्ग साधन है और मोक्ष साध्य है । साधन यथार्थ-समीचीन और अनुकूल होगा तो ही साध्य सिद्धि सुलभता से हो सकेगी ॥ ९ ॥

आपके सिद्धान्त में संयम की सिद्धि के लिए सम्यग्ज्ञान व भेद-विज्ञान प्रमुख है । भेदविज्ञान से संयम स्थिर व सुदृढ़ होता है और संयम साधना से कषायों का क्षय होता है । **कषाया भाव** होने पर परमधाम मुक्ति की प्राप्ति होती है । इस प्रकार ज्ञान मुक्ति प्राप्ति के हेतु सिद्ध होता है परन्तु वह (ज्ञान) सम्यक् चारित्र अर्थात् संयम के साथ रहने पर ही हेतु कारण सिद्ध होता है । सम्यक् चारित्र जीवन में नहीं है, संयम आराधना जिसे तपाराधना कहा जाता है यदि नहीं है तो केवल (अकेला) ज्ञान मोक्ष का हेतु साधक नहीं हो सकता । वह अहेतु ही रहेगा । हे जिन! इस प्रकार आपने सुनिश्चित सिद्धान्त निरूपित किया है ॥ १० ॥

हे जिन! आपने स्वयं भी इसी विधि से परिपूर्ण चारित्र के भार को पारकर लिया अर्थात् संसार से निस्तीर्ण हो गये । आयु की स्थिति के ज्ञाता अपने अन्य अघातिया कर्मों के बन्धन को काटकर अपनी आयु की स्थिति के समान बना लिया । फलतः आयु के अन्त में आप एक समय में ऊर्ध्वगति को प्राप्त हुऐ । जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला सीधी ऊपर ही की ओर जाती है, उसी प्रकार सकल कर्म बन्धन से विमुक्त हो केवली भगवान भी सीधे ऊपर की ओर गमन कर सिद्धालय में जा विराजते हैं ॥ ११ ॥

वहाँ सिद्ध लोक में आप अचल, अखण्ड, एकरूप आत्म प्रदेशी हो सम्पूर्ण ही विश्व के दृष्टा हो गये । अर्थात् आप अपने केवल दर्शन अनन्तदर्शन से तीनों लोकों के अकारण दृष्टा हो जाते हैं । अपने स्वसंवेदन-आत्मोत्थ अनन्तज्ञान में समस्त द्रव्य अपनी अनन्त गुण, पर्यायों

सहित प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इस प्रकार अपने अनन्तवीर्य के प्रभाव से स्वरूप गुप्त हो सुख से अचलमूर्ति हो अवस्थित रहते हैं। अर्थात् अनन्त काल तक अनन्त चतुष्टय स्वभावलीन ही रहेंगे ।। १२ ।।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की तीक्ष्णता को अन्तिम सीमा में ले जाने में आपने वीर्य-पराक्रम को लगाया। सम्यकदर्श और ज्ञान में निराकुलता को प्राप्त करने में विधिवत उपयुक्त किया। आकुल्ता का अभाव या राग-द्वेष का अभाव ही सम्यक चारित्र है। तथा हे देव निराकुलता ही आपका आत्मीय चिर सुख है। प्रगाढ़ स्वात्मोपयोग ही सुख है। सुख स्वरूप ही आप हो। अभिप्राय यह है कि आप ही सम्यग्दर्शन आदि रत्न त्रय स्वरूप हो और आप ही उसका फल रूप सुख हो। निश्चय नय से आत्म ही रत्नत्रय है, अनन्त चतुष्टय स्वरूप है ।। १३ ।।

अनन्त दर्शन और वीर्य का सार निरन्तर अविच्छिन्न रहने वाला ज्ञान है जो आकुलता से रहित है, तृष्णा से सर्वथा विहीन है। हे भगवन् आपकी निराकुलता का फल सम्पूर्णता से चिरस्थायी, अचल, अविरल धारा रूप सुख है। इस सुख का समर्थ हेतु अविफल साधन आकुलता का अभाव है। यही नित्यानन्द आपका सुख आपमें निहित है ।। १४ ।।

हे भगवन्! अनादि संसार मार्ग से सर्वथा भिन्न स्वरूप आपने अनन्त सिद्धत्वपद को व्यवस्थित किया। त्रिकालवर्ती उस आत्मतत्व के शुद्ध स्वरूप को आप एकसाथ प्रत्यक्षरूप से देखते हो जानते हो। अर्थात् निश्चयनय से आप अपने ही शुद्ध स्वरूप के दृष्टा और ज्ञाता हो ।। १५ ।।

सम्यदर्शन ज्ञान और वीर्य से केन्द्रित हुयी आपकी अनन्त शक्तियाँ सामस्त्येन नित्य, अखण्ड रूप से स्थित हैं। यह द्रव्यदृष्टि से निराबाध होने पर भी पर्यायदृष्टि की अपेक्षा हे ईश! ज्ञान की परम विशुद्ध उज्ज्वल ज्योति में सारा जगत अपनी अनन्तद्रव्यों की अनन्त पर्यायों युत प्रतिविम्बित हो

इसे अनन्त विभाग रूप बनाता है। मुख्य अभिप्राय यह है कि निश्चय नयापेक्षा आप एक अखण्ड हैं, व्यवहारनयापेक्षा अनन्तविभाग भेद रूप भी हैं। अनेकान्त सिद्धान्त की यह महिमा है ॥ १६ ॥

तत्त्व सामान्य विशेष धर्मों का पुञ्ज है। तभी तो विधि निषेध रूप सिद्धान्त सिद्ध होता है। आत्म तत्त्व भी तद्रूप धर्मों से युक्त है। अत: आपके अविचलित सुदृढ़ उपयुक्त में निश्चल होने पर भी आत्मीय शक्तियाँ विशेष धर्मापेक्षा अन्तर्भेदों को लिए प्रतिभासित हो रही हैं। परन्तु सामान्य धर्मापेक्षा वे एक मात्र चैतन्य स्वभाव में ही समाहित रहती हैं। हे विभो! स्वभाव कभी भी भेद रूप नहीं होते हैं। आप निज चेतना में ही लीन रहते हैं। एक मात्र शुद्ध ज्ञान चेतना ही आत्मा है ॥ १७ ॥

ज्ञाता रूप से आपके स्थित होने पर ज्ञेयों के रूप से अनेक पर्यायों में आप भेदरूप भी हो। यद्यपि ज्ञेयभूत अनन्त पदार्थों का समूह आपके ज्ञानघन स्वरूप में एकमेक सा हुआ प्रतिभासित हो रहा है तथाऽपि आपके साथ एकाकार नहीं हो सकते हैं। अर्थात् तदाकार नहीं होते। आपके सिद्धान्त में बौद्धदर्शन की भांति ज्ञानोत्पत्ति तदाकार तद्रूप स्वीकृत नहीं है। ज्ञान ज्ञानमय तथा ज्ञेय ज्ञेय रूप ही रहते हैं। मात्र ज्ञानोपयोग की परम विशुद्धि ही ज्ञेय ज्ञायक भाव की सिद्धि करती है ॥ १८ ॥

प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व अपने-अपने निज प्रदेशों में ही रहता है। एक प्रदार्थ के प्रदेश अन्य पदार्थ रूप न तो परिणमन करते हैं और न ही तद्रूप होते हैं। यह जिन शासन का अखण्ड सिद्धान्त है। यही कारण है कि हे जिन! आपके दर्शन, ज्ञान, वीर्य रूप प्रदेश सदैव आप में ही प्रतिभासित होते हैं, चारों ओर से आलान के समान अपने में सम्पुट हो वस्तु स्वरूप को बनाये रहते हैं। आलान का अर्थ हाथी बांधने की शृंखला होती है जो उसे चारों ओर से कसकर रखती है उसी प्रकार आत्मा को ज्ञान-दर्शन

कसकर रखते हैं अर्थात् इन रूप ही आत्मा का अस्तित्व बना रहता है । आत्मा ज्ञान-दर्शन चेतना स्वरूप है ॥ १९ ॥

हे जिन ! आपके परम शुद्ध बुद्ध एक अखण्ड केवल ज्ञान व दर्शन में समस्त जगत-तीनों लोकों का एक साथ एक ही समय में सामान्य विशेषात्मक रूप से प्रतिभास होता है । यह अद्भुत, अचिन्य, परिपुष्ट पूर्ण विभूति है । यद्यपि आप स्वभाव से ज्ञान दर्शनमयी अखण्ड मूर्ति हैं । पर पदार्थों का उसमें प्रतिबिम्ब आकर भेदरूपता झलकाना है यही मात्र उनका उपकार है । अर्थात् ज्ञान और ज्ञेयों में निमित्त, नैमित्तिक स्वाभाविक सम्बन्ध है । ज्ञान की तेजोमयी उज्ज्वल ज्योति में स्वपर-प्रकाश की अपनी स्वाभाविक योग्यता है और अन्य पदार्थों में उसमें झलकने की अपनी योग्यता है । ज्ञान और ज्ञेय सदा भिन्न-भिन्न अपने-अपने स्वरूप में ही रहते हैं । उनमें कभी भी तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता । हे जिन आपका सिद्धान्त ही अनुपम और अबाधित है ॥ २० ॥

अनन्तधर्मों से चुम्बित प्रदेशों के द्वारा दर्शनज्ञान चेतना का आश्रय लेकर ही आत्मतत्त्व का वैभव है । अर्थात् आत्मा की अशेष अनन्तशक्तियाँ दर्शनज्ञानमयी ही रहती हैं । इनमें प्रदेश भेद नहीं है । सम्पूर्णशक्तियाँ एकाश्रय ही स्थिति पाती हैं । ज्ञान दर्शन स्वभाव को लिए हुए ही हे जिन ! आपने अनेक रूप बतलाया है । अर्थात् चैतन्य स्वभावाश्रित रहते हुए ही भेदरूपता-अनेकरूपता प्रतिभासित होती है ॥ २१ ॥

हे जिन ! आपने अपने असीम अनन्त दर्शन ज्ञान द्वारा वस्तु स्वरूप को प्रत्यक्ष देखा और जाना है । तदनुरूप उसे अभाव, सद्भाव और उभयात्मक निरूपण किया है । यद्यपि वह द्रव्य दृष्टि से एक है । पर चतुष्टय से अभाव रूप, स्व चतुष्टय से स्वभाव-सद्भावरूप और उभय विवक्षा से उभयरूप प्रतिपादित की है । वस्तु स्वयं इन तीन रूपों को अपने में समाहित

किये हुए है । एकान्तरूप से कभी भी कहीं भी वह स्वरूप सज्जित हो ही नहीं सकती । क्योंकि समस्त पदार्थ अपनी-अपनी स्वभाव मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते । प्रत्येक द्रव्य अपने गुण और पर्यायों से युक्त उन्हीं में सन्निहित होकर रहते हैं । आपने प्रत्यक्ष वस्तु को जैसा देखा वैसा ही बतलाया । इसी से आप द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही वस्तु स्वभाव का समीचीन संस्थापक है ।। २२ ।।

आपने तीनों कालों - भूत, भविष्य व वर्तमान को एक साथ ज्ञात किया । तीनों कालवर्ती पदार्थ भी सम काल में आपके ज्ञान के विषय बन गये । आपके ज्ञान में दर्पण वत झलकते हुए आलम्बित हो रहे हैं । हे जिन अनन्त शक्त्यात्मक आपके ज्ञान की दिव्य ज्योति निरन्तर उपयोगात्मक हो रहती है । क्षायोपशमिक ज्ञान के सदृश कभी भी अस्त-उदय नहीं होती । क्षायिक रूप होने से सदैव उदीयमान ही रहती है ।। २३ ।।

हे जिन ! आपकी दृष्टि-दर्शनशक्ति चारों ओर से निराबाधरूप से प्रकट रहती है क्योंकि उसका अवरोधक दर्शनावरणी कर्म आपने आमूल भस्म किया है । अब इसके प्रसार को कोई भी रुद्ध करने में समर्थ नहीं है । इसी प्रकार आपकी ज्ञापकशक्ति-ज्ञानशक्ति भी अपने स्वभाव से निरंकुश प्रवृत्त हो रही है । उसे रुद्ध करने में कोई समर्थ नहीं है क्योंकि उसके बाधक ज्ञानावरणी कर्म को आपने क्षपित कर दिया । अपनी अनन्तशक्ति के प्रभाव से हे जिन ! आप ही ईशत्व को धारण करते हो, आप ही ईश्वर हो, ब्रह्मा हो और विष्णु हो । अन्य तो अपने को इन रूप मानने वाले (मन्यमाना) भ्रान्त हो रहे हैं ।। २४ ।।

हे जिन ! जीव-संसार परिभ्रमण क्यों कर रहा है ? क्यों दुखी हो रहा है ? इसका समाधान करते हुए आपने बतलाया कि लोभ कषायाविष्ट

अध्याय 10

अन्तर्निमग्नान्यनयस्वभावं

स्वभावलीलोच्छ लनार्थमेव।

विशुद्धविज्ञानघनं समन्तात्

स्तोष्ये जिनं शुद्धनयैकदृष्टया ॥1 ॥

निरर्गलोच्छालविशालधाम्नो

यदेवचैतन्य चमत्कृतंते।

उदारवैसद्यमुदेत्यभेदं

तदेव रूपं नव मार्जितश्च ॥2 ॥

चिदेकरूप प्रसरस्तवायं

निरूध्यते येन न स एव नास्ति।

स्वभावगम्भीरमहिम्नि लग्नो

विभो विभास्येक रसप्रवाह: ॥3 ॥

उपर्युपर्युच्छ लदच्छ धामा

प्रकाशमानस्त्वमभिन्न धार:।

चिदेकना सङ्कलितात्म भावा

समग्रमुच्चावचमस्य शीष ॥4 ॥

समुच्छलत्यत्र तदा द्वितीये
महौजसश्चिन्महसो महिम्नि।
जलप्लवप्लावित चित्र नित्या
विभाव्यते विश्वमपि प्रमृष्टम् ॥5 ॥

विशुद्धबोधप्रतिबद्ध धाम्नः
स्वरूपगुप्तस्य चकाशतस्ते।
अयं स्फुट:स्वानुभवेन काम
मुदीर्यते भिन्नरसः स्वभावः ॥6 ॥

अभावभावादि विकल्पजालं
समस्तमप्य स्तमयं नयन्न: ।
समुच्छलद्बोधसुधाप्लवोऽयं
स्वभाव एवोल्लसति स्फुटस्ते। ।7 ॥

स्वभावबद्धाचलितैकदृष्टे:
स्फुटप्रकाशस्य नवोजिहासो:
समन्ततः सम्भृतबोधसारः
प्रकाशपुञ्जः परितश्चकास्ति ॥8 ॥

अनादिमध्यान्तचिदेकभासि
प्रकाशमाने त्वयि सर्वतोऽपि
एकाखिलक्षालिनकस्मलेयं
विलासमायात्यनुभूतिरेव ॥9 ॥

तवा च तेजस्यनुभूति मात्रे
चकाशति व्यापिनी नित्यपूर्णे।

न खण्डनं कोऽपि विधातुमीशः

समन्ततो मे निरूपप्लवस्य ॥10॥

चित्तेजसाकमनादिमज्ज

चित्तेजसोन्मज्जसि झाकमेव।

न जातु चिन्मुञ्चसि चण्डरोचिः

स्फुरत्तडित्पुञ्ज इवात्मधान् ॥11॥

समन्ततः सौरभमातनोति

तवैष चिच्छक्ति विकास हासः।

कस्याप्यमुञ्चिः मकरन्दपान

लौल्येन धन्यस्य दृशो विशन्ति ॥12॥

त्वमेक एवैकरस स्वभावः

सुनिर्भरः स्वानुभवेन कामम्।

अखण्डचित्पिण्ड विखिण्डितश्री

विंगाहसे सैन्धव खिल्यलीलाम् ॥13॥

विशुद्धचित्पूरपरिप्लुतस्त्व

मार्द्रार्द एव स्वरसेन भासि।

प्रालेयपिण्डः परितो विभाति

मदार्द्र एवं द्रवता युतोऽपि ॥14॥

अपारबोधामृतसागरोऽपि

स्वपारदर्शी स्वयमेव भासि।

त्वमन्यथा स्वानुभवेन शून्यो

जहासि चिद्वस्तुमहिम्नि निच्छाम् ॥15॥

अखण्डितः स्वानुभवस्तवायं
समग्रपिण्डीकृतबोधसारः।
ददाति नैवान्तरमुद्धतायाः
समन्ततो ज्ञानपरम्परायाः ॥16॥
निषीदतस्ते स्वमहिम्न्यनन्ते
निरन्तर प्रस्फुरितानुभूतिः।
स्फुटः सदोदेत्ययमेक एव
विश्रान्त विश्वोर्मिभरः स्वभावः ॥17॥
सर्वा क्रियाकारककश्मलैव
कर्त्रादिमूल किल तत्प्रवृत्तिः।
शुद्धः क्रियाचक्रपराङ्मुखस्त्वं
भामोत्रमेव प्रतिभासि भावः ॥18॥
स्वस्मै स्वतः स्वः स्वमिहैकभावं
स्वस्मिन् स्वयं पश्यसि सुप्रसन्नः।
अभिन्नदृग्दृश्यतया स्थितोऽस्मान्
न कारकाणीश दृगेव भासि ॥19॥
एकोऽप्यनेकमुपैति कामं
पूर्वापरीभाव विभक्त भावः।
नित्योदितैकाग्रदृगेकभावो
नभास्से कालकलङ्कितश्रीः ॥20॥
आद्यन्त मध्यादि विभाग कल्पः
समुच्छलन् खण्डयति स्वभावम्।
अखण्डदृग्मण्डलपिण्डितश्री
रेको भवान् सर्वसरश्चकास्ति ॥21॥

भामात्रमित्युत्कलित प्रवृत्तिः
मग्न क्रियाकारक कालदेशः।
शुद्ध स्वभावैकज्वलज्ज्वलस्त्वं
पूर्णो भवन्नासि निराकुलश्रीः ॥22॥

एकाग्रपूर्णस्तिमिता विभाग
भामात्रभावास्खलितैकवृत्या।
चकासतः केवलनिर्भरस्य
न शङ्करस्तेऽस्ति न तुसतापि ॥23॥

भावोभवं भासि हि भाव एव
चिन्ताभवं श्चिन्मय एव भासि।
भावो न वा भासि चिदेव भामि
नथा विभो भास्यसि चिच्चिदेकः ॥24॥

एकस्य शुद्धस्य निराकुलस्य
भावस्य भा भार सुनिर्भरस्य।
सदा स्खलद्भावनयाऽनयाऽहं
भवामि योगीश्वर भाव एव ॥25॥छ॥10॥

हो तृष्णाभिभूत होकर संसार अपने ही कुकृत्यों-विपरीत अथक प्रयासों से श्रमित हो खेद खिन्न हो रहा है । संसार में जो कुछ भोगोपभोग सामग्री है वह सर्व मुझे ही प्राप्त हो इस चेष्टा में कठोर श्रम करता है और असफल प्रयास हो दीन-हीन दुखी हो रहा है । संसार स्वयं निस्सार है वहाँ सारभूत क्या मिले ? अतः विपरीत कर्म कर भ्रान्त हुआ स्वयं कर्मों से बद्ध हो शरीर रूप बन्दीखाने में पड़ा है । मुक्ति मार्ग से भ्रष्ट हो गया है ॥ २५ ।

●

पाठ-१०

अन्य नयों को गौण कर आत्म स्वभाव अपने ही स्वभाव में अन्तर्लीन रहता है । अपनी निज की अनन्त अर्थ पर्यायों की तरंगों से उच्चरूप से तरंगित होता हुआ भी अपने ज्ञानधन रूप चैतन्य में ही सीमित रहता है । अतएव हे प्रभो ! आप भी परमविशुद्ध ज्ञानधन स्वभाव रूप हैं । शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से विवेचना करने पर आप सर्वत्र ज्ञानाकार को धारण किये हैं । अतः मैं (आचार्य श्रेष्ठ चारित्र चूड़ामणि श्री महावीर कीर्ति जी) भी आपको शुद्ध ज्ञान घनरूप में ही अपना स्तुत्य बनाऊँगा । अर्थात् विज्ञानघनरूप आपकी स्तुति करूँगा । क्योंकि ज्ञान से भिन्न अन्य आत्मा या परमात्मा नहीं है ॥ १ ॥

आपका एक मात्र शुद्धज्ञान चेतना से चेतित अपनी विराट, विश्व व्यापी तीव्र प्रकाश ज्योति की प्रभा का निरबाध प्रसार कर रहा है । ज्ञान प्रकाश अप्रतिहत है । वह प्रकाशपुञ्ज अभेददृष्टि से आपकी अभेद, अखण्ड एक रूपता को उदारता के साथ विशद रूप में प्रकाशित कर रहा है । बस, यही एक मात्र विश्वव्यापी ज्ञानघनरूप ही पूर्ण विशुद्ध हुआ आपका रूप है ॥ २ ॥

हे प्रभो ! आपका एक मात्र चैतन्य स्वभाव ही सर्वत्र व्याप्त है । यह अनादि अनन्त है । स्वभाव तर्क का विषय नहीं होता । यह निर्विवाद सिद्ध तथ्य है ! अतः आपके भी चैतन्य स्वभाव का कोई रोधक नहीं है । हे विभो ! स्वभाव की अगाध-असीम गहराई में निमग्न महिमा एक रूप चिदानन्द रस प्रवाह में निमग्न प्रकाशित हो रही है ।। ३ ।।

हे जिन ! तुमने चेतना की समग्रता को अत्युच्च रूप में संकलित कर लिया । अब वह उज्ज्वल चिद ज्योति पुञ्ज उत्तरोत्तर प्रकाशमान होता हुआ अभिन्न धारा में उपर्युपर्य उछल रहा है । चिद् पिण्ड चण्डरूप से आप में ही दीप्यमान हो रहा है । आप एक मात्र अपने चैतन्य स्वभाव में ही सदाकाल को स्थित हो गये हैं । अर्थात् सर्वोच्चपद प्राप्त कर लिया । जिन स्वभावोपलब्धि ही सर्वोत्कृष्ट प्राप्ति है ।। ४ ।।

इस 'चिद्' स्वरूप के उच्चतमरूप से उछलते हुए अद्वितीय महान तेज में उद्दाम चेतना ही हिलौरें लेती हैं । ये अनन्त गुण पर्यायों से आप्यायित चेतना में चैतन्य की ही तरंगे तरंगित होती रहती हैं । जिस प्रकार तीव्र वेग से प्रवाहित जल प्रवाह में तरंगे जलरूप ही रहती हैं परन्तु चित्र-विचित्र रूप से अन्य पदार्थों का प्रतिबिम्ब भी प्रतीत होता है । इसी प्रकार ज्ञानचेतना की शुद्धता एक रूप ही रहती है, अन्य पदार्थ उसमें एकमेक से हुए प्रतिभासित होते रहते हैं । उनसे चैतन्य प्रकाश में किसी भी प्रकार की विकृति नहीं हो सकती ।। ५ ।।

हे प्रभो ! आपका परमोत्तम परिष्कृत शुद्ध ज्ञानमय तेज है । अपने स्वरूप में निखातरूप से स्थित होने पर ही वह आत्मीय तेज चमकता है । यह ज्ञानघन पुञ्ज प्रकाश स्वानुभव के द्वारा अनुभव में आता है । इस दशा में अन्य कोई रस टिक नहीं सकता । अतः अतीन्द्रिय ज्ञान स्वभाव में एक मात्र चिदानन्द रस ही प्रकट रहता है । अन्य सब नष्ट हो जाते

हैं। इन्द्रियातीत दशा में इन्द्रियजन्य रस किस प्रकार टिक सकते हैं ? नहीं रह सकते ॥ ६ ॥

यह सद्भाव है यह असद्रूप है इत्यादि अशेष विकल्प जालों को आपने समाप्त कर दिया। संकल्प-विकल्पों की तरंगें स्तमित हो जाने से चैतन्यरससिन्धु निस्तरंग हो गया। अस्तु, राग-द्वेष रूप कल्लोलों से रहित आत्मा में आत्मस्थ अनन्त ज्ञानामृत सागर ही उछलने लगा। यह सुधारस स्पष्ट स्वभावस्वरूप ही झलकता है। अर्थात् परभाव अभाव होते ही स्वभाव भाव मात्र ही साक्षात् स्पष्ट रूप से आप में झलक रहा है ॥ ७ ॥

आत्मा स्वभाव से अचलित एक मात्रज्ञानदृष्टि का स्पष्ट हुआ प्रकाश पुञ्ज ही आपका उच्चहास है। चारों ओर से घनाकार रूप में भरा केवलज्ञान का सार ही आपके चतुर्दिक बिखर रहा है। अर्थात् निर्मल परम वीतराग ज्ञान की छटा आपके चारों ओर व्याप्त हो भामण्डल के रूप में प्रकट हो रही है। इसकी स्वच्छता का निरीक्षक इसमें अपने अतीत के तीन, वर्तमान का एक और भावी तीन, इस प्रकार सातभवों के देख लेता है इतनी विशिष्ट स्वच्छता है इसमें ॥ ८ ॥

हे देव ! आपने अपने ही अकेले पुरुषार्थ से आत्मा में लगे कल्मष-कर्मों का प्रक्षालन कर अपने आत्मस्वरूप को चिन्मयरूप से उज्ज्वल बनाया। आप में पूर्णतः अनादि मध्य और अन्त रूप से एक मात्र चैतन्य स्वभाव ही प्रतिभासित हो रहा है। अतएव अब एक मात्र आत्मानुभूति ही विलसित हो रही है। अर्थात् आप अपने चिदानन्द रसानुभूति में ही निमग्न हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे ॥ ९ ॥

आपके सर्वव्यापी, नित्य, परिपूर्ण, ज्ञान के तेज में एक मात्र स्वानुभव जन्य चैतन्य ही प्रकाशित हो रहा है। मेरे अन्दर भी वही प्रवाह चारों ओर से प्रवाहित हो रहा है। इसे खण्डित करने में कोई भी विभाव

भाव समर्थ नहीं हो सकते । परन्तु मेरा यह प्रवाह अभी निस्पंद है-, प्रकट स्वानुभव में नहीं आ रहा । अभिप्राय यह है कि हे जिन ! आपका जो प्रकट स्वभाव है वही मेरा विकारावच्छन्न हुआ छिपा है । आपके निमित्त से मैं भी उसे प्रकट करने में सक्षम होऊँ ।। १० ।।

चैतन्य के साथ तन्मय हुआ आत्मा मैं अनादि से उसी में निमग्न था । किन्तु तेज छुपा रहा । उसी तेज के साथ अर्थात् ज्ञान चेतना रूप से ही प्रकट हुआ है । क्योंकि आच्छादित होने मात्र से स्वभाव दीप्ति कभी भी पृथक नहीं होती । यथा मेघों से आच्छादित विद्युतपुञ्ज अपनी स्वकान्ति को स्फुरित करती हुयी ही प्रकट चमकती है । अपनी कान्ति का त्याग कभी भी नहीं करती । इसी प्रकार कर्म पटलों से आच्छादित आत्मतेज कभी भी भिन्न नहीं हो सकता, ज्ञानघन रूप को लिए ही प्रकट होता है ।। ११ ।।

हे जिन ! आपके आत्मानन्दरूप पुण्डरीक का सौरभ (सुगंध) अथवा सुख शान्तिरूप प्रताप आप ही की आत्मीय स्वच्छता से प्रकट हुआ है । यह विकासहास चतुर्दिक में व्याप्त हो रहा है । इस मकरन्द के इच्छुक सम्यक्दृष्टि भव्य का मन इसे पाने को लोलुपी किस प्रकार त्याग सकता है । जिस प्रकार सुमन सौरभ का लोलुपी मधुकर उसके परागपान का त्याग नहीं कर सकता । उसी प्रकार मुमुक्षु भव्यात्मा आपके चैतन्य विकास की पूर्णता जन्य परमानन्द रूप मकरन्दपान का लोलुपी सम्यक्दृष्टि आपका आश्रय किस प्रकार त्याग सकता है ? नहीं त्याग सकता ।। १२ ।।

सुसंवेदजन्य स्वानुभव रूप एक ही आनन्दरस से आप परिपूर्ण हो रहे हैं । एक मात्र सुख स्वभाव रूप ही हो आप । हे जिन ! ज्ञानानन्द ही सुखानन्द है और सुखानन्द ही आत्मानन्द है । अतः अभेद दृष्टि से, निश्चयनय से आप एक रस भरित ही हो गये । यह पर्यायदृष्टि से भेद-अनेकरूप भी चित् शक्ति अखण्डएक हो गयी, तो भी अनन्तगुणपर्यायों

का अवगाहन करते हुए लवण की डली की लीला कर रही है । अभिप्राय यह है कि लवण तो एक क्षार रस वाला है, परन्तु विभिन्न व्यञ्जनों का निमित्त पाकर अनेकरूप होता है । इसी प्रकार चैतन्य शक्ति द्रव्य दृष्टि से एक और पर्यायदृष्टि से अनेक रूप प्रतिभासित होती है ॥ १३ ॥

हे जिन ! आप अपने चैतन्य प्रवाह से परिप्लुत हैं । तथापि अपने स्वानुभवजन्य पीयूष से आर्द्र (मृदु) रूप से ही प्रकाशित होते हैं । अर्थात् आपका चित्चमत्कार सर्वोपकारी है । भव्यों के आनन्द, प्रमोद का हेतु है । जिस प्रकार रजनीकाल में तुषार-ओस विन्दु सर्वत्र छा जाती हैं । वे आद्र-कोमल स्वभावी होकर भी मुक्ताफल की कान्तिधारण कर प्राणियों के आनन्द की कारण होती है । इसी प्रकार आप भी हे जिन ! निज स्वभाव लीन हुए भी भव्यानन्द करने वाले हैं ॥ १४ ॥

हे सर्वज्ञ ! आप ज्ञानामृत के रत्नाकर तो हो ही, उसके पारदर्शी भी हो । अर्थात् ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के युगपत प्रवर्तक हो । दोनों का प्रयोग एक ही समय में होता है । अगर इस प्रकार के प्रयोक्ता नहीं होते तो आप स्वात्मानुभव रहित हो जाते । तथा इस प्रकार होने पर चैतन्य वस्तु की महिमा में निष्ठ वीतरागता को त्याग देते । परन्तु ऐसा है नहीं । क्योंकि आपमें वीगरागता (सर्वज्ञपना), अनन्तज्ञानत्व एवं अनन्तदर्शनत्व एक साथ प्रवाहित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

आपका हे जिन ! स्वानुभव अखण्डित (एकत्वलिए) है । इसमें अखिल अनन्त ज्ञान का सार समाहित है । पूर्णतः वृद्धिंगत होता हुआ भी छिद्र (खण्डरूप) नहीं देता । अर्थात् मध्यान्तर में विश्राम पूर्वक प्रवर्त नहीं होता, अपितु निरन्तर प्रवाहरूप ही रहता है । ज्ञान ही धारा अविराम रूप से निरन्तर प्रवाहित होती रहती है । इन्द्रियातीत और परापेक्षा से सर्वथा शून्य होने से यह निर्विघ्न, अक्षुण्ण रूप से अनुभव रूप ही रहता है ॥ १६ ॥

हे परमेश्वर ! आपकी स्वानुभूति सतत स्फुरायमान होती हुयी अपनी ही अनन्तमहिमा, तेजस्विता में स्थित रहती है । यह अपने में एकत्व को लिए स्पष्टरूप में सदा उदीयमान प्रकट रहती है । अपने व्यापक और चैतन्यचमत्कार ज्योति में यह अशेष विश्व (तीनों लोकों के) के अशेष पदार्थों को अनेक द्रव्य-गुण-पर्यायों युत झलकाती है । अर्थात् इसमें वे पदार्थ अपनी-अपनी सत्ता में स्थित रहते हुए ही प्रकाशित होते हैं और यह भी स्वयं अपने में अपने ही निर्मल स्वभाव में अवस्थित रह कर ही प्रवर्तित रहती है ॥ १७ ॥

हे जिन ! आपके सिद्धान्त में कर्ता, कर्म, क्रिया, कारकादि सर्व कल्मष है । आत्मा को मलिन करने वाली भेद दृष्टि के उत्पादक हैं । क्योंकि इनकी प्रवृत्ति का मूल कारण कर्तृत्वबुद्धि है, जो राग-द्वेष की हेतु है । आपतो जगत की सम्पूर्ण क्रिया-कलापों की संगति से सर्वथा पराङ् मुख हो चुके हैं । आप में तो अब केवल ज्ञान रूपी उज्ज्वलतम ज्योति ही प्रकाशित हो रही है । एकत्व में भेद का प्रवेश हो ही नहीं सकता । वहाँ तो स्वतंत्र एकरूप ही प्रकाश का अवकाश रहता है ॥ १८ ॥

आत्मा के शुद्ध एकत्वलिए अखण्ड स्वरूप में समस्त कारक अभेदरूप में ही स्थित होते हैं । यथा आत्मा स्वयं, आत्मा को, आत्मा के ही द्वारा आत्मा के लिए अपने ही आत्मस्वभाव से, अपने में ही प्रसन्न भाव से अपने ही ज्ञान स्वभाव का दर्शन होता है । अर्थात् आप ही आत्मा अपना ही दर्शन करती है । अपनी ही अभिन्न दृष्टि को लिए अपने ही समाहित रहती है । हे ईश ! कारकादि तो यहाँ दृष्टिगत ही नहीं होते । वे तो न जाने कहाँ अदृश्य हो जाते हैं ॥ १९ ॥

हे देव ! पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से पूर्व और अपूर्व क्रमिक पर्यायों के अदल-बदल होने पर एकत्वभाव को लिए हुए भी आत्मा अनेक रूपता को प्राप्त करती है । परन्तु द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से परिशीलन करने पर वही नित्य उदित (प्रकट रूप) होती हुयी एक अखण्ड ही दृष्टिगत होती है । क्योंकि कालदोष से जन्य श्री उस समय प्रतिभासित नहीं होती । अपितु विभागरहित शुद्ध एक रूप ही झलकती है । अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान, दर्शन रूप परिणत आत्मा कालकृत क्रम के कारण अशुद्ध अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीयुत भेद रूप से परिणमती और क्षायिकरूप पूर्ण ज्ञान, दर्शनयुत होने पर अपने अखण्ड वैभव सम्पन्न हो जाती है । ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य रूप सम्पदा एक स्वभाव से झलकती है ॥ २० ॥

भो प्रभो ! आदि, मध्य, अन्त रूप काल भेदापेक्षा आप अनेक स्वभावों रूप प्रकट प्रकाशित होते हो । परन्तु भेददृष्टि रहित एक द्रव्यदृष्टि से निरीक्षण करने पर क्षायोपशमिक अवस्था में बिखरी गुण सम्पदा एक रूप में समन्वित हो पिण्डरूप से एक अविचल रूप में प्रवाहित होती हुयी चमत्कृत होती है । एक धारा में गतिशील होती हुयी अपनी शुद्धावस्था में अनन्तगुणों को एकपिण्ड रूप में प्रकाशित होती है ॥ २१ ॥

चित् चैतन्य प्रकाश, कर्ता, कर्म आदि कारक भेदों से निमग्न दशा में कालभेद की अपेक्षा एक-एक गुणरूप प्रवृत्त होने से आकुलता भरित होती है । पर रूप कारकभेद दशा में सभी गुण एक देश से भेदरूप ही प्रकाशित होते हैं । इस अपूर्ण दशा में आकलुता-विकल्पजाल रूप आत्म लक्ष्मी प्रतीत होती है । परन्तु विकलता के हेतुभूत घातिया कर्मों के अभाव होने से आप अर्हत दशा प्राप्त अपनी शुद्ध चैतन्यावस्था में एक जाज्वल्यमान, आकुलता विहीन, परिपूर्ण होते हुए निष्कम्प, अखण्ड लक्ष्मी सम्पन्न ही हो । अपूर्ण दशा पूर्णता के प्रयास से आकुल-व्याकुल होती है, परन्तु वही अपने स्वरूप में परिपूर्ण हो जाती है तो निराकुल सुख सम्पदा निमग्न नित्य उदय को प्राप्त हो जाती है । यह मुक्ति लक्ष्मी एक, भेद रहित अविचल हो जाती है । आप

निर्निमित्त, स्वाभाविक, स्वस्वभाव जनित, परिपूर्ण वैभव सम्पन्न ही हो ॥ २२ ॥

हे वीतरागजिन ! आप एकान्त परिपूर्ण, स्वस्वभाव से अविचलित पूर्ण ज्ञान ज्योति पुञ्ज सम्पन्न, नित्य प्रवाहित एक चैतन्य धारा से सम्पन्न प्रतिभासित होते हो । अतः भेदरूपता छिपगई है-गौणरूप हो गई । मुख्यतः विवक्षित केवलज्ञान प्रकाश मात्र की अपूर्व प्रभा, कान्तिमान हो रही है । इस प्रकार का चमत्कार स्वयं को देवत्व के अहंकार से भरे शंकर (महादेव) में नहीं है और न ही ब्रह्मा में भी है । अतः यथार्थता यह है कि आप ही महादेव हैं और आप ही ब्रह्मा हैं ॥ २३ ॥

तत्त्व स्वरूप हो तद्भाव से तत्त्व स्वरूप ही प्रतिभासित होते हो । चैतन्य भाव की मुख्यता से आप चिन्मय स्वरूप प्रकाशित होते हो यह भेद विवक्षा में इस प्रकार दृष्टिगत होते हो । परन्तु अभेद दृष्टि से न तत्त्वरूप दृष्टिगत होते है और न चिद् रूप ही परिलक्षित हो प्रकाशित होते हैं । हे विभो ! आप तो सदैव, एक रूप से चिदानन्द चैतन्य पुञ्ज स्वरूप ही प्रतिभासित होते हो ॥ २४ ॥

यह इस अध्याय का अन्तिम श्लोक है । इसमें प. पू. श्री. १०८ मुनिकुञ्जर समाधि सम्राट आचार्य श्री आदिसागर जी अंकलीकर के पट्टाधीश, उद्भट विद्वान आचार्य शिरोमणि श्री महावीर कीर्ति जी अपने को योगीश्वर बनने की प्रार्थना कर रहे हैं । हे जिन ! शुद्ध-द्रव्य, भाव और नोकर्म कालिमा से रहित, नाना विषय-भोगों की आकुलता से विरहित, निजस्वभावकी अमिट कान्ति से पूर्ण स्वाधीन, आभा जो नित्य ही अबाधरूप से स्थायी है उसी के अनुरूप अवस्था प्राप्ति की उत्कट भावना से सहित मैं भी योगीश्वर हो जाऊँ ! इसी भावना के साथ यह आपका गुणगान किया है । अतः मैं भी आप सदृश आत्मीय स्वभाव को प्रत्यक्ष प्रकट करूँ ॥ २५ ॥

अध्याय 11

इयं द्राघीयसी सम्यक् परिणामभीप्सता।
भवनात्मवता देव क्षपिता मोहयामिनी।।1।।
सुविशुद्धैश्चिदुद्गारैर्जीर्णमाख्यासि कस्मलं।
अज्ञानादतिरागेण यद्विरूद्धं पुराहृतम्।।2।।
दीप्रः प्रार्थयते विश्वं बोधाग्निरय मञ्जसा।
त्वं सु मात्रा विशेषज्ञ स्तावदंव प्रयच्छांस।।3।।
बोधाग्नि रिन्धनी कुर्वन् विश्वं विश्वमयं तव।
स्वधातुपोषमेकं तनुते तनुविक्रियाम्।।4।।
विश्वग्रासातिपुष्टेन शुद्धचैतन्य धातुना।
रममाणस्य ते नित्यं बलमालोक्यतेऽतुलम्।।5।।
अनन्तबलसन्नद्धं स्वभावं भावयन् विभुः।
अन्तर्जीर्ण जगद्ग्रासस्त्व मेवैको विलोक्यसे।।6।।
विश्वग्रासादनाकाङ्क्षः प्रयातस्तृप्तिमक्षयम्।
अयं निरुत्सुको भासि स्वभाव भर निर्भरः।।7।।
अनन्त रूपै रुद्यद्भिरुपयोग चमत्कृतैः
वहस्येकोऽपि वैचित्र्यं सुमहिम्ना स्फुटीभवन्।।8।।

एक एवोपयोगस्ते साकारेतरभेदतः।
ज्ञानदर्शनरूपेण द्वितयीं गाहते भुवम् ॥9॥

समस्तावरणोच्छेदान्नित्यमेव निरर्गले।
अपार्यायेण वर्त्तेते दृगज्ञप्ती विशदे त्वयि ॥10॥

दृग्ज्ञप्तयोः सहजाहिद्सनन्तं वीर्यमूर्जितम्
सहतेऽनन्तरायं ते न मनागपि खण्डनम् ॥11॥

अखण्डदर्शनज्ञानप्रागल्भ्यग्लापिताऽखिलः।
अनाकुलः सदा तिष्ठन्नेकान्तेन सुखीभवान् ॥12॥

स्वयं दृग्ज्ञप्ति रूपत्वान्न सुखी सन् प्रमाद्यसि।
नित्यव्यापारितानन्तवीर्यंजो न्यासि पश्यसि ॥13॥

नश्वरत्वं दृशि ज्ञप्त्योर्न तवास्ति मनागपि
सतः स्वयं दृशि ज्ञप्ति क्रियामात्रेण वस्तुनः ॥14॥

न ते कर्त्रादिपेक्षत्वाद्दृशि ज्ञप्त्योरनित्यता।
स्वयमेव सदैवासि यतः षट्कारकी मयः ॥15॥

दृश्यज्ञेया बहिर्वस्तु सान्निध्यं नात्र कारणम्।
कुर्वतो दर्शनज्ञाने दृशिज्ञप्तिक्रिये नव ॥16॥

क्रियमाणदृशि ज्ञप्ती न ते भिन्ने कथञ्चन
स्वयमेव दृशि ज्ञप्ती भवतः कर्मकीर्त्तनात् ॥17॥

क्रियां भावत्वभानीय दृशि ज्ञप्ती भवतस्वयम्।
त्वं दृशि ज्ञप्तिमात्रोऽसि भावोऽन्तर्गूढ कारकः ॥18॥

दृग्ज्ञप्तीभवतो नित्यं भवनं भवतः क्रियाम्।
तस्याः कर्त्रादिरूपेण भवानुल्लसति स्वयम् ॥19॥

आत्मा भवसि कर्त्तेति दृग्ज्ञसी भत्सीति तु।
कर्मैवमपरे भावास्त्वमेव करणादयः ॥20॥
क्रियाकारकसामग्री ग्रासोल्लासविशारदः।
दृशिज्ञप्तिमयो भावो भवान् भावयतां सुखः ॥21॥
अनाकुलः स्वयं ज्योतिरन्तर्बहिरखण्डितः।
स्वयं वेदनसंवेद्यो भासित्वं भाव एव नः ॥22॥
एवमेवेति न ापि यदुपैष्यवधारणम्।
अवधारयतां तत्वं तव सैवावधारणा ॥23॥
तीक्ष्णयोपयोग निर्व्यग्रगाढ ग्रहहठाहतः।
अनन्त शक्तिभिः स्फारस्फुटं भासि परिस्फुटम् ॥24॥
त्वद्भावभावना व्याम वि॰वात्मास्मि भवन्मयः।
अयं दीपानलग्रस्त वर्तिनीत्यान संशयः ॥24॥छ॥11॥

पाठ– ११

संसार में मोहरूपी कृष्णतम व्यापिनी रात्रि चारों ओर विस्तृत है। इसने अपने अज्ञानभाव से सम्पूर्ण विश्व आवृत कर रक्खा है। हे आत्मज्ञ देव! आपने अपने इष्ट आत्मीय परिणमन द्वारा इसे सम्यक् दृष्टि से पहिचाना और नष्ट किया। भावार्थ यह है संसार के अज्ञानी प्राणी इस मोहरूप सेना से परास्त हो इसके आधीन हो रहे हैं, परन्तु आपने अपने आत्मीय पराक्रम से उसे परास्त कर दिया ॥ १ ॥

जिस कर्ममल को पूर्व अज्ञानदशा में अत्यन्त लोलुपता से अर्जित किया था जो आत्मस्वरूप का विरोधी बना और उसी का घातक सिद्ध हुआ। आपने उस पाप-पुण्य रूप समस्त कल्मष को अपनी अतिविशुद्ध चैतन्य के उद्गारों से जीर्ण जर्जरित कर दिया। अर्थात् कर्मकालिमा की स्थिति और अनुभाग शक्ति को निःशक्त निर्बल बना दिया ॥ २ ॥

संसारी प्राणी पदार्थों के प्रकाशन को प्रदीप का प्रयोग करते हैं, जब कि प्राणीमात्र ज्ञानरूपी अग्नि प्रकाश से सम्पन्न है। परन्तु अज्ञानवश निज ज्योति को भूल पर में भटक रहे हैं। वास्तविक प्रकाश भौतिकता में नहीं, अपितु आध्यात्मिकता में है और वह स्वयं हर क्षण अपने ही पास है। हे जिन! आपने इस तथ्य को समझा और उसके विशेषज्ञ होकर उसी को प्रकट प्रकाशित किया। निज वस्तु का परित्याग कर पर वस्तु में कौन तत्त्वज्ञ प्रवृत्ति करेगा? कोई नहीं। अतः आपने अपनी आध्यात्मिक निज ज्ञानकला की ज्योति जलायी। तथा उसी प्रकाशपुञ्ज को भोले प्राणियों को प्रदान करते हो। अर्थात् सबको अपनी अपनी ज्ञान चेतना जाग्रत करने की प्रेरणा सदुपदेश देते हैं ॥ ३ ॥

हे निस्पृह! आप संसार के सम्पूर्ण क्रिया-कलापों को अपनी अनन्त

और चिर संतान चलाने वाली ज्ञानाग्नि में ईंधन (जलावन) बना दिया । यहाँ तक कि अपनी चिरन्तन आत्मा को परम शुद्ध बनाने की सफलता में शरीर को भी कृष्ट कर दिया एवं अपनी शुद्धात्मा की पुष्टि के लिए ही एक मात्र प्रयास किया । शरीर को चेतना से सर्वथा भिन्न जान उसको तपाग्नि से कृश बनाया । तथा स्वशक्ति को परिपुष्ट किया ।। ४ ।।

अशेष त्रैलोक्य को ज्ञात करने से परिपुष्ट हुयी शुद्ध चेतना रूप धातु-आत्मा द्वारा जो अपने में ही लीन रहते हैं । उनके ही अनन्त शक्ति का प्रकटी करण होता है । वे ही उसमें रमणशील हुए अतुल्यबल को अवलोकन करते हैं । अर्थात् जो सर्वज्ञ है, वही अनन्तवीर्य सम्पन्न हो अनन्त सुख में निमग्न रहता है । आपका यही प्रकट स्वरूप है ।। ५ ।।

सर्वज्ञ जिन अनन्तबल सम्पन्न हो निज स्वभाव को अनुभव में लाते हुए अर्थात् स्वभावरूप में तल्लीन रहते हैं । आप भी उस अनन्तबल से युक्त हो, अतः निजस्वरूप लीन हुए भी, अथिर, नाशवान संसार की सम्पूर्ण असार परिणतियों को अवलोकन करते हो । अभिप्राय यह है कि अतीत कालीन पर्यायें विनष्ट हो गयीं, भविष्य कालीन अभी प्रकट हैं ही नहीं, तो भी आप उन समस्त जीर्ण-शीर्ण पर्यायों को अन्तर्निहित किये अशेष संसार को एक साथ प्रत्यक्ष दृष्टिगत कर रहे हो । अर्थात् निरीक्षण करते हो ।। ६ ।।

युगपत् सम्पूर्ण द्रव्य, गुण, पर्यायों से युक्त पदार्थों को आपने ज्ञात कर लिया । इसलिए आप अक्षय तृप्ति के धनी हो गये । जिस क्षण कुछ ज्ञात करने की अभिलाषा होती है, तो असन्तोष बना रहता है, उसे अवगत करने की उत्सुकता बनी रहती है, परन्तु आप अपने स्वभाव से ही परिपूर्ण हो, अशेषज्ञ होने से कुछ भी ज्ञातव्य है ही नहीं । यही कारण है कि आप पूर्ण निरुत्सुक, सन्तुष्ट प्रतिभाषित होते हो ।। ७ ।।

अपने आत्म स्वभाव के पूर्ण और अनन्तरूप से प्रकट होने से चेतना शक्ति भी अन्तरूप दृष्टिगत होती है । अर्थात् ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग एक साथ उद्दाम रूप से प्रवर्त होते हैं । अतः समस्त-अनन्त, गुण पर्यायें भी उपयोग की भूमिका में एक साथ प्रतिबिम्बित हो देखी और जानी जाती हैं । यह शुद्ध उपयोग का चमत्कार है कि एक भी वस्तु अनेक रूपों को लिए स्पष्ट होती हुयी नानारूपता धारण करती है । इसी चमत्कारी महिमा द्वारा आप भी अपनी अनन्तज्ञान, दर्शन शक्तियों का वहन करते हैं । अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पदार्थ द्रव्यार्थिक नयापेक्षा एक और पर्याय अपेक्षा अनेक रूप है । भेदाभेद विवक्षा से क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन इन्हें क्रमिक रूप से जानते देखते हैं परन्तु क्षायिक दशा प्राप्त होने पर क्रमिक प्रयुक्त न होकर युगपत् प्रवर्त होते हैं । अतः आप एक साथ भेदाभेद को ज्ञात करते हैं ॥ ८ ॥

आप स्वयं एक उपयोगात्मक हो । आत्मा का लक्षण यही है । जैसा आगम है "उपयोगो लक्षणं" आत्मा उपयोग स्वरूप है, अतः एक रूप हुयी । परन्तु वही उपयोग (चेतना) साकार और निराकार के भेद से दो रूपता को धारण करता है । ज्ञान चेतना और दर्शन चेतना, इनमें दर्शन चेतना निराकार है और ज्ञान चेतना को साकार कहा है । आप दर्शन चेतना द्वारा समस्त लोक को निर्विकल्प रूप से अर्थात् अभेदरूप से ग्रहण करते हो । क्योंकि ज्ञान दर्शन आपके एक साथ प्रवर्तन करते हैं ॥ ९ ॥

हे जिन! आप में पूर्णशुद्ध हुए ज्ञान और दर्शन, अपर्यवसान अर्थात् अनंतता लिए, अबाधरूप से नित्य प्रवर्तमान रहते हैं । कारण यह है कि आपके ज्ञानावरण और दर्शनावरण रूप आवृत करने वाले कर्मों का सर्वथा उच्छेद हो गया है ।

कारण के अभाव में कार्य नहीं होता । अतः अमर्याद रूप से उपयोग नित्य ही जाग्रत और कार्यरूप प्रवर्तन करता है ॥ १० ॥

आपके अनन्तदर्शन व अनन्तज्ञान युगपत् प्रवर्त होने में क्यों समर्थ हैं ? आचार्य श्री कहते हैं, हे भवगन् आपका वीर्य भी पूर्णता को प्राप्त कर अनन्तबल रूप हो गया है । अतः निरन्तराय उपयोग का कार्य चलता ही रहता है । तनिक भी उनके कार्य में खण्डना नहीं होती ॥ ११ ॥

हे जिन! आपके अनन्तदर्शन और अनन्तज्ञान पूर्ण विकसित हैं । अतः उनके अन्तर्गत अशेष संसार निहित हो गया । अर्थात् उनमें एक साथ झलकते हैं । यही उनका समाहित हो जाना ही समाना है । अशेष के दर्शन, ज्ञान हो जाने से आप पूर्ण निराकुल होते हुये नित्य एकान्तपने से सुख में ही निमग्न रहते हो । देखने, जानने की अभिलाषा आकुलता की उत्पादक है, पर आप इच्छा विहीन हैं क्योंकि कुछ भी दृश्य व ज्ञातव्य ही शेष नहीं है । अतः नित्य निरंतराय सुखी रहते हैं ॥ १२ ॥

आप दर्शन ज्ञान स्वरूप हो गये अतः प्रमादी नहीं होने से नित्य जागरूक व सुखी रहते हो । आपका अनन्तवीर्य भी प्रकट होने से नित्य-निरन्तर दृशि, ज्ञप्ति किया सम्पन्न रहता है । अनन्त बल के रहने से कभी भी श्रमित नहीं होते, इससे प्रमाद छू नहीं पाता । अतएव देखने और जानने में अनवरत प्रवृत्त रहते हो । निश्चय से अपने ही स्वरूप के दृष्टा, ज्ञाता हो और व्यवहार से अखिल विश्व के ॥ १३ ॥

आपका दृष्टा साता पना तनिक भी नश्वर नहीं है । सतत क्रिया शील रहते हैं । वस्तु का स्वभाव ज्ञाता दृष्टापने से अवस्थित रहता है । अर्थात् आत्मा की सत्ता ज्ञाता दृष्टापने से ही है । जो क्रिया कारी होता है वही पदार्थ है । क्रियाशीलता ही वस्तु का अस्तित्व स्थिर रखती है । जानना देखना क्रिया है ॥ १४ ॥

आपका ज्ञाता दृष्टा स्वभाव कर्ता, कर्म आदि भेद रूप कारकों की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि भेद अनित्यता का सहार्थी है । आपका ज्ञान-दर्शन तो नित्य एक रूप प्रवर्तक है । अर्थात् एक साथ क्रियाशील होता है । क्योंकि वह स्वयमेव स्वभाव से अपनी दृशि, ज्ञप्ति क्रियामय टंकोत्कीर्ण (उकेरे चित्र) के समान रहता है । ज्ञान दर्शन का आत्मा के साथ अभिन्नता है । स्वभावस्वभावी से अविच्छिन्न रहता है । आत्मा स्वभावी और दृशि, ज्ञप्ति स्वभाव हैं । इनमें प्रदेशभेद नहीं हैं ।। १५ ।।

हे भगवन! आपके दर्शन और ज्ञान में निरीक्षण और ज्ञापक क्रिया में वाह्य पदार्थ निमित्त कारण नहीं हैं, अपितु उनकी स्वाभाविक निर्मलता ही हेतु हैं । क्योंकि वाह्य वस्तुओं के उपस्थित नहीं होने पर भी वे दृशि, ज्ञप्ति शक्तियाँ स्वयं देखने जानने की योग्यता से सम्पन्न ही हैं । वस्तु स्वभाव सापेक्ष नहीं होता ।। १६ ।।

वे देखने, जानने की शक्तियाँ कभी भी भिन्न-भिन्न नहीं हो सकतीं । क्यों उनकी क्रियारूप परिणति की भिन्नता-क्रमिकता के कारणभूत दर्शनावरण व ज्ञानावरण कर्म आपने सर्वथा नष्ट कर दिये हैं । अतः क्षायिक भाव को प्राप्त वे स्वयमेव युगपत ही क्रियाकारी होती रहती हैं ।। १७ ।।

दृश्यमान एवं प्रमेय रूप पदार्थों को विलोकन, और ज्ञात करती हुयी आपकी दर्शन व ज्ञान शक्तियाँ स्वभाव से स्वयं प्रवृत्ति कर अपने में अन्तर्लीन कर वस्तुओं को झलकाती हैं । अर्थात् विषयभूत बना लेती हैं । आप तो मात्र दृष्टा ज्ञाता बने रहते हो । यह विलक्षण दर्शनज्ञान शक्तियाँ बिना इच्छा के अपना कार्य करती हैं ।। १८ ।।

केवल दर्शन व ज्ञान, देखने, जानने रूप कार्य को निरन्तर अविच्छिन्न रूप से करते ही रहते हैं । क्योंकि यही उनका स्वभाव है । वस्तु स्वभाव जैसा होता है वैसा ही रहता है । उनके कर्ता भोक्तापन से आप स्वयं उल्लासभरे आनन्द में निमग्न रहते हो । अर्थात् निश्चयनय से आप अपने स्वरूप के ही ज्ञाता, द्रष्टा हो उस ज्ञानधन स्वरूप निज स्वभावलीन रहते हो ॥ १९ ॥

इस प्रकार आप उल्लसनशाली होने से कर्ता होते हो, और वे झलकते हुए अन्य ज्ञेय कर्म कहलाते हैं । तथा आत्मा ही करणरूप ग्रहण करती है, आत्मा के लिए आत्मा में ही करती हुयी स्वभाव से षट् कारक रूप परिणति होती रहती है । अर्थात् अभेद रूप शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि से आत्मा ही सर्वकारकी है ॥ २० ॥

सम्पूर्ण कर्ता, कर्म, क्रियादि कारकों की सामग्री को अपने ही में समाहित कर आप उल्लसित होते रहते हो । अर्थात् अभेद रूप से षट्कारकी अपने में होते हुए ज्ञाता दृष्टा रूप आप अपने ही अनन्त सुख का निरन्तर अनुभव करते हुए उसी सुख सागर में निमग्न रहते हो । आपका सुख अतीन्द्रिय है । उसमें कुछ भी परापेक्षता नहीं हो सकती ॥ २१ ॥

आत्मस्वरूप ज्ञानज्योति स्वयं में स्वयं से अखण्डरूप से ज्योतिर्मय रहती है । यह प्रकाशपुञ्ज पारदर्शी होने से अन्तरंग और बहिरंग को प्रकट प्रकाशित करती है । अर्थात् स्व-पर प्रकाशक ही बनी रहती है । फलतः वेद्य वेदक भाव रूप आत्मा है, तदनुसार वह प्रतिभासित होती है यह सिद्धान्त आपने हमें दर्शित किया है । आत्म स्वभाव आत्मरूप से ही प्रभासित होता है ॥ २२ ॥

उपर्युक्त विधि से कुछ भी आपका अवग्राही-ग्रहण करने योग्य नहीं है। आप तो अपने ही स्वभाव के ग्राहक हो। जिस तत्त्व को आप धारण किये हुए हो वह ज्ञाता, दृष्टा स्वभाव ही आपके लिए ग्रहण करने योग्य है। अर्थात् आप निज स्वभाव के ही ग्रहण करने वाले हो, अन्य किसी के नहीं, यही परमार्थ सिद्धान्त है ॥ २३ ॥

आत्मोपयोग शुद्धावस्था में अत्यन्त तीक्ष्ण, निराकुल और प्रगाढ़ रूप से अवभासित होता है। अनन्तशक्ति द्वारा निराबाध होता है, अव्याबाध होने से अति व्यापक-विराटरूप धारण करता है। उसी पूर्ण विकास को लिए सतत, निरन्तर प्रत्यक्ष पूर्ण प्रकट रहता है। अर्थात् अनन्त प्रकाशरूप अविरल धारा में द्योतित रहता है ॥ २४ ॥

इस विवेचना से यह सिद्धान्त निष्पन्न होता है कि आप अपने स्वभाव भाव में व्याप्त होकर भी व्यवहारनयापेक्षा अनेक रूप भी होते हो। इस प्रकार यह उपयोगरूप अखण्ड अनन्त प्रदीप की अग्नि को, ग्रसित करने वाली वर्तिका नित्य ही प्रकाशित रहती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अभिप्राय यह है कि आत्मतत्त्व अनादि अनन्त है उसका स्वभावरूप उपयोग भी पूर्णता को प्राप्त कर अपने ही स्वभाव में अनाद्यनन्त हो वर्तन करता है। अर्थात् स्व-पर प्रकाशक ज्योति युक्त रहता है ॥ २५ ॥

हे जिनेश्वर! आप ऐसे ही अलौकिक प्रदीप हो ॥

●

अध्याय 12

जिनाय जिनरागाय नमोऽनेकान्तशालिने।

अनन्तचित्कलास्फोट स्पृष्टस्पष्टात्मतेजसे ॥1॥

अनेकोऽप्यतिमन्ये त्वं ज्ञानमेकमनाकुलम्।

ज्ञानमेव भवन्भासि साक्षात् सर्वत्र सर्वदा ॥2॥

अतएव वियत्कालो तद्गता द्रव्यपर्यया:

ज्ञानस्य ज्ञानतामीश न प्रमाष्टुं तदेशते ॥3॥

स्वरूपपररूपाभ्यां त्वं भवन् अभवन्नपि।

भावाभावो विदन् साक्षात् सर्वज्ञ इति गीयसे ॥4॥

इदमेवमिति छिन्दन्निखिलार्थाननन्तश:।

स्वयमेकमनन्तत्वं ज्ञानं भूत्वा विवर्तसे ॥5॥

अखण्डमहिमानन्तविकल्पोल्लास मांसल:।

अनाकुल: प्रभो भासि शुद्धज्ञान महानिधि: ॥6॥

अक्रमात् क्रममाक्रम्य कर्षन्त्यपि परात्मनो:।

अनन्ताबोधधारेयं क्रमेण तव कृष्यते ॥7॥

भावास्सहभुवोऽनन्ता भान्ति क्रमभुवसु ते।

एक एव तथाऽपि त्वं भावो भावान्तरंत्तु न ॥8॥

वृत्तं तत्त्वमनन्तं त्वमनन्तं यत्स्थ दर्शितम्।
अनन्तं वर्तमानं च त्वमेको धारयन्नोसि ॥9 ॥
उत्तानयसि गम्भीरं तलस्पर्शं त्वमानयन्।
अतलस्पर्श एव त्वं गम्भीरोत्ता नितोऽपिनः ॥10 ॥
अनन्तवीर्य व्यापार धीरस्फार स्फुर दृशः।
दृङमात्री भषदाभाति भवतोऽन्तर्वहिश्च यत् ॥11 ॥
आक्षेपपरिहाराभ्यां खचितस्त्वमनन्तशः।
पदे पदे प्रभो भासि प्रोत्खात प्रतिरोपितः ॥12 ॥
विभ्रता तत्तद्गुणस्वभावं स्वं स्वयं त्वया।
महान् विरुद्ध धर्म्म्याणां समाहारोऽनुभूयसे ॥13 ॥
स्वरूप सत्तावष्टम्भ खण्डित व्यासयोऽखिलाः।
असाधारणतां यान्ति धर्माऽसाधारणास्त्वयि ॥14 ॥
अनन्तधर्मसम्भारनिर्भर रूपमात्मनः।
इदमेकपदे विष्वग्बोध शक्त्याऽवगाहसे ॥15 ॥
अन्वया व्यतिरेकेषु व्यतिरेकाश्च तेष्वमी।
निमज्जन्तो निमज्जंति त्वयि तवं तेषु मज्जासि ॥16 ॥
प्रागभावादयो भावाश्चत्वारस्त्वयि भावताम्।
श्रयन्ते श्रेयसे तेषु त्वं तु भावोऽप्यभावताम् ॥17 ॥
अनेकोऽपि प्रपद्य त्वामेकत्वं प्रतिपद्यते।
एकोऽपि त्वमनेकत्वमनेकं प्राप्य गच्छसि ॥18 ॥
साक्षादनित्य मप्येतथाति त्वां प्राप्य नित्यताम्।
त्वं तु नित्योऽप्य नित्यात्म मनित्यं प्राप्य गाहसे ॥19 ॥

य एवास्तमुपैषि त्वं स एवोदीयते स्वयम्।
सएव ध्रुवतां धत्से य एवाऽस्तमितोदित: ॥20॥

अभाववतां नयन् भावमभावं भावतां नयन्।
भावएव भवन् भासि तावुभौ परिवर्तयन्॥21॥

हेतुरेव समग्रोऽसि समग्रो हेतुमानसि।
एकोऽपि त्वमनाद्यन्तो यथा पूर्वं यथोत्तरम्॥22॥

न कार्यं कारणं नैव त्वमेव प्रतिभाससे।
अखण्ड पिण्डितैकात्मा चिदेकरसनिर्भर: ॥23॥

भृतोऽपि रिक्तामेषि रिक्तोऽपि परिपूर्यसे।
पूर्णोऽपि रिच्यते किञ्चित् किञ्चिदिक्तोऽपि वर्द्धसे ॥24॥

विज्ञानघनविन्यस्तनित्योधुक्तात्मनो मम्।
स्फुरन्त्वश्रान्तमार्द्रार्द्रास्तवामूरनु भूतय: ॥25॥छ॥12॥

पाठ—१२

प. पू. चा. चूडामणि आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी गुरुदेव इस स्तोत्र के प्रारम्भ में श्री जिनदेव को नमस्कारात्मक मगंलाचरण कर रहे हैं। रागादि अठारह दोषों का परिहार करने वाले, दोषजित, अनेकान्त सिद्धान्त के प्रतिपादक अनन्त चैतन्य आत्मा की चित् शक्ति को स्पष्ट करने वाले, आत्मप्रकाश में तल्लीन, ज्ञान ज्योति से ज्योतिर्मय जिनेन्द्र प्रभु को नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

हे प्रभो ! आप पर्यायदृष्टि से अनेक आत्मीय शक्तियों के पुञ्जरूप होने से अनेकरूप हैं ऐसा मैं मानता हूँ। परन्तु अभेद दृष्टि से विचार करने पर आप निराकुल एक ज्ञान स्वरूप ही हो। क्योंकि आप ज्ञान धन स्वरूप होते हुए ही साक्षात् सर्वदा, सर्वत्र, प्रत्यक्ष प्रतिभासित होते हो। अतः चेतन स्वभावी मात्र एक स्वरूप ही हो ॥ २ ॥

अतः विहारकाल में आप अपने ज्ञानस्वरूपता की द्रव्य पर्यायों से सम्पन्न ही प्रत्यक्ष होते हैं। अर्थात् ज्ञान की पर्यायों से युक्त हैं। ज्ञान की ज्ञातृत्व शक्ति से परिपूर्ण हैं अतः आप ज्ञान के ईश, अधिपति हो। अन्यथा देशना के प्रामाणिक कर्त्ता नहीं हो सकते। आप अशेष के ज्ञाता हो। अतः आपकी देशना प्रतिपादित तत्त्व यथार्थ, समीचीन और पूर्ण प्रामाणिक है। अतः आप ही ज्ञानेश्वर-सर्वज्ञ हो ॥ ३ ॥

आप स्व स्वरूप की अपेक्षा अर्थात् स्वचतुष्टय द्रव्य क्षेत्र, काल और भावापेक्षा सत् स्वरूप हो, तथा पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप पर चतुष्टय अपेक्षा असत् रूप भी हैं। अर्थात् एक गुण अन्य रूप नहीं होता। जिस क्षण आप ज्ञान गुण अपेक्षा सर्वज्ञाता हैं तो प्रमातृ शक्ति सहचर होकर भी दृशिरूप नहीं होती। अतः सत्ता-असत्ता के एक रूप होकर भी एक रूपता प्रकट झलकती है। अतएव आप ही धर्मतीर्थ के य थार्थ प्रवर्तक हैं। इसी से आप सर्वज्ञ कहे जाते हैं ॥ ४ ॥

समस्त पदार्थ पर्यायों की अपेक्षा अनेकरूप-भेदरूप हैं तथा वे ही द्रव्यार्थिनय की दृष्टि से एक रूप है । आपने स्वयं अपने आत्मतत्त्व को उभयनयों की अपेक्षा एकानेक रूप से अवगत किया है । इसलिए तो आपने तत्त्व स्वरूप ऐसा ही इस प्रकार प्रतिपादित किया है । क्योंकि आप भी अपने अनन्तगुण पर्यायों रूप केवलज्ञान की व्यापकता से अखिल पदार्थों में एक साथ एक समय में ही व्याप्त होते हो । अतः ज्ञानापेक्षा आप सर्व व्यापी होते हुए प्रवर्तते हो ॥ ५ ॥

अनन्त पदार्थों और उनकी अनन्त पर्यायों में स्वभाव से प्रवर्तने के उल्लास-आनन्द से परिपुष्ट होकर भी आप अखण्ड एकरूप अनाकुल, शुद्धज्ञानरूप महानिधि के धनी प्रतिभासित होते हो । हे जिन यह आपके अखण्ड ज्ञानघन स्वरूपी महिमा अत्यन्त विलक्षण व अद्वितीय है ॥ ६ ॥

अनादिकालीन अज्ञान की असीमित मोहवाहिनी में बहते हुए एकान्तवादी वस्तु को अक्रमित-कूटस्थनित्य कहते हैं, वे पर्यायरूपता से अनभिज्ञ हैं । अन्य उसे क्रमिकरूप क्षणभंगुर प्रतिपादित करते हैं । एक क्रमपक्ष का लोप करते हैं तो दूसरे अक्रम का अभाव बतलाते हैं । परन्तु वस्तु स्वरूप क्रमाक्रम रूप है । हे जिन ये दोनों ही मिथ्यावादी स्व और पर घातक हैं । आपके अनेकान्त सिद्धान्त में उभय धर्म का निरूपण है, जिससे इन दोनों ही पक्षों का खण्डन हो जाता है और यथार्थ वस्तु स्वरूप प्रकट हो जाती है ॥ ७ ॥

प्रत्येक पदार्थ अनन्तगुण धर्मों के साथ सहभावी रहता है । आत्म द्रव्य भी अनन्त धर्मात्मक है । गुण गुणी से सत् अभिन्न रहते हैं । कहा भी है "सहभावीगुणाः" । परन्तु क्रमिक होने पर भी पर्यायों का परिणमन क्रम से होता रहता है । इसी पर्याय शक्ति द्वारा गुणों की अभिव्यक्ति और स्थिति निरन्तर बनी रहती है । क्योंकि एक गुण की पर्याय अन्यगुण की नहीं होती । यही कारण है कि पर्यायार्थिक दृष्टि से भिन्न रूप प्रतीत होने पर भी द्रव्य द्रव्यार्थिक दृष्टि एक ही होता है अन्य पदार्थरूप नहीं होता ।

इस प्रकार आपकी देशना है। सिद्धान्त कहा है। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने गुण धर्मों के साथ ही रहते हैं यह आपने सिद्धान्त निर्दिष्ट किया है ॥ ८ ॥

तत्व भूतकालीन अनन्त वर्तमान सम्बन्धी भी अनन्त भविष्य में होने वाली भी अनन्त पर्यायों से संयुक्त हैं। हे जिन आप इन अनंतानंत पर्यायों की पीत एक शुद्ध, अखण्ड चैतन्य स्वभाव में ही निमग्न हुए विराजते हो। शुद्ध पर्याय में अवस्थित अनन्त परमानन्द में स्थित हो ॥ ९ ॥

हे जिन! आप अपने निजस्वभाव की गम्भीरता को तलस्पर्शीरूप से स्वयं के पुरुषार्थ से प्रकट विस्तृत करते हैं। तथा केवली समुद्घात के समय तो सर्वलोक व्याप्त हो जाते हैं। परन्तु यह विस्तृत अवस्था भी हम जैसे छद्मस्थ अज्ञ जनों को ज्ञात नहीं होती। हमारे लिए तो वह अतलस्पर्शी ही बनी रहती है। अर्थात् हमसे स्पर्शित होते हुए भी अज्ञात ही रह जाती है ॥ १० ॥

हे जिन! आप अनन्तवीर्य के धारी हैं। इस अनन्तशक्ति की क्रिया है एक साथ एक समय में समस्त विश्व को देख लेना। अतः आप पूर्ण धीर-वीर सतत अन्तर्बाह्य जगत का निरीक्षण करते रहते हैं। अनन्तवीर्य के साथ रहने वाला अनन्तदर्शन है। जिससे आप विश्व दृष्टा हो दर्शनस्वरूपी प्रतिभासित होते हो। कारण प्रत्येक गुण अपनी-अपनी सत्ता लिए प्रकटदृष्टिगोचर होता है ॥ ११ ॥

विधि व निषेध रूप धर्मों से संयुक्त आपका परमात्मतत्त्व अनेकरूप रूपों से जडित प्रतिक्षण प्रतिभासित होता है। अर्थात टांकी से उकेरे हुए के सदृश प्रतिबिम्बित हो रहा है। हे जिन! आपका उज्ज्वल शुद्ध स्वरूप अन्तरहित-अनन्त युगपर्यायो को उस प्रकार धारण किये है कि त्रैकालिक रूप से उसी एकरूप रहेंगे। यह आपका आत्मतत्त्व अनन्तकाल तक इसी परमशुद्धावस्था को धारण कर प्रकाशित रहने वाला है ॥ १२ ॥

हे प्रभो ! आपने अपने को अपने ही द्वारा तदतदस्वभावरूप से प्रकट किया है । अभिप्राय यह है कि कर्मजन्य समस्त शुभाशुभ भावों का कर्मो के साथ नष्ट कर दिया, इससे अतत्स्वभावी हो । तथा अपने निज ज्ञान-दर्शन चेतनादि स्वभावों का कभी भी परिहार नहीं करते इससे तद्स्वभावी हो । तथाऽपि निस्वभावों में भी ज्ञान चेतना का स्वभाव स्व-पर का ज्ञात करना है-और दर्शन का स्वभाव मात्र अवलोकन करना है । ये दोनों धर्म विरोधी होने पर भी आपमें निर्विरोध रूप से व्यवहृत होते हैं । अतः विरुद्धधर्मों को समाहार एकीकरणरूप से आप स्पष्ट अनुभव करते हो । सभी अनन्त शक्तियाँ-धर्म एक साथ आपकी अनुभूत हो रही हैं ॥ १३ ॥

आप अपनी स्वरूपसत्ता से एक व अखण्ड हो । किन्तु उसकी स्वच्छता और निर्मलता के कारण अखिल विश्व व्याप्त हो रहा है- दर्पण समान झलक रहा है । इसी से वह सामान्यसत्ता एक रूप होकर विशेष धर्मापेक्षा असाधारण रूप से प्राप्त होती है । अभिप्राय यह कि द्रव्यदृष्टि से आपका स्वरूप एक रूप है और व्यवहार दृष्टि या पर्यायदृष्टि अथवा भेददृष्टि अपेक्षा अनेकरूप प्राप्त होता है । सार यह है कि आप साधारण और असाधारण इन उभय स्वभावों से युक्त हैं ॥ १४ ॥

आत्मतत्त्व का निज स्वरूप अनन्तधर्मों के समूह को लिए हुए हैं । एकता में यह अनेकता किस प्रकार किसके ज्ञात है ? जिन! यह वस्तु वैचित्र्य स्वभाव पूर्ण और सर्वव्यापी ज्ञान शक्ति के द्वारा ज्ञातव्य है । आपका केवलज्ञान पूर्णता लिए है अतः आप सर्वज्ञ हैं । इसीलिए इस अलौकिक वस्तु तत्त्व के ज्ञाता हैं ॥ १५ ॥

आप में अन्वय-गुणधर्म और व्यतिरेक रूप पर्याय धर्म ये दोनों ही समानरूप से विद्यमान हैं । उनमें से जिस क्षण अन्वय स्वभाव का विचार करते हैं तो व्यतिरेकी धर्म छिप जाते हैं और जब व्यतिरेकी धर्म की विवक्षा होती है तो अन्वयी धर्म अन्तर्निहित हो जाता है । अभिप्राय यह है कि आपके सिद्धान्तानुसार आत्म तत्त्व अन्वय-व्यतिरेक उभय धर्मों का पिण्ड है । दोनो

धर्म अविच्छिन्न रूप से रहते हैं । किन्तु विवेचना के समय विवेचक के अभिप्राय के अनुसार एक मुख्य और दूसरा गौण हो जाता है, नष्ट नहीं होता । विवक्षा व अविवक्षानुसार प्रधानता व अप्रधानता से रहते हैं । कोई भी धर्म व शक्ति सर्वथा नष्ट नहीं होती ॥ १६ ॥

हे जिनेश्वर आपने वस्तु के अभावरूप धर्म का कथन करते हुए अभाव को चार प्रकार का बतलाया है । १ प्रागभाव, २ प्रध्वंशाभाव ३, अन्योन्याभाव और ४ अत्यन्ताभाव । ये अभाव भी आपके सिद्धान्त में अपनी-अपनी सत्ता रूप से सद्भावपने को लिए हुए हैं क्योंकि सत् का कभी अभाव नहीं होता है और असत् का उद्भव नहीं होता । ये सभी अभाव एक ही वस्तु में अपेक्षाकृत समाहित रहते हैं । इस तत्त्व का रहस्य अवगत करना कल्याणकारी है । आपका स्वभाव भी अर्थात् स्वरूप भी अभाव को लिए सद्भाव रूप सिद्ध होता है । यथा जड़ता का अभाव चेतना का सद्भाव सिद्ध करता है । आप चिद्रूप-चैतन्य स्वभावी हैं क्योंकि जड़ता आपको छू नहीं पाती । आप में सभी अभाव मौजूद हैं । यथा संसार दशा सिद्धत्व नहीं था अभी प्रकट हुआ है । यह शुद्धावस्था का प्रागभाव हुआ । संसार दशा विनष्ट हुयी मुक्तावस्था प्राप्त यह प्रध्वंशाभाव है । जड़ में चेतना नहीं और चेतना में जड़ता नहीं यह अन्योन्याभाव है । कर्म कालिमा सदैव को पृथक् हो गयी यह अत्यन्ताभाव है । ये सभी अभाव आपकी सद्वस्था के ही ज्ञापक हैं । क्योंकि कि यह नहीं वही नहीं तो हैं क्या ? अपनी स्वभाव सत्ता निहित चेतन द्रव्य ॥ १७ ॥

पर्यायनय या व्यवहार नय की अपेक्षा आप अनेकरूप होकर भी निश्चयनय या द्रव्यार्थिक नय से एक रूपता को धारण करते हो क्योंकि वस्तु स्वभाव भेदाभेदात्मक ही है । इस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से एक चैतन्य स्वभावी होकर भी भेददृष्टि से अर्थात् व्यवहार नय से अनेकता को प्राप्त करते हो । अतएव वस्तुतत्त्व स्वभावतः एकानेकात्मक है ॥ १८ ॥

साक्षात् संसार अनित्य दृष्टिगत हो रहा है । परन्तु आपके सिद्धान्त को प्राप्त होने पर अनित्यत्व में नित्यत्व प्रतिबिम्बित होता है । क्योंकि एकान्त

रूप से नित्यपना या अनित्यपना कदाऽपि सिद्ध नहीं होता है । आप अपनी अनेकान्त दृष्टि से उभय धर्मात्मक वस्तु को उभयात्मक ही अवलोकते हो। अतः आप स्वयं भी आपके सिद्धान्तानुसार नित्य सिद्ध या अर्हन्त होते हुए भी अनित्य धर्म को प्राप्त होते हैं । अथवा यों समझें केवलज्ञान स्वभाव से एक रूप नित्य हो और षड्गुणी हानिवृद्धि की अपेक्षा अनित्य स्वरूप भी हो क्योंकि द्रव्य नित्य होकर भी पर्यायपेक्षा अनित्य भी है ॥ १९ ॥

आपने अपने सिद्धान्त में वस्तु स्वभाव को प्रतिक्षण उत्पाद् व्यय, और ध्रौव रूप निरूपित किया है । ये तीनों धर्म या स्वभाव एक ही समय में एक साथ रहते हैं । जिस क्षण उत्पाद हुआ, उसी क्षण में व्यय है और तत्क्षण ही ध्रौव्यपना है । यही सिद्धान्त द्रव्य और पर्याय रूपता को सिद्ध करता है । पर्याय दृष्टि से उत्पाद् और व्यय की व्यवस्था और द्रव्यत्व दृष्टि से ध्रुवता की सिद्धि होती है । जो अस्त-नष्ट होता है वही उत्पन्न होता है तथा जो उत्पन्न होता है, वह नाश को प्राप्त होता है और दोनों का आधार भूत ध्रौव्य-द्रव्य है । यथा मृत्पिण्ड है पिण्ड का अभाव हुआ और घट पर्याय की उत्पत्ति दोनों में समय भेद नहीं हुआ तथा दोनों अवस्थाओं में मिट्टी व्याप्त है जो ध्रुवता की प्रतीक है । प्रत्येक पदार्थ में यह प्रक्रिया होती ही रहती है ॥ २० ॥

पदार्थों में अभाव और सद्भाव पर चतुष्टय और स्व चतुष्टय की अपेक्षा से परिणमित होते रहते हैं । अर्थात् भाव (सद्भाव) अभाव पूर्वक और अभाव सद्भाव की अपेक्षा रखता है । क्योंकि कि पर्यायदृष्टि से ये दोनों स्वभाव परिणमनशील हैं । यथार्थ में शुद्ध निश्चय की अपेक्षा तो द्रव्य सत् रूप ही है । सर्वज्ञ के ज्ञान में ऐसा ही वस्तुस्वरूपता प्रकट भासती है ॥ २१ ॥

हे भगवन्! वस्तु की समग्रता हेतु होकर भी हेतुमान भी समग्रता है । अर्थात उत्तरोत्तर पर्यायों में पूर्व पर्याय हेतु और उत्तर पर्याय हेतुमान होती है । अभिप्राय यह है कि पर्याय अपेक्षा साधन साध्य होता जाता

है । यथा प्रभो आप प्रारम्भ में अर्हत अवस्था में जिस प्रकार अनन्त चतुष्टय के धनी थे उसी प्रकार उत्तरवर्ती सिद्धावस्था में भी हो । तो भी एक मात्र ज्ञायक स्वभावी ही चैतन्यमय हो ॥ २२ ॥

कार्य कार्यरूपहै, कारण कारणरूप । कार्य साधन नहीं होता और न ही साधन साध्य । विवक्षा से दोनों अपने अपने स्वरूप निष्ठ हैं । परन्तु उभय अवस्था में तत्त्व एक रूप प्रतिभासित होता है । यथा आर्हत दशा और सिद्धावस्था भिन्न-भिन्न होने पर भी आपका शुद्धात्मा उभयत्र एकरूप ही प्रकट भासता रहता है । अतः आत्मा एक मात्र चिदानन्दरस निर्भर अखण्ड एक चिद् पिण्डरूप ही है । हे जिन! आप इसी चित् पिण्ड अखण्ड रूप से अवस्थित रहते हो ॥ २३ ॥

परिपूर्ण हुआ भी पदार्थ रिक्त होता है और रिक्त होकर भी पुनः परिपूर्ण होता है, पुनः पूर्णता प्राप्त कर कुछ-कुछ क्रमशः खाली होता है और रिक्त हुआ पुनः परिपूर्णता प्राप्त कर लेता है । जल कल्लोल वत् अर्थ पर्याय षड्गुणी वृद्धि और षड्गुणी हानि के रूप से पदार्थ में वृद्धि-हानि रूप परिणमण कराती रहती हैं । यह भी वस्तु में रहने वाले अगुरुलघु गुण के कारण स्वभाविक रूप से होती रह कर वस्तु को यथा तथा ही बनाकर रखती है ॥ २४ ॥

हे जिन! आपकी भक्ति प्रसाद से मेरा आत्मा विज्ञान धन स्वरूप निजभाव को प्राप्त करने के लिए निरन्तर अश्रान्त हुआ उद्यमशील रहे । आचार्य श्री चाहते हैं कि जिनदेव स्तवन के फल स्वरूप मैं सतत प्रमाद त्याग, तत्परता से अपनी ही अनुभूति में तन्मय रहूँ । तथा मेरे अन्तः करण को आपकी अनन्त गुण राशि की अनुभूतियाँ समतारस से आर्द्र करती रहें । मैं सतत अश्रान्त और अप्रमादी हो आप सदृश आत्मानन्द पीयूष से अभिषिक्त होने का सफल प्रयास करूँ यही भावना भाता हूँ ॥ २५ ॥

अध्याय 13

सहज प्रमार्जित चिदच्छरूपता प्रतिभासमाननिखिलार्थ सन्नति।

स्वपरप्रकाशभरभावनामयं तदकृभिनं किमपि भाति ते वपुः ॥1॥

क्रमभाविभावनिकुरूम्बमालया प्रभवावसानपरिमुक्तया तव।

प्रसृतस्य नित्यमचलं समुच्छल जिनचिच्चमत्कृतमिदं विलोक्यते ॥2॥

इदमेव देव सहभाविनोत्रव स्फुटयत्यनन्त निजधर्ममण्डलीम्।

तदभिन्नभिन्नसुखवीर्यवैभव प्रभृतयशक्तिरसकाल येनजाद् ॥3॥

त्वमनन्तधर्मभर भावित्येऽपि मन्त्रुपयोगलक्षण मुखेन भाससे।

न हि तावत यमुपयोगसाभयो श्रयसे निराश्रयगुण प्रसिद्धितः ॥4॥

अजडायमात्रमवर्यान्तचेतनाम जडः स्वयंजडतामियात परात्।

न हि वस्तुशक्तिहरणक्षमः परः स्वपरप्रकाशनबाधितं तव ॥5॥

अजडप्रमातरि विभौ त्वयि स्थिते स्वपरप्रमेयमिति रित्यबाधिता।

अविदन परंन्नहि विशिभ्यन्ये जडात् परवेदनं च न जडाग्रकारणम् ॥6॥

जडतोऽभ्युदेति नजडस्य वेदना समुदाते सातुयदि।

ध्रुवामुस्तमेति जडवेदना तथा जडवेदना ॥7॥

न च वेदनात्मनि सदात्मनात्मनः।

अविदन् परं स्वमयमाकृतिं विना ज्ञयमन्धबुद्धि ॥8॥

न कदायनापि परवेदनां विना निजवेदना जिनजनस्य जयिते।
राजमलिनेन निपतन्ति बालिशाः पर रक्तिरिक्तोवद् ॥9॥

परवेदनां स्तमयगाढ संहता परितो दृमेवदत्यथदि देव।
परवेदनाऽभ्युदयदूरविस्तृता नितरादृभेव किल भाति केवला ॥10॥

परवेदना न सहकार्य सम्भव परिनिर्वृतस्थं कथन।
द्वयवेदना प्रकृतीरिव संविदः स्थगितैव साभ्रकरणान्यपेक्षतो ॥11॥

न परावमर्शरसिकोऽभ्युदीयसे परमाश्रयन् धिमजसे निजाः कताः।
स्थितिरेवसाकिल नद्वातु वास्तवी अमर्शवः स्पृशन्ति धातिनः ॥12॥

विषया इति स्पृशति धीररागवान् विषयीति पश्याति विरक्तदर्शन।
उभयोसदैव समकालवेदने तदविप्लवे चन विप्लवः चित् ॥13॥

स्वयमेव देवभुवनं प्रकाश्यतां यदि याति यातु तपनस्य का क्षतिः।
सहजप्रकाशभर निर्भरंऽशु मान्नहि तत्प्रकाशभधिया प्रकाशने ॥14॥

स्वयमेव देवभुवनं प्रमेयतां यदि याति यातु पुरुषस्य का छतिः।
सहजावबोधभरनिर्भरः पुमान्नहि तत्प्रमाणे वसः प्रकाशते ॥15॥

उदयनप्रकाशयति लोकमंशुमान् भुवन-प्रकाशनमति विनापिचेत।
घनमोहसन्नहृदयस्तदेष किं परमासनव्यसनमेति बालकाः ॥16॥

बहिरन्तरप्रतिहृद्वतप्रभाभरः स्वपर प्रकाशनगुणः स्वभावतः।
त्वमयं चिदेक नियतः परः परं भ्रममेति देव परमासते ॥17॥

स्फुटमावमात्रमपि वस्तु ते भवत्स्वसमाकरोति किलकारकोत्करम्।
न हि हीयते कथमपीहनिश्चय व्यवहार संहतिः ॥18॥

सहजासदा स्फुरन्ति शुद्धचेतना परिणामिनोऽत्र परजा विभक्तपः।
न विभक्ति कारणतया बहिर्लुठन्न पनीत मोहकलुषस्यते पराः ॥19॥

अवबोधशक्तिरपयानि नैक्यतो न विभक्तयोऽपि विजहत्यमेकताम् ।
तदनेकमेकमपि चिन्मयं वपुः स्वपरौ प्रकाशयतितुलयमेव ने ॥20 ॥

त्वमनन्तवीर्य बलवृंहितोदयः सततं निरावरणबोधदुर्द्धर ।
अविचिन्त्यशक्ति सहित स्तटस्थितः प्रतिभासि विश्वहृदयाति दास्यन ॥21 ॥

बहिरङ्गहेतुनियतव्यवस्थया परमानयन्नपि निमित्तमात्रताम् ।
स्वयंमेव वि पुष्कलविभक्तिनिर्भरं परिणामनेषि जिनकेवलात्मना ॥22 ॥

इदमेकमेव परिणाममागतं परकारणाभि रहितं विभक्तिभिः ।
तवबोधधाम कलयत्यनङ्कुशामवकीर्ण विश्वमपि विश्वरूपताम् ॥23 ॥

जिनकेवलैककलया निराकुलं सकलं सदा स्वपरवस्तुवैभवनम् ।
अनुभूति मानयदनन्तमव्ययं नव याति तत्वमनुभूति मात्रताम् ॥24 ॥

अलमाकुलप्रलपितैर्व्यवस्थितं द्वितयस्वभावमिह तत्वमात्मनः ।
मूलपथन्त्यशेषमियमात्मवैभवादनुभूतिरेव जयतादनङ्कुशा ॥25 ॥

पाठ १३

स्वच्छ हुयी चिद् स्वरूपता, स्वाभाविक रूप से प्रमार्जित-निर्मल है। स्व-पर प्रकाशक इसका लक्षण है। लक्ष्य अपने लक्षण से पूर्ण भरित ही रहता है। संसार के समस्त पदार्थों की परम्परा को प्रकाशित करती है। अर्थात् इसकी निर्मल-स्वच्छ-दर्पणवत् आभा में अशेष पदार्थ एक साथ अपनी-अपनी अनन्तपर्यायों सहित अवभासमान होते रहते हैं। वह स्वभाव अकृत्रिम है। हे जिनदेव ! वही आभा अंशरूप में आपके पारमौदारिक शरीर में भी प्रकाशमान हो रही है। अभिप्राय यह है कि केवलज्ञान रूप दैदीप्यमान आत्म स्वभाव में वही चिद् स्वभाव जो संसारावस्था में कर्ममल भस्म से आच्छादित थी वह प्रकट प्रकाश में झलकने लगती है।

यह चैतन्य आभा क्षायोपशमिक रूप भाव द्वारा विश्वीय पदार्थों का समूह रूप माला क्रम-क्रम से अवभासित होती थी, परन्तु वहीं प्रकाश ज्योति क्षायिक रूप धारण कर हे जिन ! आप में आदि-अवसान रहित; नित्य, अचल, उछलती हुयी चैतन्य प्रभा एक साथ मिश्रित विश्व को आलोकित कर रही है। संसारावस्था में क्षायोपशमिक ज्योति आपमें उच्छलित हो रही है। परन्तु निश्चय से आप अपने ही चिच्चमत्कृत ज्योति ही का अवलोकन करते हैं ॥ २ ॥

हे देव ! यही सहभाविनी यह निजभाव स्वरूप मण्डली सतत एक साथ ही स्फुरायमान होती है, इसीलिए अभिन्न है। अर्थात् अनन्त सुख, वीर्य, दर्शन आदि गुण भिन्न होते हुए भी एकाश्रय से एक साथ ही निज-निज कार्य रूप परिणति करते हैं। इनकी परिणति में समय भेद भी नहीं होता क्योंकि प्रदेश भेद नहीं है। आत्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी है, उनमें सर्वत्र सभी गुण समूह एकाकार रूप से परिणमन करते हैं। सभी गुणों का एक साथ एक

ही समय में वेदन होता है । अनुभव में आते हैं । अतः भिन्न-भिन्न भेदाभेद विवक्षा से भेद में अभेदपना सिद्ध होता ही है ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! आप में एक साथ अनन्तगुण समाहित हैं । तो भी उपयोग रूप एक ही सत्तारूपता है । क्योंकि सभी शक्तियों का अवभास एकमात्र ज्ञानोपयोग द्वारा ही होता है । यद्यपि सभी अनन्त शक्तियाँ एक उपयोग के ही आश्रय हैं, तथाऽपि सभी अपने-अपने अस्तित्व में स्थित हैं, मिलकर एक रूप नहीं हो जातीं । क्योंकि आगम का सैद्धान्तिक वचन है "निराश्रयाः गुणाः" अर्थात् द्रव्य एक के आश्रय रहकर भी सर्वगुण निराश्रय होते हैं । स्वतंत्र अपने ही आश्रय से निवास करते हैं ॥ ४ ॥

भव से भवान्तर प्राप्ति का हेतु जड़रूप कर्म हैं । परन्तु वे आपको भव-भवान्तरों में परिभ्रमण कराकर भी अपने जड़ (अचेतन) स्वभाव में परिणमित नहीं कर सके । कारण आत्मा स्वभाव से ही चेतन द्रव्य है । स्वयं द्रव्य की योग्यता अपने स्वभाव का कभी भी, कदाऽपि परित्याग नहीं कर सकती । स्वभाव व स्वभावी में अक्षुण्ण त्रैकालिक सम्बन्ध रहता है । कोई भी वस्तु अपने वस्तुत्व को पर पदार्थ के संयोग रूप सम्बन्ध से त्याग नहीं करती, क्योंकि पर द्रव्य अन्य की स्वभावशक्ति को अपहरण करने में समर्थ नहीं हो सकता । हे जिनदेव ! आपने ज्ञान-चेतना को स्व-पर प्रकाशक निरूपित किया है । यह आपका सिद्धान्त अकाट्य व अबाधित है । इसमें कोई भी प्रमाण, युक्ति बाधक नहीं, अपितु साधक ही हैं ॥ ५ ॥

हे प्रभो ! आपने चेतन को प्रमाता और जड़ तथा चेतन को प्रमेय निश्चित किया है । इस प्रकार स्व और पर प्रमेय सिद्ध हैं । यह व्यवस्था पूर्णतः अबाधित है । पर रूप अचेतन को ज्ञात कर तथा अपने समाहित होने पर ज्ञान चेतना तद्रूप नहीं होती अर्थात् जड़त्व पने को प्राप्त कदाऽपि नहीं होती है । अपना वैशिष्ट (वैशिष्ट) नहीं तजती । इसी प्रकार जड़ात्मक

अचेतन भी शुद्ध चेतना में छाया रूप से झलकते हैं, किन्तु चेतन रूप नहीं होते । यही नहीं सजातीय-चेतन भी चेतना के ज्ञेय होकर तद्रूप नहीं होते, अपितु अपनी-अपनी सत्ता में ही रहते हैं ॥ ६ ॥

जड़ से किसी का भी उदय नहीं हो सकता है और जड़ को किसी प्रकार का कष्ट या कष्ट की अनुभूति भी नहीं हो सकती. जो जड़ वेदना है अपने सत्ता के निरुपक नहीं होने के कारण वह अपने आप में असत्य सिद्ध हो जाता है । यदि वेदना की अनुभूति हो रही है तो वह वेदना जड़ वेदना नही है । (अर्थात् चैतन्य विशिष्ट वेदना होगी) ॥ ७ ॥

सुख दुख इत्यादि को अनुभव करने वाले आत्मा में जड़ का आपादन (निरूपण) सम्भव नहीं किन्तु निरन्तर सत्य स्वरूप में रहने वाले आत्मा के आकृति को ग्रहण करने के बिना अनुभव भी सम्भव नहीं है, किन्तु यदा कदा अपनी अनुभूति का अभिव्यंजक नहीं होने के मात्र से उस आत्मा को हम मन्दबुद्धि भी नहीं कह सकते हैं ॥ ८ ॥

हे जिन ! आपने स्पष्ट सिद्धान्त दर्शाया है, जो जन स्वयं को नहीं ज्ञात करता है वह पर का ज्ञाता भी नहीं हो सकता । जिस प्रकार अज्ञानी प्राणी (मनुष्य) आसक्तिवश अपने से विरत के साथ भी प्रेम करता है और नष्ट होता है । अर्थात् व्यर्थ पुरुषार्थ होताहै । यदि नेत्र बन्द कर कोई मूर्ख दौड़ता है तो पतन के गर्त में ही पड़ता है । अथवा समझिये कि हस्तिनी जो नकली रहती है प्रेमांध हुआ जड़बुद्धि गज उसके प्रति प्रेमांध हुआ दौड़कर जाता है तो स्वयं ही गर्त में पड़कर नष्ट होता है–दुःखी होता है । इसी प्रकार जो स्वयं को नहीं जानता है, वह परका ज्ञाता किस ज्ञाता किस प्रकार हो सकता है ? नहीं हो सकता । अपितु स्वयं ही जड़त्व को प्राप्त होगा । अतः आत्मा स्व-पर प्रकाशक है यही आपका सिद्धान्त यर्थात् व निर्बाध है, यह सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

यदि कहा जाय कि पर को एकान्तरूप से जानता नहीं है तो ज्ञेयों के अभाव से सर्वज्ञता नहीं बन सकेगी । क्यों कि "सर्वं जानातीति सर्वज्ञः" जो स्व-पर दोनों को जानता है वही सर्वज्ञ है । वह भी स्व पर का एक ही समय में ज्ञाता होना चाहिए । केवल ज्ञान में अशेष पदार्थ अपनी-अपनी अनन्त पर्यायों से युक्त एक समय में केवल ज्ञान के विषय होते हैं । यह सिद्ध नहीं होगा । फिर सर्व ज्ञाता-दृष्टा पने का ही अभाव हो जायेगा, जो प्रत्यक्ष बाधित है । अतः हे देवाधिदेव! आप स्व-पर के द्रष्टा व ज्ञाता हैं ॥ १० ॥

पर द्रव्यों का संवेदन मात्र ही ज्ञान की स्थिति का कारण नहीं है अपितु उसी की स्वभाव शक्ति ही ज्ञानोत्पत्ति की सहकारी है । क्यों कि स्वभाव से ही ज्ञान का लक्षण स्व-पर प्रकाशक है । यदि ऐसा नहीं स्वीकृत किया जाय तो पर द्रव्य स्वरूप कर्म किसके आवरक होंगे ? उस स्व पर प्रकाशकता को ही आवृत्त करते है । उनकी निवृत्ति के उद्यम से वह योग्यता प्रकट प्रकाशित होती है । यथा आकाश प्रदेश पर मेघाच्छन्न हो जांये तो रविरश्मियाँ न तो स्वयं की दर्शक होती हैं न पर की । अतः जिस प्रकार प्रभाकर स्वभाव से ही स्व पर प्रकाशक योग्यता से सम्पन्न होने से ही पर रूप मेघ से आच्छादित होता है उसी प्रकार आत्मा अपने स्व-पर प्रकाशक ज्ञानोपयोग युक्त होने से ही पर रूप जड़ात्मक कर्मों से आवृत्त होती है । आवारक कर्म पटल के मेघ समान विलीन होते ही अपने निजस्वभाव-स्व-पर प्रकाशकता से प्रकट दैदीप्य मान हो सर्वाङ्ग ज्ञान ज्योति प्रकट प्रकाशित होती ॥ ११ ॥

पर पदार्थ के विषय में परामर्श-विचार करने वाला अपने स्वयं के अभ्युदय का त्याग नहीं कर देता । मात्र पर का आश्रय लेने से निज शक्ति का अभाव नहीं, अपितु अभ्युदय ही होता है । स्थिति तो यह कि चेतन शक्ति वास्तव में स्व-पर प्रकाशक ही होती है । यदि ऐसा नहीं हो तो आक्रमण कर्ता अपने शत्रु, विरोधी पर किस प्रकार हमला-चढ़ाई कर सकेगा ? शत्रु

को ज्ञात कर ही तो उसके साथ समर करने को उद्यत होता है। इसी प्रकार ज्ञान भी अपने प्रतिपक्षी ज्ञानावरणी जड़ कर्म को पहिचान कर उस धावा करता है। संयमरूप शस्त्र का धार कर उसे परास्त कर देता है। तथा शुद्धावस्था प्राप्त कर लेता है ॥ १२ ॥

विषय सेवन करने में अनुरक्त पुरुष पंचेन्द्रिय विषयों का सेवन करता है। अर्थात् उनका स्पर्शन करता है, ग्रहण करता है। परन्तु विषय विरक्त संयमी मात्र उनका दर्शक ही रहता है, कर्ता-भोक्ता नहीं होता। ये दोनों ही धर्म-जानना और देखना क्रिया सदैव एक ही समय में होती रहती हैं। किस प्रकार? जिस प्रकार जिन वस्तुओं के राग होता है, उन्हें जीव ग्रहण करता तो उसी काल में प्रतिकूल विषयों के प्रति द्वेष भी होता ही है। जिनके प्रतिरागभाव होता है उसमें निमग्न होता है और जिन्हें अनिष्टकारक समझता है, उनके प्रति आकर्षित होता है ॥ १३ ॥

हे स्वामिन्! अंशुमाली (सूर्य) स्वयं अपने स्वाभाविक प्रकाश से अपने साथ विश्व के पदार्थों का प्रकाशन करता है तो इससे उसके विराट प्रकाशन शक्ति क्या क्षति होती है? कुछ भी नहीं होती। वह तो अपनी स्वाभाविक रश्मियों का प्रसार करता है, यदि प्रकाश्य पदार्थ अपने स्वभाव से उसमें प्रकाशित होते हैं, तो होते रहो, इससे उसे कोई क्षति नहीं होती अपितु उसकी गरिमा ही प्रकट होती है। इसी प्रकार अनन्तज्ञान के स्व-पर प्रकाशक विराट ज्योति में अशेष जगत् एक साथ एक ही समय में प्रविश्य हो प्रकाशित होते रहें तो इसमें क्या आपत्ति है? कुछ भी नहीं। प्रकाश प्रकाश रूप और प्रकाश्य-ज्ञेय पदार्थ स्वामी रूप प्रकाशित होते हैं तो होने दो। इससे प्रकाशकों की कार्यशीलता में कुछ भी कमी नहीं होती, अपितु उसकी उदारता वैभव ही विशेषरूप से प्रकट एवं प्रभावक ही होता है ॥ १४ ॥

हे देव! समस्त तीनों लोकालोक स्वयमेव प्रकाश्य होते हैं अर्थात् आपके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं तो होते हैं, इससे आपकी-क्या क्षति

है । क्षति तो कदाऽपि है ही नहीं ? कुछ भी हानि नहीं होती है । अर्थात् पुरुष-आत्मा की कोई भी हानि नहीं होती । क्योंकि स्वाभाविक प्रकाश पुञ्ज से अभिव्याप्त पुमान् (शुद्धात्मा) अपने ही सर्वव्यापी ज्ञान से भरित ही रहता है । कोई भी लोकादि पदार्थों की अपेक्षा से या उनके प्रमाण मात्र से ही प्रकाशित नहीं होता । उसकी स्वयं की प्रकाशक योग्यता ही इतनी है कि उसमें जितने लोक हैं उनसे भी यदि अनन्त लोक हों तो उन्हें भी प्रकाशित कर दे । अनन्तज्ञान अपने नाम के समान ही कार्यकारिता की क्षमता सम्पन्न है । उस ज्ञान की महिमा ही अगम्य है । अनन्तज्ञानका ही वह विषय है ॥ १५ ॥

यदि रवि उदय क्षितिज पर उदित होते ही प्रकाशन की इच्छा बिना ही समस्त लोक को प्रकाशित कर देता है । उसी प्रकार मोहाच्छन्न भी ज्ञान क्या 'पर' निकटवर्ती पदार्थों के प्रकाशन में अज्ञानभाव को प्राप्त होगा ? नहीं होगा । अभिप्राय यह कि घने-बादल की घटाएँ घिरी रहने पर भी उदित होता हुआ बालरवि विश्वप्रकाशी ही रहता है, उसी प्रकार कर्मपटलघन से आच्छादित होता हुआ भी अपनी स्व-पर प्रकाशित शक्ति युक्त ही रहता है । भले ही तेज पुञ्ज सीमित रहे परन्तु नष्ट कदाऽपि नहीं होता, अपने स्व-पर प्रकाशी स्वभाव से सर्वथा रहित नहीं होता ॥ १६ ॥

ज्ञानांशुमाली का स्व-पर प्रकाशक गुण स्वाभाविक ही है । अतः वह आभ्यन्तर और बाह्य शक्तियों अप्रतिहत प्रभा भार से पूर्ण भरित होता है । कारण वस्तु तत्त्व के स्वाभाविक गुण का घातक कोई भी हो ही नहीं सकता है । क्यों कि स्वभाव स्वभाववान से कभी भी किसी भी कारण से कोई भी पृथक करने में सक्षम नहीं हो सकता है । यदि स्वभाव नष्ट हो जाय तो स्वभावी भी तदाश्रय होने से नष्ट हो जायेगा । परन्तु यह अकाट्य नियम है कि सत् का कभी विनाश नहीं होता । अतः हे जिनेश्वर! आप एक मात्र इस चिद् शक्ति में ही नियत हो तथा पर पदार्थ पर ही हैं व

आपके परमोकृष्ट ज्ञान की स्वच्छता के विषय होकर भी वे आपरूप नहीं होते और न ही आपके ज्ञानस्वभाव को अपने रूप परिणमा सकते हैं। अपने-अपने स्वभाव में रहते अवश्य हैं ॥ १७ ॥

हे भगवन् आपके सिद्धान्त में वस्तु एकान्त रूप से सत् मात्र भी नहीं है। क्योंकि कूटस्थ नित्य में सर्वथा परिणमन का अभाव है। अत: निश्चय से अपने ही आकार से कारक उत्पाद और व्यय करते हैं। क्यों कि परिणमनशील होने पर ही हानि-वृद्धि रूप संगति बैठती है। अन्यथा निश्चय नय और व्यवहार नय समाहार किस प्रकार होगा? नहीं होने पर वस्तु स्थिति किस प्रकार हो सकेगी? क्यों कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मय ही वस्तु, तत्त्व या पदार्थ का लक्षण है। यह व्यवस्था मुख्य और गौण धर्मों से ही व्यवस्थित होना संभव है। अत: सन्मात्र द्रव्य का लक्षण निश्चय नय का विषय है और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यता रूप द्रव्य का लक्षण भेद विवक्षा में व्यवहारनय ही सिद्ध कर सकता है ॥ १८ ॥

शुद्ध ज्ञान चेतना भी परिणमनशील है। यह स्वभाव सहज सिद्ध है। पर निमित्तों से प्रभावित होकर यह उनसे उत्पन्न नाना विकल्पजालों से परिणमन करती है, अनेक रूप दृष्टिगोचर होती है। अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान होने के कारण यह पराश्रय को स्वीकार कर लेती है, तथा नाना रूपों में विभाजित हो जाती है, नाना जीवों के नाना प्रकार के क्षयोपशम होने से कुछ न कुछ अंशो में वहाँ मोहराज का प्रभाव जीवित रहता है। मोह रूप कालुष्य के नष्ट हो जाने पर वह चिन्मय ज्योति बाह्य कारणों में विचरण करने पर भी अर्थात् प्रद्योतन विषय बना कर भी उनके द्वारा नानारूप नहीं होती विभाजित नहीं होती क्यों कि उन्हें ग्रहण ही नहीं करती। कारण के अभाव में कार्य नहीं होता। कारण रूप मोह का नाश हो जाने से मात्र उन्हें अपनी एक मात्र प्रभासित शक्ति से भासमान करती है ॥ १९ ॥

विशिष्ट, शुद्धरूप ज्ञान शक्ति सर्वथा ऐक्यपने को भी प्राप्त नही होती। कथंचित् नाना रुपता का भी वहन करती है। चिन्मयता ही जिसका

शरीर है, इस प्रकार की शुद्ध ज्ञान चेतना एक रूप होकर अनेक रूप भी होती है। कारण कि स्वयं अपने स्वरूप के प्रकाशन के साथ अन्य शेष द्रव्यों का भी प्रकाशन करती है एक ही समय में एक साथ। अतः द्रव्यापेक्षा एक और सम्पूर्ण लोकालोक को प्रकाशित करने से अनेक रूप भी सिद्ध होती है। पूर्ण ज्ञान - केवलज्ञान में क्रमिक परिणमन नहीं होता। एक ही समय में अनन्तों स्व-पर द्रव्यों को प्रकाशित करती है। समय भेद का अभाव होने से ज्ञान भी अभेद रूप से प्रतिभासित होता है ॥ २० ॥

हे जिनेश्वर! आपका आवरण रहित दुर्द्धर ज्ञान-केवलज्ञान, अनन्त वीर्य की शक्ति भी निरंतर अपने बल को वृद्धिंगत करते हुए अन्त रहित हो जाती है। इस प्रकार आपकी अचिन्त्य क्षायिकवीर्य शक्ति प्राप्त ज्ञान प्रभा-ज्योति अविचलरूप से ज्योतिर्मय होती हुयी तटस्थ होकर प्रतिभासित होती रहती है। न केवल अपने ही स्वरूप को प्रकाशित करती है, अपितु लोकालोक के हृदयस्थल का भेदन करती हुयी उन सकल पदार्थों को भी सपर्याय प्रकाशित करती है। हृदयस्थल विदारन का अर्थ समस्त जड़-चेतन को भी अपने में समेट कर प्रकाशित होती है ॥ २१ ॥

वाह्य समस्त ज्ञेय यद्यपि अपने-अपने स्वभाव में नियत हुये सुव्यवस्थित रहते हैं। परमविशुद्ध ज्ञानालोक में अवभासित होकर भी वे ज्ञान में अनेकपना लाने में निमित्त मात्र ही होते हैं। नानारूप विश्व प्रकाशन की पूर्ण सामर्थ्य होने पर भी उन्हें प्रकाशित कर स्वयं नानारूप नहीं होता। परिणमनशील स्वभाव में वे स्वाभाविक रूप में झलकते रहते हैं। वास्तव में निश्चयनय की अपेक्षा वह केवलज्ञान मात्र अपना ही (निजात्मा का ही) द्योतक रहता है ॥ २२ ॥

हे जिनदेव! आपका केवलज्ञान असहाय, आत्मोत्थ, क्षायिक रूप होने से निजस्वभाव रूप एक ही होता है। नाना प्रकार के अनेक पर्याय भेदों से विभक्त पर पदार्थ इसमें अवभासित होने पर भी उनके द्वारानाना रूप नहीं होता क्यों कि स्वयं समर्थ होने से पर की अपेक्षा से पूर्ण रहित

होता है । त थाऽपि निरङ्कुश हुआ नाना रूप विभक्त विश्व में विचरण कर उन्हें प्रकाशित करता है । विविधरूप विश्व को उसी नानाभेदों रूप से प्रकाशित करता है और स्वयं को अपने अखण्ड एक अविनाशी अनन्त ज्ञानमयी ही प्रकाशित करता है । अतः पर पररूप और स्व स्वरूप ही रहते हैं । यह आपके अचिन्त्य अनन्त ज्ञान रूप भास्कर का अलौकिक, अद्भुत, स्व-पर प्रकाशक स्वरूप है ॥ २३ ॥

हे जिनेश्वर! आपकी निराकुल, सम्पूर्णता प्राप्त, स्व-पर वस्तु प्रकाशक परिपूर्ण शक्ति रूप वैभव धारक, केवलज्ञान अचल ज्योति अपनी अद्‌भुत स्व-पर प्रकाशक किरणों से सदा एक रूप ही बनाये रखती हैं । आपकी स्वसंवेदन अनुभूति में यद्यपि अनन्त विश्व भी आता है, परन्तु आपका स्वभाव तो स्वानुभूति मात्र है । अर्थात् आप निरन्तर आत्मनुभव लीन ही रहते हैं । आपकी अनुभूति की निर्मलता में स्वयं विश्वस्थ अनन्त द्रव्य-पर्यायें एक साथ प्रतिबिम्बित होती रहती हैं ॥ २४ ॥

अधिक प्रलाप से क्या प्रयोजन ? यह तो विकल्प ही उत्पादक होगा आकुलता ही दुःख है । अब उपर्युक्त विवेचना द्वारा सर्वज्ञ वाणी पर अकाट्यश्रद्धान कर उनके द्वारा कथित आत्मतत्त्व का स्वरूप स्व-पर प्रकाशक ही है यह सुनिश्चित समझना चाहिए । यही सुव्यवस्थित आत्मतत्त्व का लक्षण है । मूल रूप से यही आत्म तत्त्व का वैभव शिव पथ का हेतु है । स्वसंवेदन या स्वानुभूति ही निज स्वभाव है । अतः हे प्रभो ! यही निरंकुश अनुभूति सतत् जयवन्त रहे । जिनेन्द्रों का स्तवन कर उसका फल एक मात्र आत्मनुभूति ही जय- शील बनी रहे यही भावना है । अर्थात् आचार्य श्री जिन भक्ति में लीन अपनीस्वानुभूति को निरंकुश बनाने की भावना प्रकट कर रहे है ॥ २५ ॥

●

अध्याय 14

चिनिमात्रमिदं दृशि बोधमयं तव रूपमरूपमनन्तमहः।

अविखण्ड विखण्डितशक्तिभरात् कमतो झमतश्च नुमः प्रतपन ॥1॥

त्वममेकचिदर्धिकदम्बिरूचा रूचिर स्वयन् जिन चित्रमिदम्।

न परामृशतोऽपि विभूतिलवान् दृशिगोचर एवं परीतदृशः ॥2॥

अनवस्थमवस्थित एष भवानविरुद्ध विरोधिनि धर्म्मभरे।

स्वविभूतिविलोकनलोलहशामनवस्थमवस्थितिमादिशाति ॥3॥

अयमूर्जितशक्तिचमत्कृतिभिः स्वपरप्रविभागविजृम्भितचित्।

अनुभूयत एव विभो भवतो भवतोऽभवतश्च विभूतिभरः ॥4॥

न किलैकमनेकतया घटते यदनेकमिहैक्यमुपैति न तत्।

उभयात्मकमन्यदिवासि मटः समुदाय इवाववाश्च भवन् ॥5॥

क्षणभङ्गविवेचितचित्कलिल निकुरुम्बमयस्य सनातनता।

क्षणिकत्वमथापि चिदेकरस प्रसरार्द्रितचित्कणिकस्य तव ॥6॥

उद्गदगाद्यदुदेति तदेव विभौ यदुदेति भ भूय उदेष्यति तत्।

जिनकालकलङ्कितबोधकलाकलनेऽप्यसि निष्कलचिज्जलधिः ॥7॥

त्वमनन्तचिदु मम सङ्कलनां न जहासि सदैकतयाऽपि लसन्।

तुहिनोपलखण्डलकेम्बुकणा विलीनविलीनमहिम्नि समाः ॥8॥

घटितो घटितः परितस्झटसि झटितरझटितः परितो घटसे।
कूटशीसनवा न पुनर्घटसे जिनजर्जरयलिव भासि मनः ॥9॥

प्रकृतिर्भवतः पणिाममयी प्रकृतौ च प्रथैव वितर्ककथा।
वहनित्यमखण्डितधारनिता सहशोतनरभसभारेण भृतः ॥10॥

अपरोक्षतया त्वयि भाति विभावप्ररोक्षपरोक्षतयाऽथ गतिः।
न तथाऽप्य परोक्षविभूतिभरं प्रतियं पेति मोहहताः पशवः ॥11॥

स्वपराकृतिशङ्कलनाकुलिता स्वमपाश्य परे पतिता परदृक्।
भवतस्तु भरादभिभूय परं स्वमहिम्नि निराकुलमुच्छलति ॥12॥

दृशि दृश्यतया परितः स्वपरार्पितरेतमिश्वरसंविशतः।
अत एव विवेककृते भवता निरणायी विधिप्रतिषेधविधिः ॥13॥

यदि दृश्यनिमित्तक एष दृशित्यतिरेकभरोन्वयमन्वगमत्।
दृशिरेव तदा प्रतिभातु परं किमु दृश्यभरेण दृशं हरता ॥14॥

यदिदं वचसा विषया विषयस्तद भूतव दृश्यमशेषमपि।
अथवा चलचिद्धरधीरतया जिन दृश्याविरक विभूतिरसि ॥15॥

महतात्मविवेकभरेण भृशं गमयन्त्य इवात्ममयत्वमिमाः।
जिन विश्वमपि स्फुटयन्ति हठात् स्फुटितस्फुटितास्तव ॥16॥

अचलात्मचमत्कृतचन्द्ररुचा स्वयन्ति वितानामिवा विरतम्।
अविभासितविश्वतयोच्छलिता विततद्युतयस्तव चितडितः ॥17॥

इदमद्द ददद्विशदानुभवं बहुभावसुनिर्भरसत्वरसम्।
तव बोधमुखे कवलग्रहवत्त परिवृत्तिमुपैति समग्रजगत् ॥18॥

जडुरूपचिदुद्धभरूपतया वितथैव वपुः प्रतिबिम्बकथा।
अनुभूतिमथापतितं युगपन्ननु विश्वमपि प्रतिभा गवतः ॥19॥

ह्रियते हि परैर्विषयी स्वमतः कुरूतः विषयं विषयी।
सहृतो विषयैर्विषयस्तु भवेदहृतो विषयी न पुनर्विषयः ॥20॥
दृशि बोध सुनिश्चलवृत्तीमयो भवबीजहरस्तव शक्तिभरः।
न विवित्कमतिः क्रियया रमते क्रिययोपरमत्यपथाऽदथ च ॥21॥
क्रिययेरितपुद्गलकर्ममलश्चिनिपाकमलकम्प मुपैति पुमान।
परिपक्वचित स्त्वपुनर्भवता भवबीजहठोद्धरणा न्नियतम् ॥22॥
यदि बोधमबोधमलालुलितं स्फुटबोधत यैव सदोद्वहते।
जिन कर्तृतया कुलितः प्रपतंस्तिमिवन्न विवर्त्तमुपैति तदा ॥23॥
तव सङ्गममेव वदन्ति सुखं जिनं दुःखमयं भवता विरहः।
सुखिनः खलु ते कृतितः सततं सतनं जिन येष्वसि संनिहितः ॥24॥
कलयन्ति भवन्तमनन्तकलं सकलं सकलाः किल केवलिनः।
तव देव चिदञ्चललग्नमपि ग्लपयन्ति कषायमलानि न माम् ॥25॥

पाठ-१४

हे जिन! आपका स्वरूप अनन्त तेज का पुञ्ज भी अरूपी है । क्यों कि वह दर्शन-ज्ञानमयी चैतन्य स्वरूप ही प्रतिभासित होता है । क्रम और अक्रम रूप स्वभावशक्ति से परिपूर्ण भरा है । द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक दृष्टि से उभय धर्म सन्निहित हैं । अर्थात् अखण्ड होते हुए भी अनेकरूप भी है । इसी स्वभाव से प्रतिभासमान होता है ॥ १ ॥

आप तो भगवन् एक अखण्ड चैतन्यरूप अनेकशक्तियों से सम्पन्न हो । हे जिन! यह एक विचित्र स्वरूप है कि नाना प्रकार से ऊहा-पोह कर विचारने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होते अपितु अतीन्द्रिय ही रहते हो । कारण आपकी चेतनाशक्ति अमूर्त है । अमूर्त का परिज्ञान अमूर्तज्ञान ही कर सकता है । अतः इन्द्रियगोचर नहीं है ॥ २ ॥

अवस्थित और अनवस्थित अर्थात् नित्य और अनित्य धर्म परस्पर विरोधी हैं, परन्तु आप अविरोधरूप से इन उभय धर्मों से परिपूर्ण हो । कारण अपने ही निजस्वभाव में सतत् लीन रहते हैं । तो भी निजगुण अगुरु लघु शक्ति द्वारा षड्गुणी हानि वृद्धि स्वभाव लिए अनवस्थित भी प्रतीत होते हैं । आपके सिद्धान्त में यही वस्तु स्व भाव निरुपित है ॥ ३ ॥

चैतन्य चमत्कार शक्ति के उन्नत चमत्कारों द्वारा स्व पर के भेद से विस्तार को लिए आपकी चित् शक्ति अनुभव करती है । अर्थात् आप भेद विज्ञान भरी अविच्छिन्न धारा चिद स्वभाव का अनुभवन करते हैं । इस प्रकार आप नित्यानित्य शक्तियों के आकार हैं ॥ ४ ॥

एकत्व में अनेकत्व घटित नहीं होता, जो अनेक स्वरूप है वह एकपने को प्राप्त नहीं कर सकता । दोनों धर्म एक साथ मिलकर एक अन्य ही अवस्थारूप होंगे । इस स्थिति में आपका सिद्धान्त बतलाता है कि यह विरोध भी अविरोध रूप से अपेक्षाकृत सिद्ध हो जाता है ।

क्यों कि अवयवी एक है और अवयव अनेक हैं । परन्तु अवयव अवयवी से भिन्न स्वरूप नहीं होते । समुदाय रूप से एकपने से ही प्रतिभासित होते हैं । अतः एकान्त पने से अवयवी और अवयवों में भेद नहीं पाया जाता ॥ ५ ॥

भगवन्! आपके सिद्धान्त में पर्यायों की अपेक्षा चैतन्य अनेकरूप है । यह भेद दृष्टि या व्यवहार दृष्टि है । परन्तु निश्चयनयापेक्षा सम्पूर्ण चित् शक्तियाँ एक रूप से उपयोगमयी ही सिद्ध होती हैं । यह सनातन सिद्धान्त है । क्योंकि जलकल्लोलवत् पर्यायों की अपेक्षा चिन्तमयशक्तियाँ अनेकरूप से उछलती हुयी भी अपने स्व स्वभाव को ही लिए रहती हैं । अपने ही रस से सिक्त होती है । अनेकान्त दृष्टि से यही समीचीन स्वरूप है ॥ ६ ॥

जो स्वभाव उदीयमान था वही उदित होता है और हे विभो । परमात्म-रूप में वही उदय को प्राप्त होगा । यद्यपि वर्तमान में-छद्मस्थ दशा में कलिकाल के प्रभाव से कर्माच्छन्न सम्यक्ज्ञान मिथ्याज्ञान रूप से परिणमन कर रहा है । तो भी सम्यक्त्व ज्योति प्रकाशित होते ही यह कलुषित बोध सागर रूप चित् स्वभाव निष्कलंक हो क्षायिक रूप से ही लहरायेगा । परभाव जन्य कालिमा क्षणिक होती है वह स्वभाव को भले ही विकृत करे परन्तु नष्ट नहीं कर सकती । सत्पुरुषार्थ उसे ही विनष्ट कर देता है ॥ ७ ॥

हे प्रभो! आप शुद्ध चैतन्यस्वरूप भरित हो । अतः निरन्तर एक रूप ही शोभायमान रहते हो । मेरा चैतन्य कर्म कालिमा से मलिन है, पृथक् नहीं हो रहा है । पानी के ओले के समान-जलकण जिस प्रकार गलते रहते हैं और पुनः वही जलधारा ओलारूप धारण करती है परन्तु अपने द्रवणरूप जलत्व स्वभाव का परित्याग नहीं करती, उसी प्रकार आयुकर्म के निषेकों से प्रतिक्षण वर्तमान पर्याय क्षीण होती जाती है और अन्त में अन्यपर्याय घटित होती है । इस प्रकार नाश और अविनाश बनता है । अर्थात् पर्याय परिवर्तित होने पर भी आत्म तत्त्व अपने निज चेतन स्वभाव का परित्याग नहीं करती ॥ ८ ॥

परिणमनशील होने से वस्तु में सर्व प्रकार से परिणमन होता है । जिस प्रकार यह अनित्यधर्म है उसी प्रकार नित्यत्वस्वभाव भी निहित रहता है । ये दोनों धर्म अबाध रूप से वस्तु स्वरूप को घटित करते हैं । कूटस्थ नित्य और अनित्यपने से वस्तु के सामान्य - विशेष धर्म सिद्ध नहीं होते, अपितु उसका अभाव ही सिद्ध होता है । हे जिन! आपका अनेकान्त सिद्धान्त ही निर्दोष वस्तु तत्त्व की सिद्धि में समर्थ है । व्यवहार व निश्चय ही सिद्धि अन्य प्रकार व्यवस्थित नहीं हो सकती । अतः वस्तु का सद्भाव उभयधर्म लिए है ॥ ९ ॥

हे प्रभो! आपके सिद्धान्तानुसार प्रत्येक पदार्थ द्रव्य और पर्याय दृष्टि से विवेचनीय है । क्यों कि स्वभाव से नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म निष्ठ है । उभय आधार सम्पन्न होकर ही वस्तु स्वभाव की स्थिति और विकास बनता है । आत्मा का स्वभाव चैतन्य है । यह चेतना - ज्ञान - दर्शन स्वरूप से अवस्थित और परिणमनशील भी है । क्यों कि अपने सदृशधर्म से भरा हुआ चित् स्वभाव सर्वत्र हर पर्याय के साथ अन्वयरूप से रहता है । अनित्यत्व धर्मपेक्षा स्वभाव - विभाव पर्यायों में परिणमित होता रहता है । शुद्ध परमात्म दशा में स्वाभाविक षड्गुणी - हानि - वृद्धि से परिणमन होता है, पर निज स्वभाव चेतना सर्वत्र और सर्वदा व्यापकरूप से बना रहता है ॥ १० ॥

आप में विभाव और स्वभाव परिणतियाँ प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से प्रकट प्रकाशित होती हैं । तथाऽपि आप मोहांधकार रूप अज्ञान भरे मिथ्यादृष्टियों को तो सर्वथा परोक्ष ही दृष्टिगत होते हो । यद्यपि आप अपने प्रत्यक्ष ज्ञानादि विभूतियों से परिपूर्ण हो । ये सान्त-अनन्त वैभव प्रत्यक्षज्ञानियों को दृष्ट हो सकता है इससे शून्य पशु सदृश मिथ्यात्वियों का विषय नहीं होता है । क्योंकि अतीन्द्रिय स्वभाव के परिज्ञान को अतीन्द्रिय ही सर्वज्ञ ज्ञान ही अवलोकन करने में समर्थ हो सकता है ॥ ११ ॥

आपके सिद्धान्त से बहिर्भूत परवादियों का आत्मा पर रूप कर्मों से अभिभूत हो रहा है, अतः उनका मलिन रूप ही पर भावों में पड़कर विपरीत ही प्रतिभासित होता है । उनकी दृष्टि में यही स्वरूप दृष्टिगत होता है । परन्तु आपका परमशुद्ध स्वभाव उनको पराभूत कर अपने सहज स्वाभाविक चिच्चमत्कार ज्योतिर्मय, निराकुल, उत्तरोत्तर विकासोन्मुख प्रकाशित होता है । आपके तेजस्वी प्रभाव से सर्वप्रभा व अभिभूत हो जाता है ॥ १२ ॥

आत्मा में सर्वव्यापी दर्शनशक्ति विद्यमान रहती है । सर्वज्ञज्ञान से इसी प्रकार प्रतिभासित होता है । भव्यो ! आप विवेकपूर्वक प्रज्ञा का प्रयोग करो तो वस्तु तत्त्व में विधि-निषेध धर्म स्पष्ट अवगत हो जाते हैं । हे भगवन् ! आपने जिस रीति से आत्मतत्व को देखा और पहिचाना वैसा ही आगम में निरूपित किया और वह जैसा था वैसा ही निरूपित है । अतः पूर्ण सत्यार्थ और अकाट्य है ॥ १३ ॥

हे प्रभो ! आपमें दृश्य शक्ति दृशिस्वरूपता दृश्य पदार्थों की अपेक्षा के बिना ही स्वतः सिद्ध है । वस्तु स्वभाव पर की अपेक्षा नहीं करता । यदि परापेक्षरूप स्वभाव माना जायेगा तो स्वभावी के साथ अन्वयरूपता नहीं बनेगी । ऐसा होने पर विषय-विषयी भेद नहीं होगा । अतः दृशि-दर्शन शक्ति स्वयं ही आत्मा में प्रतिभासित होती है तो दृश्य पदार्थों से क्या प्रयोजन । वह दर्शन स्वभाव इतना निर्मल और स्वच्छ होता है कि पर द्रव्य स्वयं अवभासित होते रहते हैं । वह तो स्वतः स्वभाव से तद्रूप से प्रकाशित रहती है । पर द्रव्य रहो या न रहो ॥ १४ ॥

हे जिन ! यदि यह दर्शनशक्ति वचन का विषय होती तो सर्वदर्शी आपका विषय भी होती । परन्तु, आप जो समस्त पदार्थों और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों को देखते हैं, उसका अनन्तवाँ मात्र वचन द्वारा प्रतिपादन करते हैं । अथवा चंचल चिद् की परि पूर्णता से लबालब भरित होने पर भी हे जिन ! धीर-वीर जनों की दृश्य विरक्त विभूति है । अर्थात् वचनातीत होने पर वैराग्य भरे भव्यों को विरक्ति की ही हेतु होती है ॥ १५ ॥

महापुरुषों का चित्त विवेक-भेद-विज्ञान से निरंतर खचित रहता है । बार-बार परिणमन करते हुए भी अपनी एकान्तबुद्धि से भरित आत्मस्वरूप ही रहता है । अर्थात् बाह्य-पर रूप पदार्थों से भेद रूप होकर भी सर्वत्र निजरूप ही रहता है । आत्मा की अनन्तता रूप स्वभाव को नहीं त्यागती तथा पूर्ण और यथार्थ तत्त्व विवेक कला का परित्याग नहीं करती है । यह सम्यक् पुरुषार्थ का ही कार्य है कि जिनेश्वर अशेष विश्व को शाकपात के सदृश समक्ष में ही दृष्टिगत होते रहते हैं । स्पष्ट सारा विश्व दृश्य बन आपकी निर्मल दृशि क्रिया में झलकता रहता है ॥ १६ ॥

यह दृशिशक्ति चन्द्र की ज्योत्स्ना के समान अशेष विश्व को व्याप्त कर प्रसरित रहती है । चन्द्रचन्द्रिका तो अस्थिर व सीमित है परन्तु यह आत्मशक्ति तो अचल और असीम है, तथा स्वभाव से निरन्तर प्रकाशपुञ्ज से युक्त विश्वदर्शी है । इस चिच्चमत्कारी प्रकाश में समस्त जगत स्वयमेव प्रतिबिम्बित होता रहता है । हे प्रभो इस प्रकार की आपकी अद्वितीय कान्ति वा आभा सदैव छिटकती ही रहती है । आपकी वीतराग परिणति होने पर भी अनिच्छा से विश्व प्रकाशित होता रहता है ॥ १७ ॥

यह आपकी वीतरागवृत्ति अत्यन्त विशद नाना भावों से भरित समतारस से आप्यायित है । निर्मल आशय के समान सर्व जन प्रिय है । आपके केवलज्ञान रूपी मुखकमल में चारों ओर से सिमटा हुआ अशेष संसार अर्थात् तीनों लोक कवल (ग्रास) सदृश प्रविष्ट हो रहा है । इस प्रकार विस्तार को प्राप्त कर रहा है ॥ १८ ॥

नाना रूप से चैतन्य का प्रकट रूप, आपके परमौदारिक दिव्य देह के चतुर्दिक प्रतिबिम्बित हो उसको भी महत्वशाली बना देता है । यह दर्शन ज्ञान आभा एक साथ आपके अनुभूत हो रही है । उसी कान्ति में सारा जगत तीनों लोक भी प्रतिभा सम्पन्न हो रहे हैं । अर्थात् अनिच्छा से ही आपकी अनन्त दर्शन व ज्ञानशक्ति स्वभाव से विश्वव्यापिनी हो रही हैं और अशेष

विश्व इनका विषय बन रहा है । तथा आपके अनुभव में भी ये स्वयं अपने स्वभाव से प्रविष्ट से ही प्रतिबिम्बित हो रहे हैं ।। १९ ।।

अन्य मतावलम्बी सिद्धान्त में विषयी (विषयों का ग्राहक) अपनी इच्छा से विषयों को ग्रहण करता हुआ उन्हीं के समान क्षीण होता जाता है अर्थात् विषय (पदार्थ) और उनका ग्राहक (आत्मा) उनके साथ-साथ ही विनष्ट हो जाते हैं । अर्थात् क्षणिकवादियों के सिद्धान्त में ग्राहक और ग्राह्य दोनों ही क्षणिक हैं और साथ-साथ विलीन हो जाते हैं । परन्तु आपके सिद्धान्त में सर्वथा एकान्त का निषेध है । कथंचित् अपेक्षाकृत पर्यायदृष्टि से नश्वर होकर भी ज्ञान-दर्शन व पदार्थ क्षणिक और स्थायी उभय धर्मों को धारण करने वाले हैं । निश्चय से सत् का नाश नहीं होता और नहीं उत्पाद ही होता है । जो है सो ही रहता है । पर्यायापेक्षा परिणमन होने पर भी अपनी किल्ली ध्रुव स्वरूपत्व का कोई भी त्याग नहीं करते ।। २० ।।

सुनिश्चल स्वभाव भरित दृशि व ज्ञाप्ति क्रियायें संसारोत्पत्ति के बीज को नष्ट कर डालती हैं । आपने भी अपनी उभयशक्तियों को परिपूर्ण रूप से प्रकट कर संसार बीज को सदा के लिए विदग्ध कर दिया । शक्तियाँ निष्क्रिय नहीं होतीं । अपितु अकथंचिद् रूप से सक्रिय भी होती हैं । अन्यथा अर्थात् सर्वथा क्रियाओं का उपरमण होने पर कुमार्ग हो जायेगा, सन्मार्ग का अभाव होने पर संसार सन्तति उच्छेद का नियम ही नहीं बन सकेगा । अतः क्रियाएँ सक्रिय होती हुयीं अपने-अपने स्वभाव में क्रीड़ा करती हैं ।। २१ ।।

आत्मा अपनी क्रियाशील परिणति द्वारा पौद्गलिक कर्म परमाणुओं को आकृष्ट करती है । तथा उन्हें आत्मसात कर मलिन होती है । किन्तु परिपक्व दशा में वह पररूप जड़ता को आकृष्ट नहीं करती । हे प्रभो आप संयमपथारूढ़ हो अपनी स्वाभाविक परिणति को परिपक्व कर चुके अर्थात् अपरिणत दशा प्राप्त हो चुके हैं । अतः भवबीज का उच्छेद कर अपने नियत शुद्ध चैतन्य स्वभाव में ही नियत हो गये हैं ।। २२ ।।

संसारावस्था में परपरिणति रूप परिणमन करता हुआ सुज्ञान अज्ञान रूप धारण कर मलिन हो रहा था । यदि इस (आर्हत्) दशा में भी वह उसी प्रकार मलिनरूप हो तो हे जिन ! आप भी कर्तृत्व बुद्धि संलग्न हो आकुलता को प्राप्त कर अनन्त सुखसम्पन्न किस प्रकार होते ? नहीं होते । क्योंकि सदैव पर्यायों की प्राप्ति में ही लगे रहते ! परन्तु ऐसा नहीं है । कारण आप वीतराग है । राग-द्वेष का अभाव होने से आपकी अशेष पर्यायें वीतरागभाव सम्पन्न हैं, जो पूर्ण आस्रव का निरोध करते हैं । अतः संवर निर्जरा द्वारा आत्म विशुद्धि ही वृद्धिंगत हो रही है ॥ २३ ॥

हे जिन ! आपके द्वारा संयोग-वियोग जन्य दुःख परम्परा सर्वथा विनष्ट हो गई । यह अवस्था ही आपके अनन्त सुख की ज्ञापक है । परम वीतरागता में होने वाली शुद्ध परिणतियाँ निश्चय से अनवरत आपके चिरस्थायी अनन्त सुख का ही द्योतन कर कर रही हैं । अर्थात् शुद्ध व्यंजन व अर्थ पर्यायों का परिणमन अखण्ड शुद्ध सुखस्वरूपता की परिचायक हैं ॥ २४ ॥

हे प्रभो ! आपकी सम्पूर्ण परिणतियों की पूर्ण विकासी कलाएँ निरन्तर अनन्तकाल पर्यन्त इसी प्रकार स्व स्वभाव में ही अवस्थित रहेंगी । हे जिनेश्वर यदि मैं भी आपकी इस परम वीतराग, सुनिर्मल और अविचल परिणति में संलग्न हो जाऊँ तो ये कषायरूपी मल मुझको भी ग्रसित नहीं कर सकतीं । अर्थात् मलिन करने में समर्थ नहीं हो सकती । हे जिनेश्वर मेरी यही भावना है कि आपके समान ही अपना विकास कर चिरसुख का अनुभव करूँ । आपके आदर्श में निजरूप निहार उसमें ही निमग्न होने से आत्मा में आत्मा का निजरूप प्रकट हो यही भावना है ॥ २५ ॥

●

अध्याय 15

अभिभूय कषायकर्मणा मुदयस्पर्द्धकपाङ्क्मुत्थिता: ।
जिन केवलिन: किलाद्भुतं पद्मालोकयितुं तवेश्वरा: ॥1 ॥
तव बोधकलामहर्निशं रसयन्बाल इवेक्षुकाणिकाम् ।
न हि तृप्तीमुपैत्य यं जनो बहुमाधुर्यहृतान्तराशय: ।।2 ॥
इदमीशनिशायितं त्वया निजबोधास्त्रमनन्तश: स्वयम् ।
अत एव पदार्थ मण्डले निपरे ऽपिन याति कुण्ठताम् ॥3 ॥
इदमेकमनन्तशो इठादिह वस्तून्यखिलानि खण्डयन् ।
तवदेव दृग मीक्ष्यते युगपद्विश्वविसर्पि विभ्रमम् ॥4 ॥
समुदेति विनैव पर्ययैन खलु द्रव्यमिदं बिना न ते ।
इतित द्वितयावलम्बिनी प्रकृतिर्देव सदैव तावकी ॥5 ॥
न विनाश्रचयिणा: किलाश्चयो न विनैवाश्रयिण: स्युराश्रयम् ।
इतरेतरहेतुता तयोर्नियताकतिप भास्वरत्ववत् ॥6 ॥
विधिरेष निषेधबाधित: प्रतिषेधोविधिना विरुक्षिता: ।
उभयं समतामुपेत्य तद्दतते संहिमर्थसिद्धये ॥7 ॥
न भवन्ति यतोऽन्यथा चिज्जिनवस्तुनि तथा भवन्त्यपि ।
समकालतयाऽवतिष्ठते प्रतिवेधो विधिता समंतता ॥8 ॥

न हि वाच्यमवाच्यमेव वा तव माहात्म्यमिदं द्वयात्मकम्।
उभये कतरत् प्रभाषितांणां रसना नः शतखण्डता मियात् ॥9 ॥

क्रमतः किल वाच्यतामियाद्युगपद् द्यात्मकमेत्य वाच्यताम्।
प्रकृतिः किल वाङ्मयस्य सायदसौ शक्तिरशक्तिरेव च ॥10 ॥

स्वयमेकमनेकमप्यदस्तवयत्तत्त्वमत किं त परैः।
इदमेव विचारगोचरं गत मायाति किलार्थगौरवम् ॥11 ॥

न किलैकमनेकमेव वा समुदायावयवो मयात्मकम्।
इतरागतिरेव वस्तुनः समुदायावयवौ विहाय न ॥12 ॥

त्वमनित्यतयाऽवभाससे जिननित्योऽपि विभासितिश्चितम्।
द्वितयी किल कार्यकारितां तव शक्तिः कलयत्यनाकुलम् ॥13 ॥

किमनित्यतया विनाक्रमस्यमनाक्रम्य किमस्ति नित्यता।
स्वयमारचयन् क्रमाक्रमं भगवन् द्वयात्मकतां जहासि किम् ॥14 ॥

न किल स्वमिहैककारणं न तवैकः पर एव वा भवत्।
स्वपरावलम्ब्य वल्गतो द्वितयं कार्यत् एव कारणम् ॥15 ॥

न हि बोधमयत्वमन्यतो न च विज्ञानविभक्तयः स्वतः।
प्रकट तव देव केवले द्वितयं कारणमभ्युदियते ॥16 ॥

स्वपरोभवभासिते दिशां द्वितयीं यात्युपयोगवैभवम्।
अनुभूयन एव तादृशं बहिरन्तर्मुखहासविक्रमैः ॥17 ॥

विषयं परितोऽवभासयन् स्वमपि स्पष्टमिहावभासयन्।
मणिदीप इव प्रतीयसे भगवत् द्यात्मकबोधदर्शनः ॥18 ॥

न परायनवभासयन् भवान् परतां गच्छति वस्तुगौरवात्।
इदमत्र परावभासनम् परमालम्ब्य यदात्मभासनम् ॥19 ॥

व्यवहारदृशा पराश्रयः परमार्थेन सदात्मसंश्रयः।
युगपत् प्रतिभासि पश्यतां द्वितयी तेगतिरीशतेतरा ॥20॥
यदि सर्वगतोऽपि भाससे नियतोऽत्यन्यमपि स्वसीमनी।
स्वपराश्रयता विरुध्यते न तवद्यात्मझतैव भासिति तत् ॥21॥
अपवादपदैः समन्ततः स्फुटमुत्सर्गमहिम्नि खण्डिते।
महिमा तव देव पश्यतां तदनद्रूपनयैव भासते ॥22॥
अनवस्थितिमेवमाश्रयन्न् भवत्वे विदधनव्यवस्थितिम्।
अनिगाढ़ विघाट्टितोऽपि ते महिमा देवमनाऽनकपते ॥23॥
हठ घट्टनयाऽनया तव दृढनिः पिडिनपौण्डकादिव।
स्वरसप्लव एष उच्छलन परितो मां क्रठिनं करिष्यति ॥24॥
विरताममोहयामिनी तव पादाब्जगनस्य जाग्रनः।
कृपया परिवर्त्त्य भक्तिकं भगवन क्रोडगतं विधेहिमाम ॥25॥

पाठ- १५

जीव के घातक कषाय हैं । कषायकर्मों के स्पर्द्धक उदय को प्राप्त हुई कर्दम के फलोन्मुख होने पर उनको रुद्ध करना चाहिए । अर्थात् कषायों के निषेक नष्ट होने पर आत्मा की मलिनता नष्ट होती है । हे जिन! तभी आपका ईश्वर स्वरूप, कैवल्यावस्थाप्राप्त पद दृष्टिगत होना शक्य है । भावार्थ आत्मा के मलिन करने वाली कषाएँ हैं । इनके उदय होते रहने पर परमात्मावस्था का अवलोकन नहीं हो सकता है, हे जिन परमेश्वर! आपके दर्शन के लिए कषाय पंक का शमन व क्षय होना आवश्यक है ॥१ ॥

हे परमेश्वर! जो व्यक्ति भव्यजन आपकी शुद्धज्ञान कला जन्य आनन्दरस के ज्ञान में अहर्निश लीन रहता तृप्त नहीं होता वही उसे पाता है । जिस प्रकार बालक मधुर रस लोलुपी हुआ ईक्षुदण्ड को चूसने में मग्न हो जाता है । बार-बार चूसने पर अतृप्त ही बना रहता है । विशेष-विशेष माधुर्य प्राप्त करने का ही अभिप्राय बनाये रहता है । इसी प्रकार अन्तरङ्ग से आपके ज्ञानानन्द में भव्य जीव विशेष अधिक-२ आनन्द पाने की तीव्र अभिलाषा रखता है ॥२॥

हे ईश! आपने अपने ज्ञान कृपाण को स्वयं इतना तीक्ष्ण ज्योतिर्मय बना लिया है कि अनन्त पदार्थों के समूह में प्रवृत्त किये जाने पर भी कभी भी, कहीं भी भौंथरा नहीं होता । अभिप्राय यह है कि निरावरण परम विशुद्ध आपकी अनन्त केवलज्ञान ज्योति इतनी तीक्ष्ण ज्योतिर्मय हो गई कि अनन्त त्रिकालवर्ती पदार्थों की अनन्त पर्यायों के साथ एक साथ ज्ञात कर भी तेज निस्तेज नहीं होता । अनन्तलोक भी हों तो भी उन्हें एक क्षण में व्याप्त करने में समर्थ ही रहता है ॥३॥

हे देव! आपकी दृग् शक्ति (दर्शन) एक और अखण्ड है। तो भी पर्यायापेक्षा से आपके अलौकिक पुरुषार्थ से संसार की समस्त अनन्त वस्तुओं का निरीक्षण करने से अनन्त खण्डरूप से व्याप्त होती है। अर्थात् विश्वव्यापी हो संसार विक्रम को एक ही समय में एक साथ ही अवलोकन कर लेती है। यह आपकी अनन्तशक्ति युक्त अनन्तदर्शन की परिणति स्वभाव से ही होती रहती है, कभी भी क्षीण नहीं होती ॥ ४ ॥

देवाधिदेव! आपकी अखण्ड, एक रूप दृगशक्ति निरन्तर, सदाकाल एक रूप से व्यवहृत रहती है। यह नहीं कि वाह्य पदार्थों की उपस्थिति में अवलोकन क्रिया कार्यान्वित होती हो। यह अद्वितीय शक्ति है जो दृश्यपदार्थों के अभाव में भी अपनी शुद्धावस्था में भी स्वाभाविक रूप में निरंतर जाग्रत रहती है। क्यों कि असहाय, अतीन्द्रिय और स्वाभाविक है। निश्चय नय से अपने ही अनन्त रूप के अवलोकन में ही अचल बनी रहती है ॥ ५ ॥

हे जिन आपने आश्रय और आश्रयी में इतरेतर सम्बन्ध निर्दिष्ट किया है। आश्रयों के बिना आश्रयी नहीं टिक सकता और आश्रयी के अभाव में आश्रय भी रहने में समर्थ नहीं होते। यह अकाट्य सुनिश्चित सिद्धान्त है। यथा सूर्य में प्रताप और प्रकाश युगपत एक ही रवि के आश्रय में रहते हैं। भास्कर बिना प्रताप-प्रकाश अवस्थित नहीं होते और प्रताप-प्रकाश बिना मार्तण्ड का अस्तित्व भी संभव नहीं है। आत्मा और दृशि (दर्शनशक्ति) में भी इसी प्रकार आश्रय-आश्रयी भाव है। अत: आत्मा की दर्शन शक्ति अपनी निज स्वभावता से आत्मा का अवलोकन करती हुयी सतत क्रियाशील रहती है ॥६॥

विधि निषेध बाधित है और निषेध विधि द्वारा बाधित होता है, परन्तु ये दोनों धर्म एक साथ निर्विरोध रूप से रहते हुए पदार्थ की सिद्धि

करते हैं । आपने वस्तु स्वभाव को सामान्य-विशेषात्मक निरूपित किया है । सामान्य का विषय विधि और विशेष का विषय निषेध है । इन उभयधर्मों से व्याप्त वस्तु स्वरूप है । अतः एक साथ वर्तन कर स्वभाव सत्ता सिद्ध करते हैं ॥ ७ ॥

हे सर्वज्ञ, जिनदेव! यह आपका सिद्धान्त कभी भी अन्यथा नहीं है । क्यों कि पदार्थों का अस्तित्व अन्य प्रकार नहीं है । पदार्थ अन्यरूप सिद्ध ही नहीं होते हैं । अतः सर्वप्रकारेण विधि और प्रतिषेधधर्म एक साथ, एक ही समय में अवस्थित रहते हैं, यह निर्विरोध सिद्ध है । वस्तु स्वभाव यथा तथा रूप रहता है ॥ ८ ॥

कथन की अपेक्षा वाच्य, वाचक भिन्न हैं । परन्तु दोनों का एकाश्रय रूप से ही ज्ञापन होता है । एक वाच्य के अनेक वाचक हो सकते हैं । परन्तु उनसे वाच्य की अखण्डता खण्डित नहीं होती । द्वयात्मकता ही वस्तु का-वाच्य का अपना माहात्म्य है । यथा अनेक वाचक शब्दों का उच्चारण करने पर भी सैकड़ों खण्डों में कटकर विभाजित नहीं होती, एक ही रहती है । इसी प्रकार वाच्यभूत पदार्थ उभय धर्म धारण कर भी भेद रूप नहीं होता । अपने अखण्ड एकरूप का परित्याग नहीं करता । उभय रूपता में ही वस्तु महात्म्य अवस्थित रहता है ॥ ९ ॥

प्रत्येक वाच्यभूत पदार्थ उभय धर्म-विधि-निषेध या सामान्य विशेष धर्मों के लिए सिद्ध है । प्रत्येक के वाचक शब्द अनेक हैं । वचनशक्ति में उन सब धर्मों को एक साथ निरूपण करने की योग्यता ही नहीं है । अतः क्रमिक रूप से निरूपण करने की ही शक्ति है । निश्चय से यही उनका स्वभाव है । स्वभाव तर्क से अगोचर होता है । इसीलिए अनेकान्त सिद्धान्त कथंचित् प्ररूपणा से सुसिद्ध है ॥ १० ॥

उभयनयों का विषयभूत होने से तत्त्व का स्वरूप अनेक होने पर भी एक अखण्ड अविनाशी है । यही सिद्धान्त आपका प्रामाणिक है । अन्य एकान्तवादियों से क्या? क्योंकि तर्कादि प्रमाणों से विवेचना करने पर अनेकान्तात्मक ही वस्तु स्वभाव सिद्ध होता है । एकान्तवाद से तो अर्थ (पदार्थ) का गौरव ही विलीन हो जाता है । अर्थात् पदार्थ का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है । अतः आपका विवक्षित सिद्धान्त ही समीचीन है ॥ ११ ॥

अवयव अवयवी के समुदाय रूप ही तत्त्व है । क्योंकि इनमें प्रदेश भेद नहीं है । अतः एक रूप ही अथवा अनेक रूप ही एकान्त से पदार्थ स्वरूप सिद्धि नहीं है । अगर सर्वथा भेद रूप माना जायेगा तो अवयवी के अभाव में अवयवों का विनाश हो जायेगा और अवयवों रहित अवयवी भी स्थिति नहीं पा सकेगा । क्यों कि दोनों के एकरूप समुदाय बिना वस्तु वस्तुत्व को प्राप्त नहीं कर सकती, उभय धर्मों का अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण ॥१२॥

हे जिन! आप भी पर्यायों की अपेक्षा व्यवहार से अनित्यरूप भी प्रतिभासित होते हो । तथा निश्चयनय-द्रव्यार्थिक नयापेक्षा एक रूप नित्य भी परिलक्षित होते हो । इन दोनों धर्मों के निष्ठ होने से प्रथम अपेक्षा से आपकी कार्यकारिता सिद्ध होती है । अर्थात् ज्ञाता-द्रष्टा पना निर्धारित होता है और द्वितीय निश्चयदृष्टि से आपकी ज्ञातृत्व और दृष्टित्व शक्तियों की सिद्धि होने से आपकी निराकुलता सिद्ध होती है ॥१३॥

हे परमेश्वर ! जब कि स्वयं वस्तु नित्यानित्यत्व धर्मों से यथाजात स्वरूप अवधारण किये है तो फिर अनित्यता बिना नित्यत्व और नित्यत्व रहित अनित्यत्व किस प्रकार स्थिति पा सकता है । हे सर्वज्ञ जिन आपने

अपने पूर्ण ज्ञान द्वारा स्वभाव से क्रमाक्रम भावों से निर्मित वस्तु का सम्यक् अवलोकन किया है । स्वभाव कभी भी स्वभावी से भिन्न नहीं हो सकता । अत: वस्तु तत्त्व प्रकृति से ही द्वयात्मक है तो वह अपने स्वभाव को क्या छोड़ती है । आपका शुद्धात्म स्वरूप भी वैसा ही है तो स्वभाव क्यों छोड़ें ? अर्थात् नहीं त्याग सकते ।। १४।।

एक ही वस्तु में एकानेक रूप दो शक्तियों का कारण एक ही नहीं है । क्योंकि ऐसा मानने पर कार्य-कारण भाव सिद्ध नहीं होगा । इसीलिए हे- जिन आपके मत में आपने स्व और पर की अपेक्षा दो भिन्न कारण सुनिश्चित किये हैं । एकत्व, अखण्ड स्वभाव की सिद्धि में स्वयं द्रव्य है और अनेकत्व की प्रतीति में परभावों की अपेक्षा है । अर्थात् द्रव्यार्थिक नय से एक अखण्ड पना सिद्ध होता है और पर्यायार्थिक नयापेक्षा अनेकपना प्रसिद्धि को प्राप्त होता है यही वस्तु स्वभाव है । एक कारण है तो दूसरा कार्य । इस प्रकार उभय स्वभाव को लिए ही वस्तु स्वरूप उत्कृष्टपने से प्रकट होती है ।।१५।।

हे देव! ज्ञान पना आपसे भिन्न नहीं है । तथा उसी प्रकार ज्ञानशक्ति में भेद स्वरूपता भी स्वयं नहीं है । अपितु केवल ज्ञान तो शुद्ध चिच्चमत्कार स्वरूप एक ही है । उसमें पर पदार्थ स्वयं झलकते हैं । इसी अपेक्षा से वह अनेक भेद रूप प्रतीति होती है । अत: पर रूपता कारण हैं । पदार्थों की विचित्रता अनेक रूपताओं का उदय करती है ।। १६ ।। स्व और पर ये उभयरूपता आपके निर्मल, स्वच्छ ज्ञान की आभा में प्रतिबिम्बित होती रहती है । इस योग्यता से आपकी अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान रूप शक्तियों का प्रकट अवभासन होता है । क्योंकि आप उसी प्रकार अन्तरंग-अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दृष्टि का साक्षात् अनुभव करते हैं । आपका क्षायिक ज्ञान-दर्शन रूप विक्रम तद्रूप ही है ।। १७ ।।

स्व स्वरूप प्रतिभासमान होने के साथ-साथ, समस्त विश्वीय पदार्थ भी अपनी अशेष पर्यायों के साथ प्रकाशित होते हैं-झलकते हैं । यथा मणि-रत्न के प्रकाश में स्वयं मणि भी अपने को दर्शाती है और पर पदार्थों को भी तथा प्रदीप भी स्व-पर प्रकाशक शक्ति सम्पन्न देखा जाता है । इसी प्रकार आपका आत्मीय ज्ञान व दर्शन भी स्व-पर ज्ञायक और प्रकाशक है ॥ १८ ॥

हे प्रभो! स्व-पर प्रकाशक ज्ञान-दर्शन सम्पन्न होते हुए आप पराश्रित नहीं हैं । अपने वस्तु स्वभाव का परित्याग कर पर पदार्थों को प्रकाशित नहीं करते और न वे पदार्थ ही आप रूप होकर प्रकाशित होते हैं । वे सर्वथाभिन्न ही रहते हैं । यह नहीं है कि पर पदार्थों के प्रकाशन में आप उनका आलम्बन लेते हों । अपितु जिस प्रकार स्वावलम्बनपूर्वक निज स्वरूप को प्रकट करते हैं उसी प्रकार निज स्वभावनिष्ठ रहकर ही पर पदार्थ प्रकट प्रकाशित होते रहते हैं । आपतो सतत, सदैव अपने स्व-स्वभाव निष्ठ होकर ही स्व-पर ज्ञाता द्रष्टा रहते हैं ॥ १९ ॥

क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन व्यवहार नयापेक्षा पराश्रय से प्रवर्तन करते हैं । परमार्थ दृष्टि से अर्थात् निश्चय नय से तो वे भी निजात्मतत्त्व में सन्निहित हो स्वाश्रयी ही होते हैं । कारण कि उनका दर्शन-ज्ञान, क्रम से क्रियाकारी होते हैं । अर्थात् प्रथम दर्शन और पुनः ज्ञान की प्रवृत्ति होती है । परन्तु हे जिनेश्वर ! आपकी सर्वज्ञावस्था में दर्शन और ज्ञान युगपत प्रवर्तते हैं । अतः आपका प्रवर्तन अपने ही ढंग का अनोखा है ॥ २० ॥

यदि सर्व व्यापी आपका ज्ञान-दर्शन स्वरूप है तो भी अपने ही आत्मस्वभाव में निष्ठ रहता है । अतः स्व पराश्रयता रूप उभय- शक्ति विरोध को प्राप्त नहीं होती । वह उभय रूप ही प्रतिभासित होती है ॥ २१ ॥

समीचीन-उत्सर्गमार्ग से पूर्णतः आप में एक रूपता ही है। परन्तु आपके अनन्तज्ञान तेज में जगत व्याप्त होता है यह अपवाद दृष्टि है इसी अपेक्षा से भेद पना अवभासित होता है। निश्चय से शुद्ध स्वभावी आपकी महिमा तद्अतद् रूप ही प्रत्यक्ष प्रतिभासित होती है ॥ २२ ॥

इस प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों की अपेक्षा हे देव! आपका सिद्धान्त बहुभेद रूप होकर भी एकदम से वस्तु तत्त्व को व्यवस्थित करता है और एक अखण्डरूप से ही अनेक रूपता को सिद्ध करता है। अभिप्राय यह है कि पदार्थ में एकानेक रूपता एक दूसरे की अपेक्षा से ही व्यवस्थित होता है। अनेकान्त से ही वस्तु स्वरूप अपने अस्तित्व को व्यवस्थित रखती है। इस प्रकार आपके सिद्धान्त की महिमा सतत सुदृढ़, निश्चल घटित होती है। अर्थात् सर्वमान्य सिद्ध हैं ॥ २३ ॥

इस प्रकार आपका यह उभयात्मक सिद्धान्त निश्चित, प्रमाणिक और अचल है तथा परमानन्द भरित है। जिस प्रकार इक्षुदण्ड को यंत्र द्वारा पेलने पर हे देव! वह अपने स्व रस से परिपूर्ण स्वभाव से उछलता प्रकट होता है उसी प्रकार प्रभो आपके सिद्धान्त को मैं अपनी प्रज्ञारूपी यंत्र से विवेचित कर अपने ज्ञानान्द स्वभाव को प्रकट करूँगा, यही मुझे शक्ति प्रदान करें ॥ २४ ॥

हे प्रभो! आपके चरण कमलों के आश्रय को प्राप्त मेरी अज्ञानतमभरी मोहरूपी रात्रि नष्ट हो, ज्ञान रवि जाग्रत हो। हे जिन! आपकी परमभक्ति से आप ही की अंक में प्राप्त हूँ। स्वामिन् कृपाकर मुझे ज्ञानशक्ति प्रादन करें इसी भावना से स्तोत्र रचना की है ॥ २५ ॥

●

अध्याय 16

पुष्पिताग्राच्छन्द

अयमुदयदनन्तबोध शक्तिस्त्रिसमयविश्वसमग्र धस्मरात्मा।
घृतपरमपरारुचिः स्वतृप्तः स्फुटमनुभूयत एव ते स्वभाव ।।1 ।।

जिनवरपरितोऽपि पिडयमानः स्फुरसि मनागपि नीरसो न जगत् ।
अनवरण मुपर्युपर्यभीक्ष्णं निखधिबोधसुधारसं ददासि ।।2 ।।

शमरसकलशवली प्रवाहैः क्रमविततैः परिनस्तवैष धौतः ।
निखवधिभवसन्ततिप्रवृत्तः कथमपि निर्गलितः कषायरङ्गः ।।3 ।।

सुचरितशितसंविदास्त्रपातालव तडिति तृतात्मवलनेन ।
अतिभरनिचितोच्छ्वसत्स्वशक्ति प्रकर विकाशभवायितः स्वभावः ।।4 ।।

निखर्धिभवभूमिनिम्नखातात्सरभसमुच्छलितो महद्भिरोधैः ।
अयमतिवित स्तवाच्छबोधस्वरसभरः कुरुते समग्रपूरम ।।5 ।।

निखधिच दधासि निम्नभावं निखधि च भ्रियसे विशुद्धबोधैः ।
निखधि दधतस्तवोन्नतत्वं निखधि स्वे च विभोविभाति बोधः ।।6 ।।

अयमनवधिबोधनिर्भरः सन्ननवधिरेव तथा विभो विभासि।
स्वयमथ च मितप्रदेश पुञ्जः प्रसभविपुञ्जित बोधवैभवोऽसि ।।7 ।।

श्रितसहजतया समग्रकर्मक्षयजनिता न खलु स्खलन्ति भावाः ।
अनवरतमनन्तवीर्यगुप्तस्तव तत एव विभात्यनन्तबोधः ।।8 ।।

दृगवगमगभीरमात्मतत्वं तव भरत: प्रविशद्भिरर्थसार्थैः।
निरवधिमहिमावगाहहीनै: पृथगचला क्रियते विहारसीमा ॥9॥
निरवधिनिजबोधसिन्धुमध्ये तव परितस्तपतीव देव विश्वम्।
निमिकुलमिव सागरे स्वगाभै: प्रविचयन्निजसन्निवेशराजी: ॥10॥
प्रतिपदमिदमेवमित्यनन्ता भुवनभरस्य विवेचयत्स्वशक्ति:।
त्वदवगमगरिम्ण्यनन्तमेतद्युगपदुदेति महाविकल्पजालम् ॥11॥
विधिनियम मयाद्भुतभावात् स्वपरविभागमतीव गाहमा।
वधि महिमाभिभूतविश्वंदधदपि बोधमुपैषि सङ्करं न ॥12॥
उदयति न भिदासमानभावद्भवति भिदैव समन्ततो विशेषै:।
द्वयमिदमिवलम्ब्यतेऽतिगाढं स्फुरति समक्षतयात्मवस्तुभाव: ॥13॥
इदमुदयमदनन्तशक्तिचक्रं समुदयरुपतया विगाहमान:।
अनुभवसिसदाऽप्यनेकमेकं तदुभयसिद्धमिमं विभो स्वभावात् ॥14॥
निरवधिघटमानभावधारा परिणमिता क्रमवर्त्यनन्तशक्ते:।
अनुभवनमिहात्मन: स्फुटं ते वरदयतोऽस्ति तद प्यनन्तमेतत् ॥15॥
प्रतिसमयलसद्विभूतिभावै: स्वपरनिमित्तवशादनन्तभावै:।
तव परिणमत: स्वभावशक्त्या स्फुरति समक्ष मिहात्मवैभवम् तत् ॥16॥
इममचलमनाद्यनन्तमेकं समगुणपर्ययपूर्णमन्वयं स्वम्।
स्वयमनुसरतधिदेकधातुस्तव पिबतीव परान्वयानशेषान् ॥17॥
अतिनिशितमनंशमूलसत्तर प्रभृति निरन्तरमातदन्त्य भेदात्।
प्रतिपदमतिदारयन् समग्रं जगदिदमेत दुदेति ते विदस्त्रम् ॥18॥
विघटितघटितानि तुल्यकालं नव विदत: सकलार्थमण्डलानि।
अवयवसमुद्रायबोधलक्ष्मीरखिलतमा सममेव निर्विभाति ॥19॥

जडमजडमिदं चिदेकभावं तव नयतो निजशुद्धबोध धाम्ना।
प्रकटति तवैव बोधधाम प्रसभमि हान्तरमेतयोः सुदूरम् ॥20 ॥
यदि सर्वगतोऽपि भाससे नियतोऽत्यन्यमपि स्वसीमनि।
स्वपराश्रयता विरुद्धते न नव ह्यत्कतैव भासिति तत् ॥21 ॥
अपवादपदैः समन्ततः स्फुटमुत्सर्गमहिम्नि खण्डिते।
महिमा तव देव पश्यतां तदतद्रूपतयैव भासते ॥22 ॥
जगदस्थितिमेवमागतम् भवतो विघटद्द्वयसंस्थितिम्।
अतिगाढविघाट्टितोऽपि ते महिमा देवमनाऽनकंपते ॥23 ॥
हठघट्टनयाऽनया तव दृढनिः पीडितपैण्ड्रकादिव।
स्वरसप्लव एष उच्छलन् परितो मां त्रुडितं करिण्यति ॥24 ॥
विरताममोहयामिनी तव पादाब्जगतस्य जाग्रतः।
कृपया परिवर्त्य भाक्तिकं भगवन् क्रोडगतं विधेहिमाम ॥25 ॥

पाठ १६

त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण विश्व को एक ही समय में प्रकाशित करने वाला, स्व पर प्रकाशक स्वभाव धारक, स्वयं स्व स्वभाव में तृप्त, आप पूर्णता को प्राप्त, ऐसे अनन्तज्ञान मार्तण्ड स्वरूप स्वभाव का अनुभव करने वाले हैं । ज्ञानघन स्वरूप ही आप प्रकट प्रकाशित हैं ।। १ ।।

चारों ओर से अनन्त पदार्थ सपर्याय आप में निरंतर प्रतिबिम्बित हो रहे हैं । उनसे खचित होते हुए भी आप तनिक भी क्षुभित नहीं होते । अपने स्वभावरस से चलायमान नहीं होते । निरावरण क्षायिक दर्शनशक्ति व असीम ज्ञान सुधारस उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होता हुआ ही ज्ञानामृत रस को प्रदान करते हो । अर्थात् विश्वस्थ समस्त भव्यात्मा आपके ज्ञान सुधारस से संतृप्त होते हैं, परन्तु उसमें सरसता हीन नहीं होती ।। २ ।।

अनादिकालीन संसार परम्परा की प्रवृत्ति करने वाली कषायों का रंग मलिनता किसी प्रकार आपके साम्यरस भरे शान्तिरूपी कलशों के क्रमिक विस्तार द्वारा यह आत्मा स्वच्छ की गई है । अर्थात् कषायरस रंजित आत्म तत्व को आपने निर्मल बनाया । इसके लिए शमरस का प्रयोग किया । फलतः क्रम-क्रम से वह कषायमलिनता पृथक् की गई ।। ३ ।।

उत्तम चारित्र से समन्वित ज्ञान रूपी शस्त्र विद्युतवत् चमत्कृत हो गया । इस प्रकार रत्नत्रय मयी आत्मबल से आपने पूर्ण विकसित और अपने निज स्वभाव खचित आत्मशक्ति को विकासोन्मुख बनाया । फलतः स्वस्वभाव निष्ठ हो गये । अतः हे जिनेश्वर आप ही रत्नत्रय तेज से निरन्तर चिच्चमत्कार प्राप्त हैं ।। ४ ।।

असीम, अगाध संसारभूमि खान को आपने हजारों उपायों के वेग से प्राप्त महान शक्ति से पूर दिया, भर दिया । यह संसार सागर अनेक

कष्टोंरूपी क्षार जल प्रपूरित है । आपने अपने अन्तिम मोक्ष पुरुषार्थ से इस रचना को विपरीत बना लिया, आपने अपने स्व विस्तृत उज्ज्वल, अतिनिर्मल ज्ञान सागर से परिपूर्ण रूप से भर लिया । अभिप्राय यह है कि यद्यपि संसार "दु:खमेय वा" कहा है परन्तु आत्मसुख मुक्ति भी संसार पूर्वक ही होती है । चाहिए समीचीन भेद-विज्ञान युत् सम्यक् चरित्र । यही आपके इसी प्रयोग ने निज में निज को प्रकट कराया ॥ ५ ॥

हे विभो! मिथ्यात्व-अज्ञानभाव अनादि से चला आया है इसकी कोई सीमा नहीं है । इसी आत्म तत्त्व में असीम विशुद्ध ज्ञान भी भरा है । शुद्धज्ञान-भेद-विज्ञान द्वारा ज्ञात कर आपने अपने आत्मतत्त्व को उस असीम, निर्मल शुद्ध ज्ञान से भरित प्रकट किया । हे प्रभो! शुद्ध ज्ञान चेतना आप में स्वाभाविक रूप से प्रकाशमान हो रही है ॥ ६ ॥

अब यह ज्ञानचेतना अनवधि है और भविष्य में ही सतत अनन्त काल पर्यन्त असीम ही बनी रहेगी । आप तद्रूप ही प्रकाशित हो रहे हो । यद्यपि यह प्रकाशपुञ्ज स्वयं में सीमित है । क्योंकि आत्मा असंख्यात प्रदेशी है और उसी में सन्निहित यह शुद्ध ज्ञान चेतना है । तथाऽपि अपनी ज्योतिर्मय किरणों द्वारा यह ज्ञान पुञ्ज सर्वव्यापी है । अर्थात् विश्व के अशेष द्रव्य-गुण-पर्यायों को विषय करता है - जानता है । अतः आप ऐसे अद्भुत ज्ञान वैभव सम्पन्न हो ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से उत्पन्न सहज का स्वभाव रूप परिणत तत्त्व अपने स्वभाव से परित्यक्त नहीं होते । यही कारण है कि सहज ज्ञान का रोधक ज्ञानावरणी कर्म निर्मूल-चूल नष्ट हो जाने से आपका अनन्त ज्ञान अनन्तवीर्य से सुरक्षित हुआ पूर्ण प्रताप से शोभायमान है ॥ ८ ॥

सम्यक्दर्शन और ज्ञान से लबालब परिपूर्ण आपका आत्मतत्त्व, स्वच्छन्द रूप से अशेष पदार्थों में प्रवेश करता है अर्थात् ज्ञात कर लेता है । परन्तु तो भी अपनी ही असीम महिमा में निमग्न हुआ, अचल, अडोल हुआ विहार करता है । अभिप्राय यह है सम्पूर्ण विश्वीय पदार्थ अपने अपने स्वरूप से आपके ज्ञान में झलकते रहते हैं । आपके स्वरूप में प्रविष्ट नहीं होते ।। ९ ।।

हे जिन! आपके असीम, अगाध, अपरिमित निर्मल स्वच्छ ज्ञान उदधि में सारा विश्व सब ओर से तैरता रहता है । जिस प्रकार रत्नाकर में मगरमच्छ, मछली, घड़ियाल आदि जीव जन्तु तैरते रहते हैं । परन्तु सागर तो अपनी ही जल कल्लोलों में ही सन्निविष्टि रहता है । इसी प्रकार आपके ज्ञानोदधि में अशेष विश्व ज्ञानप्रभा में विभासित होता रहता है परन्तु आपतो अपने ही अनन्तसुखामृत में तन्मय रहते हैं ।। १० ।।

संसार में भरे हुए अनन्त विकल्प भयंकर जालों को ज्ञात करने वाली अनन्त शक्ति उदय को प्राप्त होती है । यह शक्ति अनन्त भुवनों को विवेचन करनें में समर्थ होती है । यह सामर्थ्य ज्ञान के स्वभाव के प्रकटीकरण के साथ ही जाग्रत हो जाती है । जिस प्रकार सूर्योदय के साथ ही उसका प्रताप और प्रकाश युगपत् प्रकट होता है ।। ११ ।।

स्वाभाविक नियम है, एक द्रव्य अन्य द्रव्यरूप परिणत नहीं हो सकता । यही विधि-प्रकृति का विधान है । यही कारण है कि स्व-पर का भेद-विभाग करने वाला ज्ञान अपनी असीम महिमा में नियुक्त रहते हुए ही अशेष पदार्थगत व्यापक होकर भी उनमें मिश्र होकर एक रूप नहीं होता ज्ञान सदैव ज्ञान-चेतनस्वरूप ही रहता है ।। १२ ।।

सामान्यापेक्षा तत्व में भेदाभेद अवस्था एक साथ रहकर भी विशेषापेक्षा सभी शक्तियाँ भिन्न-भिन्न ही रहती हैं । ये दोनों ही शक्तियाँ

या धर्म-अर्थात् सामान्य-विशेष धर्म एक साथ रहकर ही वस्तु धर्म के स्वरूप को अवस्थित रखते हैं । इसी कारण आपका शुद्धात्मतत्त्व, प्रकट होकर एक रूप में ही रहता हैं ।। १३ ।।

अनन्तधर्मात्मक आत्मतत्त्व अपने अनन्तगुणचक्रसहित एक साथ उदय प्राप्त करते हैं । कारण एक पदार्थ में निविष्ट अनन्त शक्तियाँ एक रूप होकर अनन्यभाव से रहती हैं । समुदायरूप से ही ज्ञान में प्रतीत होती हैं । इसी रूप से आप अपने आत्मतत्त्व को अनुभव करते हैं । इसी प्रकार एकत्व और अनेकत्व युगपत् स्वभाव से ही निहित आपने सिद्ध किया है । यही वस्तु स्वरूप है ।। १४ ।।

पर्याय नयापेक्षा आपकी अनन्त शक्ति का क्रमिक रूप से ह्रास होता है तो वह धारा असीमरूप से उत्तरोत्तर हानिरूप होती है । तथाऽपि उसी समय द्रव्यार्थिक नयापेक्षा आत्मा का वैभव स्पष्ट वृद्धिंगत होकर भी उसी रूप अनन्त ही रहता है । द्रव्य, पर्याय से वृद्धि हानि होने पर भी शुद्ध आत्म तत्व यथा तथा ही रहता है ।। १५ ।

प्रतिसमय आत्मा का वैभव अपने स्वभावरूप से निरन्तर उल्लसित होता रहता है । यह परिणति स्व-पर निमित्तों वशात् अनन्तभावों के द्वारा होती है । आपकी स्वभावशक्ति के परिणमन द्वारा स्फुरित होती है । इस परिणमित ज्ञानदर्पण में अनन्त पदार्थ भी परिणमित होते हुए प्रकाशमान होते रहते हैं ।। १६ ।।

वह आत्मशक्ति अचल, अनादि, एक है क्योंकि अपने गुण और पर्यायों से समन्वित अन्वय रूप से स्वयम् परिपूर्ण रहती है । इसके साथ ही आप की एक चेतना स्वयं अनुसरण करती हुयी आपकी शक्ति पर को अन्वयरूप से पान करती सी स्फुरायमान होती है । अशेष पदार्थ चैतन्य ज्योति में झलकते रहते हैं ।। १७ ।।

अभेद दृष्टि से अनन्तशक्ति रूप भी आत्मसत्ता अत्यन्त तीक्ष्ण, अंश विहीन, एक रूप, अखण्ड आदि स्वरूप विस्तार को प्राप्त होती है। प्रतिसमय जगत को अनेक रूप में धारण कर सारा संसार उदित होता रहता है। आपका ज्ञानरूप पैना अस्त्र विश्व को विदीर्ण करता हुआ शोभित होता है ॥ १८ ॥

आपकी ज्ञान चेतना एक ही काल में हानि-वृद्धि को प्राप्त होते हुए सम्पूर्ण पदार्थों के समूह को प्रतिभासित करती है। अवयव, अवयवी के भेद से अनेक व एक रूप से ज्ञान लक्ष्मी स्व स्वरूपनिष्ठ ही रहती है ॥ १९ ॥

आपके सिद्धान्त में आत्म तत्व जड़-चेतना उभय रूप होकर भी नया निरपेक्ष एक मात्र अपने शुद्ध बोध के तेज-प्रकाश में प्रकट रहता है। द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयों से ज्ञानधाम बलात् एकानेक रूप से निरन्तर अवभासित रहता है ॥ २० ॥

यदि आत्मा सर्वगत है तो भी अपनी नियत स्व स्वभावशक्ति में ही सीमित रहती है। इस प्रकार स्व-पर के आश्रय से ये विरुद्ध धर्म प्रतिभासित होते हैं। परन्तु आपके अनेकान्त सिद्धान्तानुसार अपेक्षाकृत होने से अविरुद्ध सिद्ध होते हैं। अतः प्रत्येक तत्त्व एकानेकादि अनेक धर्मो को विवक्षा-अविवक्षा रूप से निर्विरोध मुख्य-गौण कर धारण करता ही है ॥ २१ ॥

उत्सर्ग मार्ग की महिमा में अपवाद मार्ग स्पष्ट रूप में विलीन हो जाता है। अर्थात् मुख्य धर्म की विवक्षा में गौण-अविवक्षित प्रतिभासित नहीं होता। इस प्रकार आपके अनेकान्त सिद्धान्त की महिमा निरन्तर एकानेक रूप से अविरुद्ध प्रतिभासित होती है। तदतद् रूप ही वस्तु का निज स्वभाव है ॥ २२ ॥

पर्यायापेक्षा अनवस्थिति-क्षणिकपना धारण करता हुआ भी पदार्थ द्रव्यापेक्षा अवस्थिति-नित्यत्व धर्म भी धारण किये रहता है । इस प्रकार अत्यन्त प्रगाढ़ और क्षणिकता को लिए हुए हे देव! आपका सिद्धान्त तनिक भी विरोध को प्राप्त नहीं होता । गुण-पर्यायापेक्षा स्वतः वस्तु अभेद व भेद रूप धर्मों को धारण करती है । इसी से आपकी महिमा सतत अविचल बनी रहती है ॥ २३ ॥

इस प्रकार हे जिन वस्तु स्वरूप यंत्र द्वारा प्रपीड़ित इक्षुदण्ड के समान निज स्वभाव च्युत नहीं होती । तथा विपरीत भी नहीं होती । अपने ही स्व-स्वभाव भरित निरन्तर उछलती है । उल्लसित होती है । पर पदार्थों में क्रीड़ा करती हुयी, उनमें स्वरूपसत्ता स्थापित कर ही अपने ज्ञान का विषय बनाती है । कदाऽपि उनमें निमग्न हो उन रूप नहीं होगी ॥ २४ ॥

हे जिन विभो! आपके परमोत्तम, परम पावन चरण सरोज में नाश और सम्यग्ज्ञान का प्रकाश प्रदान करे । हे स्वामिन्! दयादृष्टि से पू. आचार्य कहते हैं कि हे जिनेश्वर मेरे का प्रसाद रूप मोहांधकार का नाश और सम्यग्ज्ञान का प्रकाश प्रदान करे । हे स्वामिन्!दयादृष्टि से कृपाकर मुझे अपनी गोद में ले लो । अर्थात् मेरी जीवन धारा को परिवर्तित कर अपने समान बनाने की कृपा करिये । आचार्य देव ने जिन स्तोत्र के अन्त में अपनी कामना प्रकट की है कि –

"जो तू है वह हो जाऊँ मैं, मैं हो जाऊँ तुझसा ज्ञानी
जो तूने पाया पाऊँ मैं, इसलिए सदागुणगाऊँ मैं"
मैं हो जाऊँ तुझसा ध्यानी ॥" २५ ॥

●

अध्याय 17

मतमयूरच्छद

वस्तुनां विधिनियमोभयस्वभावादेकांशे परिणतशक्तया स्खलन्तः।

तत्वार्थं वरदवदन्त्यनुग्रहातत्ते स्याद्वादप्रसभसमर्थनेन शब्दा।।1॥

आत्मेति ध्वनिरनिवारीतात्म् वाच्यः शुद्धात्मप्रकृतिविधानतत्परः सन।

प्रत्यक्षस्फुरदिदमेवमुञ्छनीचं नीत्वाऽस्त त्रिभुवनमात्मनास्तमेति॥2॥

तस्यास्तं गमनमनिच्छता त्वयैव स्यात् काराश्रयगुणाद्धीधानशक्तिम्।

सापेक्षां प्रविदधता निषेधशक्तिर्दत्तासौ स्वरसभरेण वल्पतीह॥3॥

तद्योगाद् विधिमधुराक्षरं ब्रुवाणा अप्येते कटुककठोरमारटन्ति।

स्वस्यास्तं गमनभयान्निषेधमुख्यैः स्याताकुदंवचनमेव घोषयन्तः॥4॥

त्रैलोक्यं विधिमयतां नयन्नचासौ शब्दोऽपि स्वयमिह गाहतेऽर्थरूपम्।

सत्येवं निखधिवाच्यवाचकानां भिन्नत्वं विलयमुपैति दृष्टमेतत्॥5॥

शब्दानां स्वयमपि कल्पितेऽर्थभावे भाव्येतभ्रम इति वाच्यवाचकत्वम्।

किं त्वस्मिन्नियममृतेन जातु सिद्धयेददृष्टोऽयं शब्दयोर्विभेद॥6॥

अप्येतत् सदिति वचोऽत्र विश्वचुम्बि सत् सर्वं न हि सकलात्मना विधत्ते।

अर्थानां स्वयम्सतांपरस्वरूपात नत् कुर्यान्नियतमसद्वयोऽप्ययपेक्षाम्॥7॥

अस्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे स्पष्टाऽसी स्वयमनुभूतिरूल्लसन्ती।
चित्तत्वं विहितमिंद निजात्मनोच्चैः प्रव्यक्तं वदति परात्मना निषिद्धम् ॥8॥

नास्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे स्पष्टासी स्वयमनुभूति रूल्लसन्ती।
प्रव्यक्तं वदति परमात्मना निषिद्ध चितत्वं विहितमिंद निजात्मनौच्चैः ॥9॥

सत्यास्मिन् स्वपरविभेद भाजि विश्वे किं ब्रूयाद् विधिनियमाद्वयाद [illegible]।
प्रब्रूयाधदि विधिमेव नास्ति भेद प्रब्रूते यदि नियमं जगत् प्रमृष्टम् ॥10॥

एकान्तान सदिमि वचो विसर्पि विश्वं स्पृष्ट्वाऽपि स्फुटमवगाहते निषेधम्।
सन्ताऽर्था न खलु परस्परानिषेधाद् व्यावृत्तिं सहजविजृम्भितां व्रजेयु ॥11॥

एकान्तादसदिति गीर्जगत्समग्रं स्पृष्टाऽपि श्रयति विधिपूरः स्फुरतम्।
अन्योन्यं स्वयमसदप्यनन्तमेतत प्रोत्थातुं न हि सहते विधेरभाषात् ॥12॥

भिन्नोऽस्मिन् भुवनभरान्न भाति भावोऽभावो वा स्वपरगतव्यपेक्षयाती।
अन्योन्यं स्वयमसदप्यनन्तमेनत् प्रोत्यातुं न हि सहते विधेरभावात् ॥13॥

अस्तीति ध्वनिरनिवारितः प्रशम्याऽन्यत् कुर्याद्विधिमयमेव नैव विश्वम्।
स्वस्यार्थं परगमनाभिवर्त्तयन्तं तन्नूनं स्पृशति निषेधमेव साक्षात् ॥14॥

नास्तीति ध्वनितमनङ्कुशप्रचाराद्यच्छून्यं झगिति करोति नैव विश्वम्।
तन्नूतं नियमपदे तदात्मभूमावस्थिति ध्वनितमपेक्षते स्वयं तत् ॥15॥

सापेक्षो यदि न विधीयते विधिस्तत्स्वस्यार्थं ननु विधिरेव नाभिधत्ते।
विध्यर्थः स खलु परान्निषिद्धमर्थं यत् स्वास्मिन्नियतमसी स्वयं प्रवीनि ॥16॥

स्यात्कारः किमु कुरुतेऽसतीं सतीं वा शब्दानामयभुभयात्मिकां स्वशक्तिम्।
यद्यस्ति स्वरसत एव साकृतिः किं नासत्याः करणमिह प्रसह्ययुक्तम् ॥17॥

शब्दानां स्वयमुभयात्मिकाऽस्ति शक्तिः शक्तस्तां स्वयमसतीं परो न कर्तुम्।
न व्यक्ति भवति कदाचनापि किन्तु स्याद्वादं सहचरमन्तरेण तस्याः ॥18॥

एकस्मादपि वचसो द्वयस्य सिद्धौ किन्न स्याद् विफल इहेतर प्रयोग।
साफल्यं यदि पुनरेति सोऽपि तत् किं क्लेशाय स्वयमुभयभिधायितेयम् ॥19॥
तन्मुख्यं विधिनियमद्वयाद्यदुक्तं स्याद्वादाश्रयणगुणोदिस्तु गौणः।
एकस्मिन्नुभयमिहानयोश्चवाणे मुख्यत्वं भवति हि तद्वयप्रयोगात् ॥20॥
मुख्यत्वं भवति विवक्षितत्वं साक्षात् गौणत्वं व्रजति विवक्षितो न याः स्यात्।
एकस्मिंस्तदिह विवक्षितो द्वितीयो गौणत्वं दधदुपयाति मुख्यसख्यम् ॥21॥
भावानामनवधिनिर्भरप्रवृत्ते संघट्टे महति परात्मनोरजस्त्रम्।
सीमानं विधिनियमावसंस्पृशन्तौ स्यात्कानाश्रयणमृते विसंवदाते ॥22॥
धत्तेऽसौ विधिरधिकं निषेधमैत्रीं साकांक्षा वहति विधितिषेधवाणी।
स्यात् काराश्रयण समर्थितलब्धीर्यावाख्यातो विधिनियमौ निजार्थमित्थम् ॥23॥
इत्येवं स्फुटसदसन्मयस्वभावं वस्त्वेकं विधिनियमोभयाऽभिधेयम।
स्यात्कारे निहितभरे विवाक्षितसन्नेकोऽपि क्षमत इहाभिधातुमेतत् ॥24॥
स्वद्रव्याद विधिरयमन्यथानिषेधः क्षेत्राद्यैरपिहिनिजेतरैः क्रमोऽयम्।
इत्युक्ते प्रथममिह प्रताऽय मैत्रीं निर्बाधं निजविषये परन्तु शब्दाः ॥25॥

पाठ-१७ प्रहर्षिणी छंद ॥

वस्तु तत्व के विधि निषेध रूप उभय धर्मों में से यदि विधिरूपता ही स्वीकार की जाय तो उसको एकांश रूपता होने से परिणमन शक्ति का अभाव हो जायेगा । तत्त्वार्थ की उभय रूपता को एकान्तपने से निरूपण करने की एक साथ योग्यता शब्दों में है नहीं । अर्थात् शब्द-वाचक अपने वाच्यभूत पदार्थ के अनेक धर्मों का एक साथ निरूपण नहीं कर सकते । हे जिन! आपकी अपेक्षावादी स्याद्वाद शैली ही शब्दों में क्रमशः प्रतिपादक शक्ति प्रदान करती है । अतः आपके उदार और व्यापक अनेकान्त सिद्धान्त शैली से शब्द शास्त्र उपकृत हो तत्त्व निरूपण में समर्थ होता है । १ ॥

"आत्मा" इस प्रकार की ध्वनि ही अपने वाच्यभूत आत्मद्रव्य को शुद्धात्मरूप में स्वाभाविक स्वरूप के विधान में प्रवृत्त होती है । उत्पाद-व्यय स्वभाव से प्रत्यक्ष स्फुरायमान होती हुई, आत्मा उच्च-नीच दशा को प्राप्त त्रिलोक को अपने में अपने ही द्वारा प्रविष्ट करा लेती है । अर्थात् स्वयं जाग्रत रहते हुए संसार को अस्त कर देती है । संसारातीत हो जाती है ॥ २ ॥ पूर्ण कैवल्य शक्ति प्रकट होने पर अनिच्छा होने पर विहार स्थगित हो जाता है तो भी तीर्थ प्रवर्तनार्थ स्वाभाविक विहार, होता ही रहता है ॥ २ ॥

अर्हन्त प्रभु परम वीतराग हो चुके । अतः गमनागमन इच्छा भी समाप्त हो गई । किन्तु आपके द्वारा प्रकटित आत्मशक्ति इस योग्यता को स्वभाव ही संधारण करती है । क्योंकि निषेधशक्ति भी सापेक्ष होने से प्रवर्तन भी होता है । अतः स्वानन्द स्वरस से परिपूर्ण उच्चतम रूप से प्रकट स्फुरायमान हुयी गमन की अभिलाषा रहित होकर भी धर्मतीर्थ प्रवर्तनार्थ जिन विहार होता ही है ॥ ३ ॥

निषेधरूप शक्ति के कारण आपके गमन निषेध का प्रकट भय को मानों अस्तमित करती हुयी विधिरूप शक्ति अपने पराक्रम के प्रताप से आपकी मधुर, हित, मित वचनों-दिव्यध्वनि को घोषित करती है । तथा कटु, कठोर, अहितकारी वचनों का निषेध शक्ति भी इनके अभाव को स्पष्ट घोर स्वर में घोषित करती है । इस प्रकार विधि-निषेध रूप उभय धर्मों का प्रवर्तन एक साथ होता रहता है । वस्तु स्वभाव सदैव एक रूप ही रहता है ॥ ४ ॥

इस प्रकार तीनों लोकों को विधिरूप से स्वाधीन करते हुए यह द्विविध धर्म निष्ठ आपकी वाणी वाच्य-वाचक शब्द शक्तियों को भी अभिन्न रूप करती हुयी संसारग्राह्य अर्थ स्वरूप प्रसिद्ध है,: यह असीम और निर्बाध सिद्धान्त अनाद्यनन्त है । वाच्य-वाचक भाव भिन्न-भिन्न होते हुए भी प्रत्यक्ष एक रूपता-अभिन्नता प्रकट होती है । अर्थात् भिन्नत्व का लोप हो जाता है । नष्ट नहीं होता अपितु गौण हो जाता है ॥ ५ ॥

शब्दों की शब्दों में निहित वाच्य-वाचक शक्ति अर्थ को व्यक्त करती है । यद्यपि भेदाभेद रूपता विरोधी प्रतिभासित होती है । परन्तु हे जिन आपके अनेकान्त सिद्धान्त में यह विरोध भी पूर्ण अविरूद्ध सिद्ध हो जाता है । क्योंकि यहाँ विवक्षा और अविवक्षा अपेक्षा मुख्य-गौण रूपता कथित है । अतः आपकी वाणी रूप अमृत से अभिसिंचित शब्दों का भिन्न-अभिन्न पना सिद्ध ही है ॥ ६ ॥

यद्यपि वचन विश्वव्यापी सत्ता को धारण करते हैं, तो भी यह योग्यता निरंकुश नहीं है अपने सपक्षी अपेक्षा अर्थात् स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावापेक्षा सत् रूप होकर भी पर चतुष्टय से असत् भी सिद्ध है । अतः शब्दत्व के साथ स्वयं अशब्दत्व भी सिद्ध हो जाता है ॥ ७ ॥

तत्त्व अपने अस्तित्व-सद्धर्मरूप सर्वथा और सर्वदा, स्पष्ट

स्फुरायमान रहता है, ऐसा आत्मानुभव में प्राप्त होता है । आत्मतत्त्व चित् स्वभाव है । चेतना ज्ञान-दर्शन स्वरूपमयी है । अतः यही ज्ञाता-दृष्टा है । इसी कथन से यह स्पष्ट और प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि अपने स्वभाव के अतिरिक्त पर भावापेक्षा नास्ति रूप अर्थात आत्मा ज्ञानी है, यह किस प्रकार प्रमाणित होगा? अस्तु वस्तु स्वभाव उभयात्मक ही है । यह स्वयं सिद्ध है ॥ ८ ॥

अस्तित्व के विकल्प में नास्तित्व पना भी सर्वत्र स्फुरायमान स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है । यह सिद्धान्त स्वयं अनुभूति आता ही है । क्योंकि पर स्वरूप से यह चिच्चमत्कार ज्योति में प्रत्यक्ष अवभासित होता है । तभी तो स्व स्वरूपापेक्षा वस्तु तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होगा अर्थात् आत्म चैतन्य स्वभाव है । ज्ञान-दर्शन चेतना है । परन्तु आत्मा में अनन्त सुख, वीर्य, अस्तित्व, प्रमेयत्व आदि अनन्त शक्तियाँ हैं, यदि इन्हें चैतन्य स्वभाव से भिन्न स्वीकार नहीं किया जायेगा, तो सर्व मिल एक चेतनामात्र शक्ति रहेगी । अन्य का अभाव हो जाने से आत्मतत्त्व ही सिद्ध नहीं होगा । अस्तु, पररूपत्व द्वारा नास्तित्वपना सिद्ध होता है । क्योंकि नास्तित्व का विरोधी अस्तित्व भी सिद्ध है ॥ ९ ॥

इस प्रकार हे जिन! आपने उपदिष्ट किया कि वस्तु तत्व (त्व) को यदि अस्तित्व, नास्तित्व उभय धर्मात्मक नहीं माना तो जगत का ही विनाश हो जायेगा । अर्थात् एकान्तरूप से विधि अथवा निषेध रूप तत्त्व स्वीकार किया जायेगा तो सर्वसंकर दोष उत्पन्न होगा अथवा सम्पूर्ण सृष्टि का ही विनाश हो जायेगा । इसलिए कथंचित् भेदाभेद रूप या सदसद् धर्मों से युक्त ही वस्तु तत्त्व स्वीकृत होता है ॥ १० ॥

यदि एकान्तपने से सत् यही वचन प्रवृत्ति हुयी तो विधि का

विश्वव्यापी प्रयोग होगा । इस प्रकार होने पर उसका प्रतिपक्षी निषेध भी स्पष्टरूप से सर्वत्र सर्वदाविश्व व्यापी होगा । इस प्रकार होने पर पदार्थ परस्पर निषेधरूप होने पर स्वाभाविक रूप से व्यावृत्ति धर्म प्रवृत्त होगा ही, तभी संसार स्थिति टिक सकेगी । अन्यथा सर्वाभाव होगा, पर ऐसा होता नहीं । अतः स्यात् निषेध और स्यात् विधि ही स्वीकारनें पर तत्त्व व्यवस्था सिद्ध होगी ॥ ११ ॥

एकान्तपने से असद् स्वरूप वाणी कहेगी तो सम्पूर्ण संसारमें असद्पना ही व्याप्त हो जायेगा । परन्तु ऐसा होता नहीं क्योंकि विधि रूप सत्ता भी सर्वत्र परिलक्षित होती है । विधि के अभाव में असत्ता अनन्तता को प्राप्त होगी । जो प्रकृति को स्वयं असिद्ध है । क्योंकि ऐसा स्वीकृत करने पर सृष्टि के अभाव का प्रबल, अवांछनीय प्रसंग उत्पन्न हो जायेगा । पर यह प्रत्यक्ष विरोध है । अतः अपेक्षा कृत सद्भाव व अभाव धर्मों को स्वीकार करना ही होगा । यही वस्तु व्यवस्था का अकाट्य सूत्र है ॥ १२ ॥

विश्व व्यापि भेदाभेद एकान्त से व्याप्त प्रतीत नहीं होता । अपितु परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा से ही दोनों अपने-अपने स्वभाव में अवस्थिति पा सकते हैं । क्योंकि अन्योन्य एकान्त से विरोधी होकर असद् भी अनन्तता को प्राप्त होगा जो विधि के सर्वथा प्रतिकूल पर नाश को ही प्राप्त होगा । विधि के अभाव में निषेध अपना व्यापार कहाँ किसमें करेगा? क्रियाहीन वह भी नष्ट ही होगा । तब सकल शून्यता का प्रसंग आयेगा । अतः एकान्तपने विधि-निषेध व सत्ता, असत्ता टिक नहीं सकती । सापेक्ष ही स्वीकृत करना होगा ॥ १३ ॥

'अस्ति' इस प्रकार की शब्द ध्वनि उच्चारित होने पर नास्ति पने को प्रशमित करती हुयी अर्थात् गौण करती हुयी ही विधि पने का विधान स्थित करती है। अपने वाच्यभूत पदार्थ का स्पष्टीकरण करती हुयी पर रूप-निषेधपने से पराङ् मुख होती हुयी ही निश्चय से साक्षात् निषेध को कथित करती हैं ॥ १४ ॥

"नास्ति" यह शब्द ध्वनि भी अनङ्कुश प्रचार शून्य होती हुयी प्रवर्तती है । क्योंकि एकाएक विश्व को सकलशून्य नहीं बनाती । अतः निश्चय से स्वपद स्थापन के साथ पर पद की अपेक्षा स्वयं अभिलसित करती है । वस्तु स्वभाव ही अन्योन्यापेक्षा चाहता है । अतः उभय धर्म सापेक्ष प्रवर्तते हैं कोई भी निरङ्कुश नहीं होते ॥ १५ ॥

यदि विधि-निषेध को सापेक्ष न स्वीकार कर एकान्तेन विधि ही कही जायेगी तो विधि वाचक शब्द निश्चय से विधि को ही सिद्ध नहीं कर सकेगा । कारण विध्यर्थ स्वयं इसका विधान करने को पर रूप निषेध धर्म को चाहता है । क्योंकि इसमें नियत सन्निविष्ट हुआ प्रवर्तता प्रतीत होता है । जो जिस स्वभावरूप है वह उसी स्वभाव से अवस्थित रहता है ॥ १६ ॥

अनेकान्त सिद्धान्त में स्याद्वादशैली-कथन प्रणाली सर्वत्र स्यात् शब्द का प्रयोग करती हुयी उभय शक्तियों को सुव्यवस्थित करती है । शब्दों में सत् असत् रूप दोनों ही शक्तियाँ अबाधरूप से सन्निविष्ट हैं । जब स्वभाव से दोनों प्रतिपादक शक्तियाँ विद्यमान हैं तो फिर किस प्रकार सत् या असत् का एकान्त से अभाव व सद्भाव किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता ॥ १७ ॥

शब्दों की उभय रूपता सिद्ध करने वाली शक्ति उनमें स्वयं विद्यमान है । जो स्वभाव सिद्ध शक्तियाँ हैं उन्हें पर रूप करने में कोई समर्थ नहीं हो सकता । इन उभयात्मक शक्तियों की अभिव्यक्ति कभी भी एकान्तपने से होना संभव नहीं है । अपितु 'स्याद्वाद' से संभव है । इसके अभाव में प्रतिपाद्य तत्त्व को प्रतिपादन करने की सामर्थ्य शब्दों में नहीं है ॥ १८ ॥

एक ही वचन द्वारा दो शक्तियों की सिद्धि में स्यात् शब्द न रहे तो इतरेतर प्रयोग विफल हो जायेगा । अगर सफलता हो भी गई तो उससे प्रयोजन ही क्या सिद्ध होगा? अर्थात् कुछ भी सिद्ध न होकर मात्र क्लेशपना ही सिद्ध होगा । क्योंकि तत्त्व तो स्वतः उभयसिद्ध है । इसलिए एक धर्मसिद्ध होने पर दूसरे का अभाव होगा । एक के अभाव द्वितीय भी न ठहरेगा । अतः दोनों का लोप होना वस्तु का ही लोप होना है । जो सर्वथा अनिष्टकारी ही होगा ॥ १९ ॥

अतः जिस समय विधि रूप वर्णन की विवक्षा है तो विधि रूपता मुख्य है और निषेधपना गौण हो जाता है । स्याद्वाद के आश्रय से यही सुनिश्चित व सुव्यवस्थित है । निषेध विवक्षा में विधि गौण होकर रहती है । इस प्रकार स्यात्कार से दोनों ही शक्तियाँ निर्बाध रूप रहकर वस्तु स्वरूप सिद्धि में कार्यकारी हैं ॥ २० ॥

जो धर्म विवक्षित होता है, अर्थात् वक्ता जिसका कथन करना चाहता है वह मुख्य होता है । जो अविवक्षित है वह गौण होकर रहता है । इस प्रकार एक ही पदार्थ में गौण और मुख्यता की अपेक्षा मैत्री भाव से दोनों धर्मों का एक साथ अस्तित्व सिद्ध हो जाता है । अतः अभाव किसी का भी नहीं होता ॥ २१ ॥

एकान्त से यदि स्याद्वाद का आश्रय बिना उभय धर्मों की अवस्थिति तत्त्व में स्वीकार की जायेगी तो निश्चय ही दोनों में विरोधी संग्राम होगा। तथा दोनों का ही विसंवाद होने पर अभाव ही सिद्ध होगा। अतः विधिनिषेध की व्यवस्थार्थ स्यात् शब्द लाञ्छित स्याद्वादी प्रणाली ही अवश्य स्वीकार करनी होगी ॥ २२ ॥

'स्यात्' कार का आश्रय लेने पर ही विधि, निषेध के साथ गाढ़ मैत्री भाव चाहती है। क्योंकि शब्दागम विधि-निषेध रूप धर्मों से ही कार्यकारी और यथार्थ समीचीन तत्त्व प्रतिपादक प्रसिद्ध है। वह इसी मैत्री भाव से स्व और पर शक्तियों को सुरक्षित रखता है। अन्यथा निजार्थ का भी प्रतिपादक नहीं हो सकेगा ॥ २३ ॥

इस प्रकार एक ही वस्तु में सदसद् रूप विधि, निषेध धर्मों को नियमित रूप से स्याद्वाद सिद्धान्त में ही अविरुद्ध सिद्धि होती है। क्योंकि विवक्षित रूप से सत् एक को सिद्ध कर अन्य असत् धर्म को भी जीवित रखता है। इस प्रकार का सामर्थ्य या क्षमता स्यात् शब्द में ही निहित है। अतः सत् अपेक्षा वस्तु एक और परापेक्षा अनेक सिद्ध होती है ॥ २४ ॥

स्व द्रव्यापेक्षा विधिरूपता और पर द्रव्यापेक्षा निषेध रूप है। यह स्व द्रव्य क्षेत्र, काल और भावापेक्षा विधि तथा पर द्रव्य, क्षेत्र, काला-भावापेक्षा निषेधपना स्पष्ट और प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। यही मुख्य, गौण विधि-नियम तत्त्व सिद्धि का उत्तम, उत्कृष्ट और यथार्थ है। इस प्रकार की स्वशक्ति को स्वयं शब्द डंके की चोट से घोषित करते हैं। तथा निर्बाध वस्तु स्थिति को नियमित किये हुए हैं। यह भेरी ताड़ना करते हुए शब्द स्वयं घोषणा करते हैं ॥ २५ ॥

●

अध्याय 18

मत्तमयूरच्छद

आद्यं ज्योतिर्द्यात्मांकदुर्गाद्धुततत्त्वं कर्मज्ञानोत्तेजितयोगागम्सिद्धम् ।
मोहध्वान्तं ध्वंसयदत्यन्तमनन्तं पश्याम्येतन्निर्दयमन्त: प्रविवार्य ॥1 ॥

एको भावस्तावक एष प्रतिभाति व्यक्ति नेकव्यक्ति महिम्न्येकनिषण्ण: ।
यो ना नेकव्यक्तिषु निष्णातमति स्यादेको भावस्तस्य तवैषो विषय: स्यात् ॥2 ॥

नोसामान्यं भाति विनैवात्मविशेषैर्नि: सामान्या: सन्ति कदांचिन्न विशेषा: ।
यत सामान्यं भाति त एवात्र विशेषास्त्वं वस्तुस्या: स्वीकृत सामान्य विशेष: ॥3 ॥

द्रव्येणैको नित्यमपिशासिसमन्तादेवानेक: स्फूर्जसि पर्यायभरेण ।
एकानेको वस्तुत एष प्रतिभाद्भसत्वं पर्यायद्रव्यसमाहारमयात्मा ॥4 ॥

दृष्ट: कस्मिन् कश्चिदनेकेन विनैको यश्चानेक: सोऽपि विनैकेन न सिद्ध: ।
सर्वं वस्तु स्यात् समुदायेन सदैकं देवानेकं स्वावयवैर्भाति तदैव ॥5 ॥

एकानेकौ द्वौ सममन्योन्यविरूद्धौ संगच्छाते तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने ।
एकंद्रव्यं नूनमनेके व्यतिरेका एकानेको न्यायत एवास्यु मयात्मा ॥6 ॥

यत् तद्द्रव्यं रक्षति नित्यत्वमनन्तं पर्याया ये ने स्वयन्ति क्षणभङ्गम् ।
नित्यानित्यं वस्तु नवोदेति समन्तान्नित्य नित्यद्रव्यविशेषैक मयत्वात् ॥7 ॥

नित्यं किं हि स्यात् क्षणभङ्गिव्यतिरिक्तं नित्यादन्य: स्यात् क्षणभङ्गी ।
कतरोऽत्र नित्यावृत्तीस्थान्न विनांऽशै: क्षणिकै: स्वैर्नित्यावृत्तिं स्युर्नविनाशाक्षणिकास्ते ॥8 ॥

नित्यानित्यौ द्वौ सममन्योनयविरुद्धो सङ्गच्छाते तैः त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने नित्यम्।
द्रव्यनित्यमनित्याव्यतिरिक नित्यानित्यो न्यायत एवास्यु भयात्मा ॥9॥
स्वद्रव्याद्यैः स्फूर्जसि भावस्त्वमिहान्यद्रव्याद्यैस्तु व्यक्तमभावः प्रतिभासि।
भावाभावो वस्तुतयाशसिसमन्ताद् भावाभावाणैक्यमुपातीय कृतो यत्॥10॥
भवाद् भिन्नः कीदृगभावोऽत्र विधेयो भावो वा स्यात् कीदृगभावेन विनाऽसौ।
नौ वस्त्वांशौ द्वौ स्वपराभ्यां समकालं पूर्ण शून्यं वस्तु किलाभित्यविभात ॥11॥
भावाभावौ द्वौ सममन्योर्न्यविरूद्धौ सङ्गच्छातं तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने।
भावः स्वांशव्यक्तमभावस्तु पराशाद् भावाभावो न्यायत् एवास्युभयात्मा ॥12॥
सर्व वाच्यं द्यात्मकमेतत्क्रमतः स्याद्देवावाच्यं तद्युगपद वक्तुमशक्तेः।
तौ पर्यायौ द्वौ सह विभ्रद्भगवंस्त्वं वाच्यावाच्यं वस्त्वसि किञ्चिज्जगतीह ॥13॥
वाच्यादन्यत किञ्चिदवाच्यं न हि दृष्टं वाच्यं चैत्यत्रेष्टमवाच्य व्यतिरिक्तम्।
वागाश्रित्य स्वक्रमवृत्य ङ्गमवृत्ती वस्तु द्यात्मकं हि गुणीयात्र गृणीयात्॥14॥
वाच्यावाच्यौ द्वौ सममन्योन्यविरूद्धौ सङ्गच्छाते तौ त्वयि वृत्तौ भिन्ने।
वाच्यौ व्यस्तौ व्यक्तमवाच्यस्तु समस्तो वाच्यावाच्यो न्यायत एवास्तुभयात्मा ॥15॥
सोऽयं भावः कर्म यदेतत् परमार्थाद्धते योगे यद्भनेन क्रियमाणम्।
शुद्धोभावः कारकचक्रे तव लीनः शुद्धे भावे कारकचक्रं च निगूढम्॥16॥
जातं जातं कारकभावेन गृहीत्वां जन्य कार्यतया स्वं परिणामम्।
सर्वोऽपि त्वं कारणमेवास्यसि कार्य शुद्धो भावः कारणकार्याविषयोऽपि ॥17॥
वलान्त्वन्ये ज्ञाननिमित्ततत्वमुपेनि बाह्यो हेतुर्हेतुरिहान्तर्न किल स्यात्।
स्वस्मादेवो जृम्भितविद् वार्यविशेषाजातो विश्वव्यापक विज्ञानधन स्त्वम्॥18॥
अन्यः कर्ता कर्म किलान्यत् स्थितिरेषा यः कर्ता त्वं कर्म तदेवास्याविशेषात्।
देवाकार्षीस्त्व किल विज्ञानधनं यः सोऽयं साक्षात् त्वं खलु विज्ञानधनोऽसि॥19॥

विष्वग्व्याप्यः सत्यविशेषे स्वगुणानां देवाधारस्त्वं स्वयमाधेयभरोऽपि।
एकाधाराधेयतयैव ज्वलितासि नेनैवोच्चैर्वल्गसि विज्ञानघनोऽयम् ॥20॥
आत्मा मातामेयमिदं विश्वमशेषं सबन्धेऽस्मिन् सत्यपिनान्योन्यगतौ तौ।
प्रत्यासत्तिः कारणमैक्यस्य न [illegible] विभिन्ने ॥21॥
यः प्रागासीर्वित्स्यदपेक्षः खलु सिद्धः प्रत्युत्पन्नः सम्प्रति सिद्धोऽसि स एव।
प्रत्युत्पनायतेऽवराक्तिरिहासीद् या भूतापेक्षा सम्प्रति ते सा किल रक्तिः ॥22॥
एकं भावं शाश्वतमुच्चैरभिषिञ्चन् भूत्वाभूत्वा त्वं भवसीस स्वयमेव।
एतद्भूत्वा यद्भवनं पुनरन्यन्न तत् त्रैकाल्यं सङ्कुलयन् त्वा मनुयाति ॥23॥
एकः साक्षादक्षरविज्ञानघनस्त्वं शुद्धः शुद्धस्वावयवेष्वेव निलीनः।
अन्तर्मज्जद्दृक्सुखवीर्यादिविशेषैरेकोऽप्युद्गच्छसि वैचित्र्यमनन्तम् ॥24॥
अध्यारूढोऽन्योन्यविरुद्धोतधर्मैः स्याद्वादेन प्रविभक्तात्मविभूतिः।
स्वामिन् नित्यत्वं निजतत्त्वैकपराणां
किञ्चिद्दत्सेऽत्यन्तमगाधोऽप्यवगाहम् ॥25॥

पाठ—१८

"मत्तमयूरच्छन्द"

प्रारम्भ से यह आत्म ज्योति द्वयात्मक है । कर्म आत्मा की संयोगी दशा होने से अत्यन्त अद्भुतकिले में निहित है । बन्दीखाने में बन्द हो रही थी। ज्ञानशक्ति के उत्तेजित योग-संयोगदशा असिद्ध दृष्टिगत हुयी । उसी प्रकाशमान ज्योति से महामोहांधकार को ध्वंस-नष्ट कर दिया । निर्दयता-कठोरभाव से अन्तःकरण को भेदनकर स्व तत्त्व को साक्षात् प्रकट किया । इसी अनन्त प्रकाशमयी तत्त्व,मैं आप में देखता हूँ ।। १ ।।

आपका यह एकरूप अनेक पर्यायों को अपनी महिमा में सन्निहितकर एकरूप प्रतिभासित होता है । आपके इस अगम्य महिमा युक्त आत्मतत्वको जो अनेक पर्यायों में एकत्व लिए भावात्मक आत्मैक रूप है, इसे सामान्य व्यक्ति नहीं समझ सकता । अपितु जिसकी सूक्ष्मतत्व निरीक्षण निष्णात बुद्धि है उसका ही यह आपका एक तत्त्व विषय हो सकता है । अभिप्राय यह है कि सामान्य-विशेष धर्मों के स्वरूप का विशेष ज्ञाता ही समझ सकता है ।। २ ।।

हे जिन! आपके सिद्धान्त में अपने विशेषों (पर्यायों) के बिना अकेला सामान्य प्रतिभासित नहीं होता । इसी प्रकार सामान्य विहीन केवल विशेषों का भी अस्तित्व प्रतिभासित नहीं होता । अतः जो सामान्य तत्व प्रकटित होता है, वही विशेष स्वरूप भी है । सामान्य-विशेष एक आत्मतत्त्वाश्रय से ही रहते हैं । क्योंकि आपका सिद्धान्त सामान्य विशेषात्मक ही वस्तु तत्व स्वीकृत करता है । जहाँ सामान्य है, वहीं विशेष भी रहते हैं सापेक्ष दृष्टि से ।। ३ ।।

द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से विचार करने पर द्रव्य नित्यरूप से एक प्रतीत होता है। वही वस्तु तत्त्व पर्यायार्थिक दृष्टि से विवेचित किये जाने पर अनेकपने से स्फुरायमान होता है। यह एकानेक रूप वस्तुतः द्रव्य और पर्यायों के समाहारमय आत्मा के कारण ही प्रतिभासित होते हैं। आत्मा और द्रव्य, पर्यायों में प्रदेश भेद नहीं है, मात्र संज्ञा, लक्षणादि से भेद हैं। अतः उभय धर्मों का एक ही तत्त्व में निर्विवाद और निर्विरोध सिद्ध हो जाता है ॥ ४ ॥

किसी भी पदार्थ या तत्त्व में अनेक बिना एकत्व और एकत्व रहित अनेकत्व नहीं देखा गया। सभी वस्तुएँ एकानेक के समुदायरूप प्रतीत होती हैं। अपने ही अवयवों में एक और अनेक रूपता लिए ही वस्तु शोभित होती है ॥ ५ ॥

यद्यपि एक और अनेकपना परस्पर विरुद्ध दृष्टिगत होता है। परन्तु आपके सिद्धान्त पथ में दोनों ही अविरोध हुए प्रतिभासित ही होते हैं। अव्यतिरेक दृष्टि की अपेक्षा अनेकों में एकत्व और व्यतिरेकापेक्षा एकत्व में अनेकत्व प्रामाणिक सिद्ध होता है। न्यायोचित रूप से दोनों व्यवस्थित हो निवास करते हैं। कारण, इनमें प्रदेश भिन्नता नहीं है। अतः एकत्व और अनेकत्व एक ही काल में एक वस्तु में अविरुद्ध सिद्ध होते हैं ॥ ६ ॥

जब नित्यत्वपने से द्रव्य की सिद्धि की जाती है, उस क्षण अनेक रूप पर्यायें क्षणिक होने से सुसुप्त रहती हैं। अर्थात् गौण हो जाती हैं। जिस क्षण विशेष-पर्यायों से विशिष्ट द्रव्य मीमांसा को प्राप्त होता है तो नित्य एकत्व अस्त हो जाता है अनेकत्व जाग्रत रहता है। इस प्रकार द्रव्य-पर्यायात्मक दृष्टियों से उभय धर्म सिद्ध हो जाते हैं ॥ ७ ॥

नित्यत्व या एकत्व अङ्गि है और क्षणिकत्व या पर्यायरूप अनेकत्व अंग या अवयव हैं। अवयवों के अभाव में अवयवी एकत्व रह

सकेगा ? नहीं रह सकता । इसी प्रकार नित्यत्व व एकत्व के अभाव में अवयव रूप अनेकपना किस प्रकार स्थित होगा ? नहीं हो सकता । दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । क्षणिक-विनाशीक पर्यायरूप अवयवों के अभाव में नित्यत्व एकत्वरूप अवयवी कितना टिकेगा और अवयवरूप क्षणभंगुरपर्यायों के अभाव में अङ्गी-अवयवी भी स्थित नहीं रहेगा । अतः एक दूसरे में अपने अस्तित्व की वृत्ति से ही दोनों का अवस्थान संभव है । अतः गुणपर्यायमयी द्रव्य सिद्ध है । अन्वय-व्यतिरेक स्वरूप ही वस्तु तत्त्व नियत है । अतः यही वास्तविक स्थिति है ॥ ८ ॥

हे जिन ! एक समय में एक ही वस्तु में नित्य और अनित्य पना परस्पर विरुद्ध होते हुए भी आपके सिद्धान्त में वे दोनों अपने-अपने अस्तित्व को लिए समन्वयरूप से प्रकाशित-प्रकट रहते हैं । द्रव्यत्व पने से द्रव्य नित्य है और स्पर्श अपेक्षा अनित्य है यह न्यायोचित व्यवस्था अविरुद्ध सिद्ध हो जाती है ॥ ९ ॥

स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल व भावापेक्षा वस्तु सद्रूप प्रतिभासित होती है । एवं अन्य द्रव्य-क्षेत्र, काल भावापेक्षा से असद् पना भी उसी में निहित दृष्टिगत होता है । वास्तविक रूप से सत्ता-असत्ता पूर्णतः एक साथ रहती ही हैं । क्योंकि भावाभाव एक साथ एक पदार्थ में ही प्रतिष्ठित रहते हैं । यही वस्तु के अस्तित्व को सिद्ध करने वाली व्यवस्था है ॥ १० ॥

कर्म कालिमा आत्म द्रव्य से भिन्न है । इस प्रकार समझना चाहिये । यदि आत्मद्रव्य कीट्-कालिमामय हो तो इसके अभाव बिना भी यह स्व-स्वभाव रूप ही जायेगी । अतः शुद्धात्मा-अशुद्धात्मा ये दो आत्म द्रव्य के अंश है - भेद हैं । इनकी सिद्धि स्व-पर की अपेक्षा से होती है । अतः दोनों धर्म समकाल में पूर्ण माने जायेंगे तो वस्तु को शून्यता प्राप्त होगी, आश्रयी का अभाव होने से । शुद्धाशुद्ध दशा एक काल में नहीं है ॥ ११ ॥

सद्भाव और असद्भाव दोनों ही आप में एक दूसरे से अविरोधी सिद्ध होते हैं एक ही समय में । आपमें दोनों धर्म एक साथ रहते हैं कारण भिन्न-भिन्न होने से । क्योंकि सत्ता अपने स्वभावांशों की अपेक्षा हैं, और असद्भाव परकीय अंशों की अपेक्षा है । अतः सापेक्ष न्याय या सिद्धान्त से आत्मा उभयात्मक प्रत्यक्ष सिद्ध है । इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य भी उभय धर्मात्मक ही हैं ॥ १२ ॥

इससे स्पष्ट है कि सभी वाच्यभूत पदार्थ क्रमशः द्वय धर्मात्मक हैं या रहेंगे । क्योंकि दोनों धर्मों को युगपत् नहीं कह सकते । वचनों में दो विरोधी धर्मों का एक साथ कथन करने की योग्यता का अभाव है । हाँ! ये पर्यायें दोनों सहवर्ती रहती हैं ऐसा हे भगवन् ! आपका सिद्धान्त हैं । अतः आपने बतलाया कि इस संसार में सभी वस्तुएँ वाच्य और अवाच्य हैं अपेक्षाकृत । अर्थात् कथंचित वाच्य हैं और कथंचित् अवाच्य भी ॥ १३ ॥

एकान्तपने से वाच्य से सर्वथा भिन्न अवाच्यपना नहीं है और इसी प्र-अवाच्य के अभाव में वाच्य पना भी सिद्ध नहीं देखा जाता । क्यों कि वाचक रूप शब्दों की स्व क्रम से और परापेक्षा पर क्रम से द्वयात्म शक्तियों का निरूपण करने की ही योग्यता है । अतः द्वयात्मक ही वस्तु ग्रथित है, अन्य प्रकार नहीं ॥ १४ ॥

वाच्यता और अवाच्यता इन दोनों धर्मों से सम्पन्न वस्तु विरुद्धता को भी प्राप्त होती हैं । यह आपके सिद्धान्त में निरूपित है । क्योंकि दोनों का मार्ग-स्वभाव या अपेक्षा भिन्न-भिन्न है । भेद विवक्षा में वस्तु व्यक्त होती है अतः वाच्यरूप है-कथन योग्य है । वही वस्तु सामान्यापेक्षा-पिण्डरूप में अवाच्य है । इसी न्याय से ही वस्तु वाच्य और अवाच्य से उभयात्मक ही सिद्ध होती है ॥ १५ ॥

अतएव यह आत्मा तत्त्व अपने उपार्जित कर्म को परमार्थपने से धारण करता है । क्योंकि दोनों (पूर्वार्जित कर्म और आत्मभावों) के द्वारा ही उपार्जित किये जाते हैं । परमशुद्धभाव अभेदरूप कारकचक्र अपेक्षा में आप में लीन होते हैं । क्यों कि शुद्धभाव में ही अभेदरूप से कारकचक्र निहित रहता है । अर्थात् आत्मा ही आत्मा को आत्मा के द्वारा, आत्म के लिए, आत्मा से, आत्मा में कर्मों का संचय व विनाश करता है ।। १६ ।।

कारकचक्रीय स्वभाव को प्राप्त हो होकर तद्रूप से कार्यरूप कर्मों का स्वयं आत्म परिणाम हैं । इस प्रकार तुम ही कारणरूपता को प्राप्त होते हो । अर्थात् आत्मा ही कारण है, कर्मरूप कार्य की । क्योंकि शुद्धात्मा का शुद्धभाव भी इसी प्रकार कारण-कार्य रूपता को प्राप्त होता है । यद्यपि कारण-कार्य भाव उसका विषय है नहीं । अर्थात् शुद्धनिश्चय नय से शुद्धात्मा का कर्मों के साथ कारण-कार्यभाव नहीं है । परन्तु व्यवहार नयापेक्षा अशुद्धात्मा का कारण-कार्य भाव सुप्रसिद्ध है । यही अपेक्षा वाद सिद्धान्त का विषय है ।। १७ ।।

अपने ही शुद्ध ज्ञान के निमित्त से उत्पन्न शुद्ध ज्ञान चेतना को प्राप्त हुआ आपका आत्मतत्त्व आपमें ही तद्रूपता से उत्तरोत्तर विकासोन्मुख होता हुआ परम शुद्धावस्था प्राप्त करता है । यहाँ पर बाह्य निमित्त हेतु नहीं होते, अपितु निश्चय से निजभावोत्थ परिणाम ही निमित्त रहते हैं । क्योंकि ज्ञानस्वभावभूत आत्मा अपने ही ज्ञानभाव से ज्ञातृत्वपने से विस्तार को प्राप्त होती है । विशेषभावों को गौण कर सामान्य से सर्वव्यापी ज्ञानघन रूप ही आपका शुद्धात्म तत्त्व प्रकट विराट रूप में प्रकाशित होता है ।। १८ ।।

उपर्युक्त सिद्धान्त से कर्ता भिन्न है, तथा निश्चय ही कर्म भी भिन्न ही हैं । यही कर्ता-कर्म की स्थिति है । आप कर्ता हैं, तदेव उसी प्रकार कर्म भी आपके हैं यह कथन सामान्यापेक्षा है । हे देव ! आप विज्ञानघन स्वरूपता को करते हैं, क्योंकि जो विज्ञानघनस्वरूपता है, वही साक्षात निश्चय से आप हैं । अतः जिनेश्वर ! आप विज्ञानघन रूप शरीर धारी ही हैं । कारण स्व स्वभाव स्थिति में इसी के कर्त्ता प्रतिभासित होते हैं ॥ १९ ॥

हे देव ! आप साक्षात् अपने ही निजगुणों के आधार हैं, उसी प्रकार स्वयं गुणस्वभावसे आधेय भी हैं । असामान्यापेक्षा-अविशेषावस्था में आप अपने ही स्वभावतत्त्व में सर्वव्यापी हो । कारण शुद्ध ज्ञानचेतना में इसी प्रकार आधार आधेय भाव स्पष्ट सिद्ध हो जाज्वल्यमान प्रकाशित होता है । उसी कारण से यह विज्ञानघन स्वभाव प्रखर रूप से ज्योतिर्मय हुआ प्रकाशमान हुआ स्पष्ट अपना वैभव प्रकाशित करता है ॥ २० ॥

आत्मा ज्ञाता होने से सम्पूर्ण विश्व को मापने वाला है और स्वयं "मेय" मापने योग्य भी है । इसी प्रकार समस्त विश्व इसमें समाहित है । इस प्रकार की प्रत्याशक्ति होने पर भी कारण-कार्य में एकत्त्व स्थापित करने में समर्थ नहीं है । क्योंकि यह निकटवर्तीसान्निध्यता कथंचित् रूप से अर्थ की वाचक है, अतः एकता के साथ अनेकत्व को भी लिए है । इसीसे मापक और माप्य में सर्वथा एकपना नहीं-भेद रूपता रहती है क्योंकि दोनों में जातीय भेद हैं अर्थात् दोनों विजातीय हैं ॥ २१ ॥

तत्त्व सदैव त्रैकालिक सत्ता सम्पन्न होता है। आत्मा भी तत्त्व होने से त्रिकालवर्ती सत्ता लिए है। जो आत्मतत्त्व पहले पूर्व पर्याय में था, वही आगे भविष्य में अन्य पर्याय रूप होगा तथा वही अपने स्वभाव परिणमन से वर्तमान में वर्तन कर रहा है। यही अकाट्य, अबाध सिद्धान्त है। जो कि प्रत्येकवस्तु के सदृश आत्म तत्त्व भी अपने द्रव्य, गुण, पर्यायों से अभिन्न रहते हुए त्रैकालिक पर्यायों में परिणमन करते हुए भी अपने शुद्ध स्वरूप के साथ अन्वयरूप से वर्तन करती है। तीनों कालों से संकलित होते हुए भी अपनी प्रकृति का उल्लंघन नहीं करती ॥ २३ ॥

आत्म तत्त्व अपने ही शुद्ध स्वभाव में विलीन रहते हुए सतत एक अविनाशी ज्ञानघन में प्रत्यक्ष प्रकाशित होता है तथा निजस्वभाव रूप अवयवों, अनन्तपर्यायों में मिश्रित होकर भी एक, अविनाशी, अखण्ड, ज्ञानघन ज्योतिरूप प्रत्यक्ष भासता है। तथैव अपने अन्तरंग स्वभाव भूत अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्तवीर्य में तन्मय होकर अनन्तचतुष्टयरूप अनेक विशेषों से तन्मय हुआ एक भी अनेकरूपों को लिए-अवगाहित कर एक रूप से उच्च रूप उद्भासित होता है। आत्मा अनन्त पर्यायों का पिण्डरूप एक है क्योंकि इन सबको प्रकाशित करने वाली एक मात्र ज्ञान प्रभा ही है ॥ २४ ॥

भो स्वामिन् ! आपका आत्मत्व अनेकों विरुद्ध धर्मों के द्वारा अन्योन्य में अवगाहित होकर भी आपके स्याद्वादसिद्धान्त द्वारा नाना रूप वैभव सम्पन्न है। तो भी एक, नित्य अपने ही स्व तत्त्व स्वरूप परायण, कथंचिद् अत्यन्त अगाधरूप में अवगाहन करता है। आप इसी स्वभाव में अवस्थित हो अवभासते हैं। इस प्रकार निज में अवगाहन, अवग्राही शक्तियों से सम्पन्न अद्भुत राजते हो ॥ २५ ॥

●

अध्याय 19

वियौगिनीच्छन्द

अजरः डः पुरुषो जिन स्वयं सहजज्योतीरजय्य विद्भरः।
अयमद्भुतसत्यवैभवस्त्वमासिव्यात्मकदृष्टीगोचरः ॥1॥

न पराश्रयणं न शून्यतां न च भावान्तरसङ्करोऽस्तिते।
यहसङ्ख्यनिजप्रदेश कैर्विहितो वस्तुपरिग्रहः स्वयम् ॥2॥

यदमूर्त इति स्फुटोदयं सहजं भाति विशेषणं विभेः।
तदिहात्मपरायणो भवान् सह भेदंसमुपैति पुद्गलैः ॥3॥

चिदिती शयिशेषणं दधत्सहजं व्यापिकुतोऽप्यबाधितम्।
उपयासि भिदामचेतनैरखिलैस्खे सपं समन्नत ॥4॥

विशदेन सदैव सर्वतः सहजस्वानुभवेन दीव्यतः।
सकलैः सह चेतनान्तरैरूदितं दूरामिदं नभवान्तरम् ॥5॥

निजभावभृतस्य सर्वतो निजभावेन सदैव तिष्ठतः।
प्रतिभाति परैरखण्डित स्फुटमेको निजभाव एव ते ॥6॥

अजडादिविशेषणैरयं त्वमनन्तैर्युगपद्विशेषितः।
भवसि स्वयमेक एव चेत् प्रकटा तत्तव भावमात्रता ॥7॥

त्वमुपर्युपरि प्रभो भवन्निदमस्तीत्यविभिन्न धारया।
अविभावितपूर्व पश्चिमः प्रतिभासि ध्रुव एव पश्यताम् ॥8 ॥
अयमेकविशेष्यतां गतस्त्वमनन्तात्मविशेषणश्रजः।
प्रभवन्नविमुक्तधारया भगवन् भासी भवन्निरन्तरः ॥9 ॥
अजादिविशेषणैर्भृता निजधारा न तवैति तुच्छताम्।
भजडादि विशेषणा नि न क्षयमायान्ति धृतानि धारया ॥10 ॥
अजडादिविशेषणानि ते परतो भेदकराणि न स्वतः।
दधतः स्वयमद्वयंसदा स्वमसाधारणभावनिर्भरम् ॥11 ॥
अजडाद्यविभागतः स्थितस्तवभावोऽयमनंश एकक:।
अजडाद्यविभागभावनादभुभूतिं समुपैति नान्यथा ॥12 ॥
भवनं भवतो निरङ्कुश सकला भाष्टि सकारकाः क्रियाः।
भवनं दुयतामवाप्यते क्रियया नैव न कारकैरपि ॥13 ॥
भवने भवतो निरङ्कुशे लसेत कारणकार्यविस्तरः।
न किलाभवनं करोति तत् क्रियतेऽभाभवनं च तनन ॥14 ॥
भवतीति न युज्यते क्रिया त्वयि कर्मादिकरम्बितोदया।
भवनेकविभूतिभारिणः स्तव भेदो हि कलङ्ककल्पना ॥15 ॥
अजडादिमयः सनातनो जिनभावोस्यवकीर्णकश्मलः।
अयमुच्छलदच्छचित् प्रभाभरमग्नस्वपरक्रमाक्रमः ॥16 ॥
भगवन्नवकीर्णकलो यदि भावोऽसि विभामयः स्वयम्।
तदयं स्वयमेव विस्फुरन्नविमोह समुपैषि कुमचित् ॥17 ॥
स विभाति विभामयोऽस्ति यो न विभायादविभामयः चित्।
वनु सर्वमिदं विभाति यत् तदियं भाति विभैव निर्भरम् ॥18 ॥

इदमेव विभाति केवलं न विभातिदमिति कल्पना।
इदमित्यमुना विभाति तव द्वितयं नास्ति जिन विभागकृत् ॥19॥
सहजा सततो दितासमास्व समक्षा सकला निराकुला।
इसमद्भुत धाममालिनी ननु कस्यास्तु विभा विभावरी ॥20॥
विधिवद् दधती स्ववैभवाद् विधिरूपेण निषेधमप्यसौ।
परिशुद्धचिदेकनिर्भरा तव केनात्र विभा निषिध्यते ॥21॥
अमितः स्फुटितस्वभावया च्युत दिक्काल विभागमेकया।
विभया भवतः समन्ततो जिन सम्पूर्णमिदं विभाव्यते ॥22॥
न खलु स्वपरप्रकाशने मृगयेताऽत्त विभाविभान्तरम्।
भवतो विभयैव धमितत्न झमतः कृत्स्नमिदं प्रकाशते ॥23॥
अनया विचरन्ति नित्यशो जिनये प्रत्ययमात्रसत्तया।
सकलं प्रतियन्ति ते स्वयं न हि बोधप्रतिबोधकः चित् ॥24॥
अभितोऽनुभवन् भवद्विभामहमेषोऽस्मि मुहुर्मुहुः समः।
जिनेया वदुमैपि पुष्कलं सस्वमनन्तस्व विभामयं स्वयम् ॥25॥

पाठ-१९

"वियोगिनीच्छन्द"

हे जिन ! आप जरा विहीन, ज्ञान ज्योति स्वरूप आत्मा को प्रतिपादित करने वाले हो । यह स्वयं अपनी ही प्रभा-शक्ति से परिपूर्ण अजेय ज्ञान शक्ति से भरा है । यह आत्मा का अत्यन्त विलक्षण, आश्चर्यकारी, सत्यस्वरूप है । हे प्रभो आप निश्चय-व्यवहार अथवा द्रव्य-पर्याय रूप उभय दृष्टि से ज्ञातव्य हैं ॥ १ ॥

यह आत्म तत्त्व पराश्रित नहीं है, शून्यरूप भी नहीं है तथा अन्य पदार्थान्तरों से मिश्रित भी नहीं है, ऐसा आपका सिद्धान्त सिद्ध करता है । फिर है कैसा ? अपने ही असंख्यात प्रदेशों के द्वारा खचित-निर्मित, उन्हीं रूप है । वस्तु स्वयं उन्हीं से तन्मय हुआ अपने अस्तित्व से सिद्ध है ॥ २ ॥

इस प्रकार असंख्यात प्रदेशी होकर भी अमूर्त व एक स्वभावी आत्मा है । परन्तु इस प्रकार स्वाभाविकरूप से उदय को प्राप्त होकर भी अनेकों विशेषणों से शोभायमान होता है । अतः आत्मनिर्भर होते हुए भी आप पुद्गल के साथ संयोग कर भेदरूपता भी उपदिष्ट करते हो ॥ ३ ॥

हे ईस ! पुरुष-आत्मा 'चित्' इस स्वाभाविक विशेषण स्वरूप को धारण कर अपने ही स्वानुभव-संवित्ति के बल से दीप्तिमान हुआ, भास्वर होता है । अपने ही चेतना स्वरूप में व्याप्त हुआ निर्विरोध सिद्ध है । अचेतन पौद्गलिक कर्म से सम्मिश्रित हुआ अनेक भेद रूप समुन्नत हुआ प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

स्वाभाविक स्वानुभूति रचानुभूति द्वारा सदैव अत्यन्त स्पष्ट रूप से दैदीप्यमान होता है । चेतना से भिन्नभूत पुद्गल के साथ मिलकर इससे भिन्न हो अपने स्वरूप से अत्यन्त भिन्न सा उदय होता है । संयोग का यही स्वभाव है कि वह स्वयं के साथ संयोगी को भी विलक्षण कर देता है । दो स्वतंत्र पदार्थों का मिश्रण संयोग सम्बन्ध कहलाता है । यह संयोगी दशा दोनों ही पदार्थों के शुद्ध स्वरूप को तिरोहित कर अन्य ही विलक्षण स्वरूप प्रकट करता है । जड़-चेतन का संयोगी रूप भी दोनों स्वभावों से एक विलक्षण ही स्वभाव से अवभासित होता है ।। ५ ।।

अपने स्वभाव से भरित पदार्थ सदैव सर्व प्रकार से अपने ही भावों से अवस्थित रहता है । ये ही निज स्वभाव भाव ही परभावों से मिश्रित हो अखण्ड-एकरूपता धारण कर उसी प्रकार मिश्रित रूप स्पष्ट प्रतिभासित हो दृष्टिगत होते हैं ।। ६ ।।

चैतन्यरूप अनन्त विशेषणों से विशिष्ट हुआ आत्मा एक साथ युगपद एक रूपता से ही प्रतिभासित होता है । जिस समय एक चैतन्यभाव से प्रतिभासित होता है तो एक निज भाव ही-ज्ञान दर्शन रूप से चमत्कृत होता है ।। ७ ।।

हे प्रभो ! आप उत्तरोत्तर विकासोन्मुख होते हुए भी यह है, यह है इस प्रत्यय से अभिन्नता लिए प्रतीत होते हो । एक ही द्रव्य होते हुए भी यह पूर्व-पहली पर्याय है और यह उत्तर रूप है । इस प्रकार पूर्वापर भाव से भिन्नत्व भी प्रतिभाषित होता है । यही उत्पाद-व्यय धर्म ध्रौव्यता को लिए ही संभवित है । अतएव तत्त्व उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त ही होता है ।। ८ ।।

इस प्रकार एक ही विशेष्य अपने अनेक विशेषणों से युक्त हो अनेक रूपता को प्राप्त होता है । परन्तु यह उत्पाद अपने विनाश व ध्रुवत्व से सर्वथा भिन्न हो प्रतिभासित नहीं होती, अपितु अभिन्न धारा से निरन्तर प्रवाहित होती हुयी परिलक्षित होती है । हे भगवन् ! यह आपका सिद्धान्त अबाधित प्रामाणिक सिद्ध है ।। ९ ।।

अपने चैतन्य विशेषण से परिपूर्ण भरी यह चैतन्यधारा कभी भी शुष्क नहीं होती, अर्थात् स्वभाव का परित्याग नहीं करती । यह ज्ञानरूप चित् विशेषण की धारा, अविरल रूप से चलती ही रहती है, कभी भी क्षय नहीं होती है । इसका प्रवाह अजस्र चलता रहता है ।। १० ।।

आत्मा के चैतन्य विशेषण में जो भेद होते है वह पर के निमित्त से होते हैं, स्वतः स्वभाव से नहीं होते । अपने स्वभाव से तो सदैव ही एक स्वभाव-अद्वयभाव से ही प्रसिद्ध रहती है । कारण यह अपने असाधारण स्वरूप से अवस्थित रहती है । स्वभाव का स्वभावी से पृथक्करण नहीं हो सकता है अन्यथा स्वभाव व स्वभाववान् अभावरूप या अनवस्थित हो जायेंगे । जो असंभव है ।। ११ ।।

आपके सिद्धान्त में चैतन्यभाव अविभागी एकरूप से अव्यय स्वरूप है । अंश रहित एक है, अखण्ड है । क्योंकि चैतन्य तत्व एक अविभागी रूप ही अनुभव में आता है । अखण्ड-एकरूप ही अनुभव भावना की अनुभूति रूप प्रतिभासित होता है, अन्य भाव से नहीं ।। १२ ।।

सत्ता-अस्तित्व स्वभाव समस्त क्रिया-कारकों का विलोप कर एक मात्र अपने स्वभाव रूप ही अनुभूत होता है । निरंकुश एक रूपता धारण किये हुए एक अद्वितीय अवस्था प्राप्त होती है । उस दशा में न क्रिया परिलक्षित होती है न कारक समूह ही । क्यों एक अखण्ड रूप में भेद नहीं पाया जा सकता है ।। १३ ।।

जब निर्बाधरूप से निरंकुश सत्ता प्रतिभासित होती तब भला कारण कार्य का विलास किस प्रकार शभित हो ? अर्थात् कदाऽपि भेद रूपता विस्तृत नहीं हो सकती । इसी प्रकार अभवन शक्ति भवनरूप क्रिया की कारण नहीं हो सकती । क्योंकि वह अभवनता अभवन रूप ही क्रिया को करेगी । अर्थात् अपने अभाव स्वरूप का ही विस्तार करेगी ॥ १४ ॥

भवनरूप क्रिया अपने में कर्त्तादि कारक समूह को उत्पन्न नहीं कर सकती । क्योंकि वह तो अपने स्वरूप को ही करती हुयी एक ही भवन स्वभाव से भरित होती है । चेतन रूप स्वाभाविक क्रिया चैतन्यभावोत्पादन ही कर सकती है, अन्य भावों को नहीं । क्योंकि अखण्ड एक स्वभाव में भेद रूपता प्रकट करना यह असत्-कलंक है । अर्थात् मिथ्या है । चैतन्य निर्मित भाव चेतना रूप ही होंगे, अन्य प्रकार नहीं ॥ १५ ॥

चैतन्य चिन्मय ज्योति रूप आत्म स्वरूप सनातन है । कर्ममल से मलिन थी । हे जिन ! आपने उस जड़रूप कर्मकालिमा को नष्ट कर शुद्ध स्वरूप प्रकट कर लिया । यह अत्यन्त स्वच्छ, निर्मल अचल प्रभा-ज्ञान किरणें परापर की अपेक्षा से क्रमाक्रम रूप से प्रवर्त रही है । स्व-पर की अपेक्षा से औपचारिक क्रमाक्रम कल्पना है । अन्यथा सदा एक रूप ही भास्वर है और रहेगी ॥ १६ ॥

यदि परम शुद्ध चैतन्य भी मेरे समान ही मिश्र रूप कला कलित हो तो, उसी रूप प्रकाशित होती हुयी रहती । तब तो वह स्वयं स्वभाव से विभाव रूप होने से कभी भी मोह मायांधकार को भी उत्पन्न करती । अतः शुद्धात्म ज्ञान कला से सम्पन्न आप सर्वथा भिन्न हो ॥ १७ ॥

जो प्रकट चिद् प्रभा से भास्वर है वह ज्ञान प्रभा से ही सम्पन्न है । जो ज्ञान प्रकाश ज्योति स्वरूप नहीं है वह इससे भिन्न विभावमयी है । क्योंकि अपने ज्ञानधन स्वभाव रूप सतत-सर्वत्र यह प्रकाशित ही हो रही है । अतः यही इसका वैभव है और इसी अनन्त दिव्य ज्योति से शुद्धात्मा युक्त है परिपूर्ण भरा है-तन्मय ही है ॥ १८ ॥

परम विशुद्ध चेतना ही मात्र प्रकाशमान होती है । चेतना रहे और उसका प्रकाश न हो यहअसत्य कल्पनामात्र है । यह तो अपने ही चैतन्य स्वभाव से सुशोभित होती रहती है । इसका विभाग करने वाला अन्य कोई भी प्रतिद्वन्दी नहीं है अतः यह ही अपने अखण्ड ज्योतिर्मय प्रकाशपुञ्ज स्वरूप है ॥ १९ ॥

चिज्ज्योति निरन्तर उदित रहती है । अपने ही स्व स्वभाव से भरित होती है । प्रत्यक्ष है, सम्पूर्ण कला युक्त है । आकुलता विहीन है । यह अद्भुत आश्चर्य जनक तेज का पुञ्ज है । अतः किसकी शक्ति है जो इसके प्रकाश को मंदकरने वाली रात्रि हो । सूर्य का प्रकाश रात्रिजन्य अंधकार में लीन हो जाता है, परन्तु इसका प्रकाश निर्द्वन्द प्रसरित ही रहता है ॥ २० ॥

निषेध रूप प्रतिपक्षी धर्म के रहते हुए भी चिदात्मा विधिवत् अपने वैभवरूप ज्ञान स्वभाव को ही धारण करती है । परम विशुद्धता को प्राप्त होने पर एक ही ज्ञानभाव भरित होने पर यह आपकी परमोत्कृष्ट आभा किसके द्वारा निषिध्य हो सकती है ? किसी के द्वारा भी नहीं ॥ २१ ॥

समस्त दिशाओं को अपनी असीम, स्पष्ट स्वभाव रूप ज्ञान ज्योति से ज्योतिर्मय कर एकरूप कर रही है । हे जिन ! आपकी करोड़ों सूर्यों को भी तिरस्कृत करने वाली आभा चतुर्दिक व्याप्त है । सम्पूर्ण जगत इसमें व्याप्त है । प्रकाशित हो रहा है ॥ २२ ॥

यह आत्म ज्योति स्व-पर प्रकाशन में परापेक्षा नहीं करती, अपितु स्वयं स्वशक्ति से ही भासुर है । स्व-पर प्रकाश में पर प्रकाश की खोज नहीं करती । बुद्धि शाली पराधीन होना नहीं चाहते । आपका अपना ही ज्ञान वैभव स्वयं सर्वत्र प्रकाशमान रहकर स्व-पर का प्रकाशन करता है ॥ २३ ॥

जिनेन्द्र प्रभु के पारमौदारिक दिव्य शरीर में इस प्रकार यह सम्पूण ज्ञान ज्योति व्याप्त रहती है । निरन्तर विचरण भी करती है । यह ज्ञान मात्र सत्ता निरंतर एक रूप से व्याप्त रहती है । आप में ज्ञान घनरूपता निरन्तर स्वयं अपनी पूर्ण प्रकाश से प्रकाशित हो रही है । ज्ञान का अवरोधी कभी भी विरोधी-प्रतिद्वंदी नहीं है ॥ २४ ॥

अपरिमिति स्वरूप रूप चेतना का अनुभव करते हुए मैं भी तन्मयरूप हो रहा हूँ । आचार्य श्रेष्ठ अपने अनुभव को प्रत्यक्ष दर्शाते हैं । हे भगवन् ! आपकी शुद्ध ज्ञानाभा का बारम्बार चिन्तन कर अपनी अनुभूति में अवतरित होते ही मुझ में भी वही असीम, अनन्त प्रकाशमयी आभा स्वयं प्रकाशित हो रही है। अत्यन्त पुष्ट और व्यापक रूप में प्रकाश मान ज्योतिर्मय ही मैं हूँ इस प्रकार अनुभव होता है । यही होता रहे । यही अभिलाषा है ॥ २५ ॥

●

अध्याय 20

अतत्त्वमेव प्रणिधानसौष्ठवात तवेशतत्त्वप्रतिपत्तये परम्।
विषं वमन्त्योऽप्यमृतं क्षरन्ति यत् पदे पदे स्यात् पद संस्कृता गिरः ॥1 ॥
परापरोल्लेखविनासकृद्बलाद् विलीनदिक्कालविभागकल्पनः।
विभास्यसौ सद्व्यहशुद्धदर्शनात् त्वमीश चिन्मात्रविभूति निर्भरः ॥2 ॥
विशुद्धथति व्याप्तिरसेन वल्गिता अपि स्खलन्त्येऽस्खलिता इवोच्छिरवाः।
निरंशतत्त्वांश निवेशदारुणास्त्वयीश मूर्च्छत्यृजुसूत्रदृष्टयः ॥3 ॥
समन्ततः स्वावयवैस्तव प्रभो विभज्यमानस्य विशीर्णसञ्चयाः।
प्रदेशमात्राऋजवः पृथक्-पृथक् स्फुरन्त्यनन्ताः स्फुटबोधधातवः ॥4 ॥
विशीर्णमाणैः सहसैव चित्कणैस्त्वमेष पूर्वापरसङ्गमाक्षमः।
अनादिसन्तानगतोऽपि कुमाचित् परस्परं सङ्घटना न गाहसे ॥5 ॥
क्षणाक्षयोत्सङ्गितचित्कणावली निकृत्तसामान्यतया निरन्वयम्।
भवन्तमालोकयतामसितं विभाति नैरात्मयर्यमिंद बलात् त्वयि ॥6 ॥
गतो गतत्वान्न करोति किञ्चन्न प्रभो भविष्यन्नपुपस्थि तत्त्वतः।
सनूनमर्थ क्रियेशयुज्यसे प्रवर्त्तमानक्षणगोचरोऽसि ॥7 ॥
क्षणाक्षयस्थेषु कणेषु संविदो न कार्यकालं कलयेद्धि कारणम्।
तथापि पूर्वोत्तरवर्त्ति चित्कणैर्ईबद्धताकारणकार्यता त्वयि ॥8 ॥
गलत्यबोधः ककले कृते बलादुपर्युपर्युद्यति चाकृते स्वयम्।
अनादिरागानलनिर्वृतिक्षणे तवैष निर्वाणमितोऽन्यचित्क्षणः ॥9 ॥

प्रदिपवन्निर्वृतिमागतस्य ते समस्तमेवागमदेकशून्यताम्।
न साहसं कर्म तवेति कुर्वतो मम प्रभो जल्पत एव साहसम् ॥10॥
विचित्ररूपाकृतिभिः समन्ततो व्रजन्निहार्थक्रियया समागमम्।
त्वमेक एषा प्रतिषेधवैभवः स्वयं हि विज्ञानघनोऽवभाससे ॥11॥
न किञ्चनापि प्रतिभाति बोधतो बहिर्विचित्राकृतिरेक एव सन्।
स्वयं हि कुर्वन् जलधारणादिकं त्वमीशकुम्भादितयाऽवभाससे ॥12॥
स्वयंहि कुम्भादितया न चेद् भवान् भवेद्भवेत् किं बहिरर्थसाधनम्।
त्वयीशकुम्भादितया स्वयं स्थिते प्रभो किमर्थं बहिरर्थसाधनम् ॥13॥
त्वदेकविज्ञानघनमिषेधनात् समस्तमेतज्जडतां परित्यजत्।
अभिन्नवैचित्र्यमनन्तमर्थकृत पृथक पृथग्बोधतयाऽवभासते ॥14॥
त्वयीशविज्ञानघनौघघस्मरे स्फुटीकृताऽशेषविशेषसम्पदि।
स्फुरत्यभिव्याप्य समं समन्ततो बलात् प्रवतो बहिरर्थनिह्नव ॥15॥
तदेव रूपं तव सम्प्रतीयते प्रभो परापोहतया विभासि यत्।
परस्य रूप तु तदेव यत्परः स्वयं तवापोह इति प्रकाशते ॥16॥
अभाव एवैष परस्पराश्रयो व्रजत्यवश्यं स्वपरस्वरूपताम्।
प्रभो परेषा त्वमशेषनः स्वयं भवस्य भावोऽल्पधियाम गोचरः ॥17॥
इनीदमत्यन्यमुपप्लवावहं सदोद्यतस्यान्यदपोहितुं तव।
स्फुरत्यपोहोऽयमनादिसन्तति प्रवृत्ततीव्रभ्रमभिद्विपश्चिताम् ॥18॥
परस्परापोहतया त्वयि स्थिताः परेनकाञ्चिज्जनयन्ति विक्रियाम्।
त्वमेक एव क्षपयन्नुपप्लवं विभोऽखिला पोहनयाऽवभाससे ॥19॥
गतं तवापोहतया जगयं जगत्मयापोहतया गतो भवान्।
अतो मनस्त्वं सुगतस्तथागतो जिनेन्द्रसाक्षादगतोऽपि भाससे ॥20॥

समन्तमन्तश्च बहिश्च वस्तु सत् प्रसह्य निहुत्यनिङ्कुशा सती।
न किञ्चिदस्तीति समस्तशून्यतामुपेयुषी संविदिहावभासये ॥21॥
उपप्लववायोच्छलिताः समं बलात् किलेशशून्यं परिमार्ष्टि कल्पनाः।
किं कियत् केन कुतः कथं कदा विभातु विश्वेऽस्तमिते समन्ततः ॥22॥
समस्तमेतद्भ्रम एव केवलं न किञ्चिदस्ति स्पृशतां विनिश्चयात्।
पिपासवोऽमि मृगतृष्णिकोदकं श्रयन्ति नूनं प्रतिमा भ्रमाश्रमम् ॥23॥
इतीदमुच्चावचमस्तमाप्नुयात् प्रसह्य शून्यस्य बलेन सर्वतः।
न किञ्चिदेवात्र विभोऽवशिष्यते न किञ्चिदस्तीत्यवशिष्यतेतुधीः ॥24॥
वयस्य विश्वास्तमयोत्सवे स्पृहा स वेत्ति विर्निक्ततमं न किञ्चनः।
असीमविश्वस्तमयपमार्जितो प्रवेश्य शून्ये कृतिनं कुरुष्व माम् ॥25॥

पाठ २०

हे ईश ! ध्यानविशेष के सौष्ठव जन्य आपकी 'स्यात्' पद से अलंकृत स्याद्वाद वाणी अद्भुत चमत्कारी है जो 'सर्वथा अभाव' रूप तत्त्व मानते हैं उनका खण्डन कर अभाव को भी सत् रूप स्वीकार करती है । अतत्व को भी तत्व सिद्ध करती है । वास्तव में विष वमन करने वाले मिथ्या वादियों को भी प्रतिपद-क्षण-क्षण अमृत प्रवाहित करती है । अतः सर्वकल्याण कारिणी है ॥ १ ॥

हे ईश आप ही सर्वथा शुद्ध चिन्मय वैभव के अधिष्ठाता हो । पूर्ण चैतन्य शक्ति प्रकट सर्वज्ञ हो । कारण आपका अचिन्त्य, अतीन्द्रिय, अचल ज्ञानघनरवि किरणें प्रथम, द्वितीय, आगे, पीछे आदि भेदरूप प्रवर्तन नहीं करतीं । अपितु एक ही समय में एक साथ सकल लोक और कालवर्ती पदार्थों को ग्रहण करती हैं । शुद्ध संग्रह नय दृष्टिगत होने से भासुर होती है । फलतः दिशा, कालादि विभाग कल्पना को अवकाश ही नहीं मिलता । अभिप्राय यह है कि सकल-पूर्णज्ञान काल क्रम दिशा-क्षेत्रादि क्रम से प्रवृत्ति नहीं करता, अपितु एक साथ एक समय में सर्वदर्शी हो सर्व को ज्ञात कर लेता है ॥ २ ॥

हे ईश ! आपका सिद्धान्त संग्रहनय के साथ तत्त्व विवेचना करते हुए तत्त्व के स्वरूप को व्याप्ति रस द्वारा परम शुद्ध एक रूप स्थापित करता है । प्रभावोत्पादक होता हुआ स्वजातीय सर्व तत्त्वों को अपने में समाहित कर गर्जता है और भेदांशों को अस्खलित-एकत्व की शिखा में अन्तर्निहित कर लेता है । फलतः तत्त्वांश को निरंशत्व में प्रविष्ट करा कठोरता से ऋजुसूत्र नय विवक्षा को मूर्च्छित कर देता है । अर्थात् गौण कर देता है ॥ ३ ॥

अपने अशेष अवयवों-तत्वांशों को भिन्न-भिन्न विभाजित किये गये भेदों को एकत्रित करने वाले संग्रह नय को प्रदेशमात्र ग्राही ऋजुसूत्र नय जीर्ण-शीर्ण कर देता है । हे प्रभो ! आपके सिद्धान्त की यही खूबी है कि

सर्वथा एक दूसरे घातक कोई नय दृष्टिगत नहीं होता । उस समय ऋजुसूत्र तत्त्वांशों का भिन्न-भिन्न रूप से अनन्तज्ञान तत्त्व के अनन्त अंशों को बिखेर कर वर्णन करता है । इस प्रकार सञ्चयदृष्टि छिप जाती है । मात्र भेददृष्टि ही उद्घाटित रहती है । समस्त वस्तु अंशों का पृथक्-पृथक् स्वरूप वर्णन करती है ॥ ४ ॥

उपर्युक्त प्रकार की भेददृष्टि अर्थात् प्रदेश मात्र ग्राही ऋजुसूत्र नय की दृष्टि सहसा-अतिशीघ्र चैतन्य कणों को पृथक् पृथक् करने वाला नय पूर्वापर भेद को संघटित करने में सक्षम नहीं होता । क्योंकि इसकी दृष्टि अपने ही अंशासों तक सीमित रहती है । यद्यपि वह संग्रहनय दृष्टि भी अनादि संतति रूप से तत्त्वांशों में व्याप्त हैं । तथाऽपि कभी भी परस्पर एकरूपता को प्राप्त नहीं होती । दोनों नय परस्पर विरोधी न होकर भी स्वतंत्र रूप से अपने अपने ही विषय के ग्राहक होते हैं ॥ ५ ॥

अखण्डपिण्ड-निरन्वय रूप सामान्य दृष्टि द्वारा, वह चैतन्य की चित् कलाएँ (अंश) विद्युतवत् क्षण-क्षण क्षीण होती जाती हैं । हे जिन ! आपकी नैरात्म्य दृष्टि से बलात् यह बात स्पष्ट होती है । उस क्षण आपका सिद्धान्त उन्हीं को अपने निर्मलज्ञान से झलकाते हैं ॥ ६ ॥

हे प्रभो ! आपने उपदिष्ट किया है कि सत् क्षणध्वंशी नहीं है । पर्याय नाशवान हैं । क्योंकि सत् नश्वर मानने पर वह तत्काल नाश को प्राप्त हो जायेगा, फिर 'यह पहले था, यही अब है और भी होगा' यह सिद्धान्त नहीं बनेगा । यही सत्ता की अर्थक्रिया है जो प्रत्यक्ष युक्ति युक्त है । वर्तमान में प्रवर्तन करती हुयी पर्याय क्षण-क्षण प्रत्यक्ष होती दृष्टिगत होती हैं । ये ही ऋजुसूत्र नय की विषय हैं ॥ ७ ॥

क्षण क्षय स्थिति में नाना भेद रूपों में कार्यकाल में ही रहेगा, कारण समय में नहीं रहेगा । तथाऽपि हे जिन आपके सिद्धान्त में तो पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती चैतन्य विशेषों में बलात् कारणकार्यपनास्थित होता ही है । अतः

उभय नयों का स्यात्कार के साथ प्रयुक्त होने से ही व्यवस्था समीचीन सिद्ध होती है ॥ ८ ॥

यदि एकान्त से क्षण क्षय करने में अज्ञान का नाश नहीं बनेगा। अज्ञान नष्ट होता ही है। अतः कार्यकारण भाव मानने पर ही क्रमशः ऊपर-ऊपर उत्तरोत्तर अनादि रागाग्नि का नाश होने पर हे जिन यह अन्तिम चित् शक्ति का क्षण प्राप्त आप ही को हुआ है, इस प्रकार आप ही निर्वाण प्राप्त करने में समर्थ हुए हो यह व्यवस्था बन सकेगी। अतः क्षणस्थायी वस्तु तत्त्व स्वीकार करना ही होगा। इस प्रकार आपने एकान्तवादी बौद्ध सिद्धान्त सयुक्ति खण्डन किया है ॥ ९ ॥

यदि बौद्धसिद्धान्त के समान दीपनिर्वाण वत् मुक्ति का स्वरूप कल्पित किया जायेगा तो हे प्रभो ! आपका समस्त आगम ही शून्य हो जायेगा। परन्तु आगम में आपका सिद्धान्त इसे स्वीकार करने को साहसी उद्यमी नहीं होता। कारण दीप जिस प्रकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मोक्ष होने पर आत्मतत्त्व का भी लोप मानना होगा। फिर ज्ञान, ध्यान, तप करने का उद्यम क्यों किया जायेगा ? परन्तु आचार्य श्री जिनदेव से प्रार्थना करते हैं कि प्रभो ! मेरे अन्तस्थल में तो साहस उत्तरोत्तर उग्ररूप से हो ही रहा है। अतः आपका सिद्धान्त ही समीचीन है ॥ १० ॥

नानारूप से कर्ता की क्रिया समन्ततः प्रवृत्त होती हुयी अर्थ क्रिया करने में समर्थ होती है। यह आगम सिद्ध है। आपका सिद्धान्त ही इस प्रकार अनेकान्त दृष्टि से प्रवर्त होने से एकान्तवाद का निषेध करता हुआ मुक्ति में ज्ञानघन स्वरूप आत्मा ही प्रतिभासित होता है। अतः मुक्तात्मा का अभाव नहीं होता अपितु संसार दशा का अभाव कर शुद्धावस्था में चिच्चमत्कार से घनीभूत हो शोभित होती है ॥ ११ ॥

पर्यायार्थिकनयापेक्षा संसारावस्था में नानारूपता धारण करता हुआ पदार्थ भासता है, परन्तु वही तत्त्व द्रव्यार्थिक नय से एक रूप ही अवभासित होता है। हे ईश आपने उपदिष्ट किया है कि सत् अपेक्षा से द्रव्यनय की दृष्टि जल एक रूप ही है। परन्तु पर्यायापेक्षा भिन्न-भिन्न घटों में भरा हुआ अनेक भेदरूप दृष्टिगत होता है। यहाँ जलधारण क्रिया का प्रयोग है। इसी प्रकार छद्मस्थ दशा में ज्ञान नाना पर्यायों व्यक्तियों में अनेक रूप से प्रतिभासित होता है अर्थात् व्यक्ति नाना पर्यायों में भेद रूप है, परन्तु वही क्षायिक होने पर एक अखण्ड नित्य प्रतीत होने लगता है ॥ १२ ॥

यदि नाना घट गत जल नानारूप नहीं स्वीकृत किया जायेगा तो बाह्य पदार्थों की सिद्धि किस प्रकार होगी ? नहीं हो सकेगी। परन्तु आपका सिद्धान्त उनकी सिद्धि करता है। हे ईश ! आपमें कुम्भगत नीर की भाँति ज्ञान भेद रूप था वही एकरूप में पूर्णता को प्राप्त हो एक रूप हो गया। इसी अपेक्षा को सिद्ध करती है बाह्य पदार्थों की अनेकता। यह एकानेक अवस्था स्वभाव से वस्तु में निष्ठ है। जिसकी अभिव्यक्ति आपका स्यात् चिन्ह चिन्हित स्याद्वाद ही करने में समर्थ है, अन्य एकान्तवाद नहीं ॥ १३ ॥

इसमें ज्ञानाद्वैत सिद्धान्त का खण्डन करते जिन स्तवन आचार्य श्री करते हैं। हे जिन ! आपके सिद्धान्त में भी यदि एकान्त रूप सकल पदार्थ ज्ञान स्वरूप ही हैं ऐसा माना जावेगा तो सर्वत्र जड़ता का अभाव ही हो जायेगा। जो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। अतः आपने इस मान्यता के विरुद्ध सत्य तथ्य उपदिष्ट किया कि पदार्थों के नाना प्रकार भेद नहीं होंगे। क्योंकि एकान्त अभिन्नरूपता स्वीकार किये पृथक्-पृथक् भेद किस प्रकार होंगे ? नानापना स्पष्ट देखा जा रहा है। अतः जड़, चेतनात्मक पदार्थ भिन्न-भिन्न सिद्ध हैं ॥ १४ ॥

हे ईश ! आपने अपने विज्ञानधनस्वरूपी रवि प्रकाश द्वारा सम्पूर्ण विशेषताओं को स्पष्टता से प्रकट किया । यही तो तत्वसिद्धि की सम्पदा है । यह अनेकरूपता सर्वत्र अभिव्याप्य हो के साथ-साथ अपने बल से प्रवृत्त हो पदार्थ की एकरूपता को छुपा देती है । अभिप्राय यह है जिस समय विशेष भेदरूप व्यवहार नय को प्रयोग किया जाता है तो अभेद सामान्य धर्म गौण हो जाता है और विशेष मुख्य रहता है ॥ १५ ॥

हे प्रभो ! आपके सिद्धान्तानुसार यह वही स्वरूप है, इस प्रकार पदार्थ की प्रतीति होती है, वह पर (विशेष) को अपने में अन्तर्लीन कर ही लेती है । पर का स्वरूप उस समय भी वही रहता है जैसा पर है । यह स्वयं उसी के अपोह-निह्नव द्वारा प्रकाशित होता है । अर्थात् सत् (सामान्य) की मुख्यता में विशेष दृष्टि गौण हो जाती है ॥ १६ ॥

हे प्रभो ! इस प्रकार यह अभाव ही परस्पर आश्रय को अवश्य प्राप्त करता हुआ स्व और पर स्वरूपता सिद्ध करता है । सत्ता सद्भाव से असत्ता सद्भाव से सत्ता गौण हो जाती हैं । असत्ता मुख्य । असत्ता में सत्ता मुख्य होती है । विशेषों में स्वयं भव-सत्ता पना के सद्भाव भी आपके ज्ञान गोचर होता है । अतः मुख्य-गौण विवक्षा में उभयता सिद्ध है ॥ १७ ॥

एकान्तिक अपोहवाद स्वीकार करने पर यह निरन्तर विचारज्ञों को आपत्ति या दुर्घटना ही पैदा करने वाला होगा । क्योंकि अन्य का विनाश करता बना रहेगा तो अपोह स्वयं भी अभाव रूप हो जायेगा । इस भ्रम बुद्धि का विनाशक आपके सिद्धान्त में अपोह अनादि सन्तन्ति से चला आया प्रवृत्त होता है । अतः गौण-मुख्य व्यवस्था से अपोह एक दूसरे में भेद सिद्ध करता हुआ ही समस्त विज्ञजन स्वीकार करते हैं । क्योंकि सर्वस्व सर्वथा अपोहरूप होंगे तो रहेगा क्या ? फिर अपोह भी किस प्रकार प्रवृत्ति कर सकेगा ?

क्रियाकारित्व के अभाव में वह भी अभावरूप ही होगा । अतः मुख्य- गौण रूप से ही अपोह सिद्ध है ॥ १८ ॥

हे जिनेश्वर आपके सिद्धान्त में परस्पर अपोहपने से ही किसी एक को पररूप कथन कर उस पर के द्वारा अन्य में विभावता को उत्पन्न करते हैं । अर्थात् सामान्य का अपोह कर विशेषों का और विशेषों का अपोह होने पर सामान्य का स्वरूप विवक्षित होता है अन्य का गौण हो जाता है । यही अर्थ व्यवस्था सिद्ध होती है । तुम यदि एकान्त से एक का ही क्षय (अपोह) होता हुआ उसे प्रवृत्त मानते हो तो सर्वत्र दुर्व्यवस्था होगी । हे प्रभो सभी पोहरूप से (सद्भाव से) ही प्रतिभासित होते हैं, यही आपका कथन सत्य है ॥ १९ ॥

आपके यदि अपोहता के द्वारा जगतत्रय को कहा जाय, तो तीनों लोक ही गत-अभाव रूप हों, तब आप भी स्वयं अभाव रूप हो जायें । ऐसा होने पर सौगत के मतानुसार आपका मत होगा तो फिर आपका ही अभाव ठहरेगा । किन्तु आप तो प्रत्यक्ष उपदेष्टा उपस्थिति लिए प्रतिभासित हो रहे हैं । अतः एकान्त अपोह यथार्थ नहीं । पदार्थों में अन्योन्याभाव मानना ही उचित है । यह सामान्य विशेषरूपता में ही संभव है । सर्वथा एकान्त में नहीं ॥ २० ॥

अपोहवाद से समस्त सब और अन्तस्तत्व व बाह्यतत्त्वों की सत्ता समाप्त हो जायेगी । क्योंकि निह्नव शक्ति निरंकुश, स्वच्छंद प्रवृत्ति करेगी । ऐसा होने पर कुछ भी अस्ति रूप नहीं रहेगा । क्योंकि वह सर्व को शून्यता में ही प्रवेश करायेगी । परन्तु ज्ञान तो यहाँ प्रतिभासित होता है ॥ २१ ॥

यह विसंगति उछलती हुयी बलात् सत् के साथ दुःखद शून्यवाद की ही कल्पना का विघात करती है । क्योंकि अशेष विश्व के अभाव होने पर सर्वत्र कहाँ, क्या, कितना, किसके द्वारा, कहाँ पर-किस प्रकार, कैसे, कब

इत्यादि रूप प्रकट होते हैं वे किस प्रकार होंगे । क्योंकि कुछ शेष ही नहीं रहा । अतः यह प्रत्यक्ष बाधित है ॥ २२ ॥

समस्त ये रूप यदि एकरूप ही हों तो विवेचना या मीमांसा करने से कुछ भी प्राप्ति नहीं है । इस अवस्था में तत्त्व निर्णायक की दशा तो मृगतृष्णा वत् निष्फल ही सिद्ध होगी । यथा पिपासा पीड़ित मृग-हिरण अपनी पिपासा की शान्ति हेतू बालूकणों को चमकते देख जलाशा से उसकी ओर दौड़ता जाता है, परन्तु कहीं भी जलबिन्दु प्राप्त नहीं होती, मरण ही शरण होती है । निश्चय ही मृग का श्रम व्यर्थ हो जाता है । इसी प्रकार सर्वशून्यता में तत्त्वान्वेषण का आश्रय लेने पर अकथ श्रम भी निष्फल ही सिद्ध होगा ॥ २३ ॥

यदि दुराशा से इस सिद्धान्त को स्वीकार किया तो निश्चय ही सर्व जगत शून्य हो जायेगा । हे विभो इस अवस्था में संसार में कुछ भी अवशेष नहीं बचेगा । फिर तो बुद्धि-ज्ञान भी किसी भी मात्रा में स्थित नहीं रह सकेगा । इस प्रकार शून्यवाद के साथ ज्ञानाद्वैत भी शून्यरूप हो जायेगा । दोनों ही सिद्धान्त लोप होंगे ॥ २४ ॥

नय के समस्त भेद अस्त रूप से प्राप्त होंगे । यह वही है, यह नहीं है इस प्रकार की स्पृहा किस प्रकार होगी । तब निर्णय की अन्तिम सीमा कुछ नहीं बनेगी । सदैव अनिर्णय ही होगा । अतः आचार्य श्री इस विवादित शून्यवाद के भय से जिनदेव से प्रार्थना कर रहे हैं कि हे प्रभो असीम विश्व का नाश करने वाले इस मिथ्या सिद्धान्त प्रमार्जित कर यथातथ्य तथ्य स्वरूप निर्धारित करिये । शून्यवाद में प्रविष्ट को सुरक्षित कीजिये । हे जिन ! मुझे कृतकृत्य कीजिये । अर्थात् मेरे श्रम को फलवत् बनाकर रक्षा कीजिये ॥ २५ ॥

•

अध्याय 21

वंशस्थ

सुनिस्तुषान्ताऽवधि शुद्धमूलतो निरन्तरोत्सर्पमुपर्युपर्यमूः।
विमोहयन्त्योऽन्यमनन्तगोचरः स्फुरन्त्यनन्तास्तव तत्त्वभूमयः ॥1॥

यदि स्वयं नान्यविशेषतां व्रजेस्तदा न सामान्यमिदं तवादिमम्।
स्थिताः स्वशक्तयोभयतोऽपि यावतस्तवेत्यनन्ताः परिणामभूमिकाः ॥2॥

अखण्डितद्रव्यतया त्वमैकतामुपैषि पर्यायमुखादनेकताम्।
त्वमेव देवान्तिमपर्ययात्मना सुनिस्तुषांशः परमोऽवभाससे ॥3॥

त्वमेकतां यासि यदीशसर्वथा तदा प्रणश्यन्ति विशेषभानि ते।
विशेषणानां विरहे विशेष्यतां विहाय देवास्तमुपैषि निश्चितत् ॥4॥

ध्रुव तव ध्वात्मकतैव तद् भवान् स्वयं विशेष्योऽपि विशेषणान्यपि।
विशेष्यरूपेण न यासि भिन्नतां पृथक् पृथग्भासि विशेषणाश्रिया ॥5॥

विभो विशेषष्य तवाविशेष्यतो विशेषणानामविशेष एव न।
त्वया समं यानि न तानि भिन्नतां परस्परं भिन्नतयैवमीशये ॥6॥

विभाति वृत्तिं न विनेव वृत्तिमात्र चास्ति वृत्तिः क्रममन्तरेण सा।
विमाह्य नित्यक्षणिकान्तरं महल्लन्त्यनसन्तास्तव काल पर्यया: ॥7॥

सतो न नाशोऽस्ति न चासदुद्भवो व्ययोदयाभ्यां च बिना न किञ्चन।
त्वमीशसन्नेव विवर्त्तसे तथा व्ययोदयौ ने भवतः समा यथा ॥8 ॥
उदीयमानव्ययमानमेव सद् विवर्तशून्यस्य न जातु वस्तुता।
क्षणे क्षणे यन्नवतां न गाहते कथं हि तत्कालसहं भवेदिह ॥9 ॥
क्षणाक्षयस्त्वा कुरूते पृथक् पृथक् ध्रुवत्वमैक्यं न य ते निरन्तरम्।
अनन्तकालं कलयेति वाहयन विभास्युभाभ्यामयमीशधारितः ॥10 ॥
अयं हि सन्नेव भवस्तव व्यागादभूदसन्नेव च सिद्धपर्यय:।
तथापि सन् म्लानिमसृद्विसर्पणं विनेशसन्नेव भवाति विभासते ॥11 ॥
न भासि सामान्य विशेषवत् तथा विभास्य सौ त्वं स्वयमेव तद्द्वयम्।
न वस्तु सामान्यविशेषमात्रतः परं किमप्येति विमर्शगोचरम् ॥12 ॥
स्वयं समाग्नेरिह मूयते हि यत् तदेव सामान्यमुशन्ति नेतरत्।
समा विशेषास्तव देवया यना भवन्ति सामान्यमिहासि नावता ॥13 ॥
यथैकता यासि तथा समानता तथा विशेषाश्चयथा विशिष्यसे।
स्वविक्रिया भाति नथैव सोभयी न भिन्नसामान्यविशेषभागसि ॥14 ॥
समाविशेषा भवतो भवन्ति ये वध्नान्ति ते भावमुखात समानताम्।
विशेषरूपेण सदा समानता विभो भवन्ती भवतो न भिद्यते ॥15 ॥
समयसामान्यमुपैति वस्तुतां न तन्मय द्रव्यभरात् पृथग्भवन्।
विशेषतां द्रव्यभरे तदप्ययद् विभागतस्तेष्वपि देव लीयते ॥16 ॥
न चैकसामान्यमिदं नव प्रभोस्वपर्ययेभ्य: पृथगेव भासते।
स्वपर्थयाणां दृढयद् विशेषतामभागवृत्तं नदिहावभासते ॥17 ॥

नवेति सत् प्रत्ययपितमञ्जसा समस्तमेतत् प्रतिभाति तन्मयम्।
अखण्डितः प्रत्यय एष ने नु सन् भवन्मयत्वं न जहाति जानुचित् ॥18॥
असौ स्वतौ भावचतस्तव प्रभो विभाति भावोऽत्र विशेषणं यथा।
तथाऽन्यतौऽअ भाववतोऽनिवारितो भवत्वभावोऽपि विशेषणं तव ॥19॥
विभाति भावो न निराश्रयो ग्चित् तदाश्रयो यःस तु भाववानिति।
न जात्वभावोऽपि निराश्रयः स्फुरेदभाववानापतितस्तदाश्रयः ॥20॥
तयोः महैवापततोर्विरूद्धयोर्न निर्विरोध तववस्तु सर्थिते।
उदीयते देव तथैव तत्परं भवत् किलात्मा पर एव चाभवत् ॥21॥
न जात्वभावस्य विभाति तुच्छता स्वयं हि वस्त्वाश्रयतो र्जितं नयात्।
यथाऽस्ति भावः सकलार्थमण्डली तथाऽस्यभावोऽपि मियो विशेषात् ॥22॥
स्फुरत्यभावः सकलस्य यः प्रभो स्थितः समस्तेऽपि परस्पराश्रयात्।
नयत्ययं त्वां स्वमुखेन दारुणः स्फुटैकसंविन्मयमीशशून्यताम् ॥23॥
करोति भावस्तव येधवस्तुतां करोत्यभावोऽप्ययतिशेषतोऽत्र नाम्।
उभौ समन्तौ भिहतो भृताभृतौ प्रसहय सर्वं सह संविदर्चिषा ॥24॥
त्वदंशसंधुक्षणदारुणो भवत् मम निशं बर्द्धन एष भस्मकः।
प्रसीदविश्वैककरम्बिता समं विश प्रभोऽन्तस्त्वमनन्त एव मे ॥25॥

पाठ २१ "वंशस्थछन्द"

ज्ञान स्वभाव यदि मूल से अर्थात् प्रारम्भ से ही शुद्ध है, एवं असीम है तो निरन्तर उत्तरोत्तर विकासोन्मुख हो रहा है यह किस प्रकार होता । क्रमशः मोह का नाश होता हुआ ही अनन्तरूप वाला हे प्रभो ! आपके अनन्त क्षायिक ज्ञान का विषय होता है । इस प्रकार तत्त्व का मूल स्पष्ट रूप से स्फुरायमान होता है । मोह युक्त होने से अनादि शुद्ध न होकर पदार्थ क्रमशः पुरुषार्थ द्वारा शुद्ध किये जाते हैं । यथा सुवर्णादि धातुएँ ॥ १ ॥

यदि स्वयं पदार्थ निहित विशेष अन्त को प्राप्त नहीं होंगे तो, यह जो आपने प्रारम्भ में सामान्य धर्म प्रतिपादित किया वह सिद्ध नहीं हो सकेगा । परन्तु प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं विशेष और सामान्य स्वभाव । आपके सिद्धान्त से विशेष यानी पर्यायें द्रव्य में अनन्तरूप से वेग के साथ परिणमित हो रही हैं । अतः परिणमन स्वभाव पदार्थों में स्वयं प्रारम्भ से ही प्रसिद्ध-सिद्ध है । अतः सामान्य विशेष दोनों ही युगपद वस्तु में निविष्ठ रहते ही हैं ॥ २ ॥

आपका सिद्धान्त अखण्ड, एकरूपता धारण करता हुआ द्रव्य एकरूप रहता है और पर्यायों (विशेषों) की अपेक्षा अनेकरूप धारण करता है । अभिप्राय यह है कि सामान्य धर्म की अपेक्षा तत्त्व एकरूपता को प्राप्त होता है और विशेष पर्यायों की उसी समय अनेक रूपता भी लिए रहता है । हे देव ! आप ही द्रव्य-पर्याय दृष्टियों से सम्यक् प्रकार तुष्-मलिनता, कर्ममलीमषरूप त्याग, कर्ममलरूप घातिया कर्मों का संहार कर परम शुद्ध रूप प्रतिभासित होते हो ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर ! यदि आप एकान्तरूप से एकरूपत्व प्राप्त होते तो समस्त विशेष नहीं रहते । अर्थात् नष्ट हो जाते । तब तो आप विशेषों से रहित हुए विशेष्य रूप आपका ही अभाव हो जाता । क्योंकि विशेष और

विशेष्य में अविनाभाव सम्बन्ध है । अतः एक के अभाव होने पर अन्य का भी अभाव सुनिश्चित है । अतः पर्यायों के अभाव होने पर द्रव्यरूप आपका भी अभाव हो जाता जो असंभव है । अतः सुनिश्चित है कि वस्तु स्वभाव उभय धर्मात्मक है ।। ४ ।।

यदि एकान्त रूप से सामान्य-विशेष धर्म को एकरूप माना जायेगा तो प्रभो ! आप ही स्वयं विशेष्य और आप ही विशेष रूप होंगे । अर्थात् विशेष और विशेष्य का भेद ही लुप्त हो जायेगा । तब तो आप विशेष्यरूप से प्रतिभासित नहीं हो सकते । तब भिन्न-भिन्न रूप विशेषों का आश्रय नहीं होने से भेद लोप हो जायेगा । क्योंकि पर्यायी के बिना पर्यायें किसके आश्रित रहेंगी ? उनका भी लोप होगा ।। ५ ।।

हे विभो ! विशेष के पृथक् रहने पर ही आपका तत्त्व विशेषपने को प्राप्त होगा । अन्यथा विशेषों के सामान्यरूपता भी एकाकार हो अविशेषता ही न टिकेगी । अर्थात् ये विशेषण हैं और ये नहीं, इस प्रकार का कथन संभव नहीं होने से तत्त्व व्यवस्था यथार्थ नहीं होगी । हे देव ! आपका सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि विशेष्य विशेषणों के साथ अवश्य रहता है, परन्तु एकमेक होकर नहीं । उनमें कथंचित् अभिन्नता के साथ कथंचित् भिन्नता भी परिलक्षित रहती है ।। ६ ।।

पदार्थ के साथ सामान्य विशेष एक दूसरे का सर्वथा अभाव कर वृत्ति प्रकाशित नहीं होती । क्योंकि क्रमरूपता के अभाव में यह वृत्तिश्रृंखला सर्वथा भिन्नों में यह इसकी पर्याय है, इस प्रकार की सम्बन्ध परम्परा नहीं बन सकेगी । अतः वह वृत्ति यौगिक श्रृंखला नित्य क्षणिकत्व और नित्यत्व बिना कथंचित् सिद्धान्त को ही ग्रहण कर महान तेजोमय होकर पदार्थ स्थिति को स्थित करता है । कालभेद से परिणमित पर्यायें पदार्थ की क्रियाकारित्व शक्ति को निर्धारित करती हैं ।। ७ ।।

हे ईश आपका सिद्धान्त घोषित करता है कि सत् का कभी विनाश और असत् की उत्पत्ति भी नहीं होती । परन्तु तो भी उत्पाद और व्यय के बिना कुछ भी सिद्ध नहीं होता । अतः इस सिद्धानुसार 'सत्' की सत्ता उत्पाद और व्यय से समन्वित रहता है । सत् ही ध्रौव्य है क्योंकि इसके ही आश्रय से उत्पाद और व्यय अपना कार्यकारित्व सिद्ध करते हैं । अतः प्रत्येक पदार्थ एक समय में एक साथ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अवस्था में विद्यमान रहता हैं ॥ ८ ॥

उदय-उत्पाद, व्यय के साथ ही तद्रूप से होता है, पर्यायें सत् से शून्य कदाऽपि नहीं हो सकती हैं । क्योंकि प्रतिक्षण नवीनता को धारण करनेवाली पर्यायें किसी न किसी के आश्रय से ही प्रवर्तन कर सकेंगी । अतः पर्यायों से रहित कभी भी वस्तु तत्त्व सिद्ध नहीं होता । इसी प्रकार सत् रूप ध्रौव्यता के बिना उत्पाद व व्यय भी निराश्रय किस प्रकार रह सकते हैं ? नहीं । अतः तीनों का सद्भाव एक ही आधार में एक साथ ही रहना सिद्ध होता है । यही वस्तु तत्त्व सिद्ध है ॥ ९ ॥

क्षण क्षयी होते हुए भी उत्पाद-व्यय रूप पर्यायें अपने ध्रुवत्व को एकत्व प्रदान करती हैं स्वयं भिन्न-भिन्न रूप से प्रतिभासित होती हैं । यही कारण है कि अपने ध्रुव रूप सत् के साथ अनन्त कालपर्यन्त रहकर सत के अस्तित्व के साथ प्रतिभासित रहेंगी तथा ध्रौव्य भी इन दोनों (उत्पाद, व्यय) के माध्यम से परिवर्तित होता हुआ अपएकत्व स्वभाव में स्थिर बना रहेगा । हे ईश ! यही आपकी तत्त्व व्यवस्था समीचीन है । यह अनन्तकाल पर्यन्त इसी प्रकार सत्ता को वहन करते होंगे । अर्थात् उत्पाद और व्यय एकरूप होकर सत्तालक्षण निर्धारित करती हैं ॥ १० ॥

यह सत् स्वरूप भी यदि सत् रूप है उसी प्रकार पर्यायें भी सत्स्वरूप हों तो सत्ता का अभाव ही हो जायेगा । तब तो पर्याय मात्र ही सिद्धस्वरूप

रहेंगी । तथाऽपि सत् के अभाव में असत् रूप पर्यायें भी तो सत् रूप से प्रकाशित होने से वे ही सत् रूप दृष्टिगत होंगी । इस प्रकार तो एकान्त ही सिद्ध होगा जो अनिष्टकारी है ॥ ११ ॥

विशेषों (पर्यायों) के स्थायी होने पर सामान्य का प्रतिभास नहीं होगा । परन्तु प्रतिभासित होता ही है । इसी कारण आपका सिद्धान्त उभयरुपता युक्त पदार्थ स्वीकार करता है । वस्तु विवेचना करने पर वह ऐकान्तिक रूप से सामान्य विशेषता धारण करनेवाली प्रतीत नहीं होती है । परन्तु ऊहा-पोह का विषय होने से सत् स्वरूप तो है ही । फिर क्या है ? सामान्य विशेषात्मक ही तत्त्व की सिद्धि हो जाती है ॥ १२ ॥

जो कुछ वस्तु में समक्ष समानता लिए अनुभव में आता है । अर्थात् यह वही है, इस प्रकार की प्रतीति का कारण हो वही सामान्य है । अन्य कुछ वाह्य वस्तु नहीं । इस प्रकार हे देव ! समानता द्योतक जितने विशेष हैं उतने ही प्रमाण में सामान्य भी होता है । क्योंकि शक्ति, विशेष, गुण, लक्षण, धर्म, रूप, स्वभाव, प्रकृति, शील एवं आकृति ये सब एकार्थवाची हैं ॥ पं. ध्या. का. ४८ ॥ में स्पष्ट किया गया है । चूंकि स्वभाव-स्वभावी में सर्वथा भेद नहीं होता, एकाश्रय होने से ॥ १३ ॥

जिस प्रकार पदार्थ में एकत्व रहता है, उसी प्रकार समानता भी निहित रहती है । उसी प्रकार विशेष भी रहते हैं, जिनसे वस्तु में वैशिष्ट्य प्रकट होता है । इस प्रकार स्व विकार जिस प्रकार प्रकट होता है, उसी प्रकार पर विकार भी । अतः आपके सिद्धान्त में सामान्य और विशेष गुणों में सर्वथा भेद प्रतीत नहीं होता । गुण गुणी का एकान्त भिन्नत्व नहीं है क्यों कि दोनों एकाश्रयी होते हैं ॥ १४ ॥

वस्तु एक ही समय में वस्तुपने को प्राप्त होती है । जिस समय वस्तु है उसी काल उसका लक्षणरूप स्वभाव भी लक्षित होता है । गुण गुणी में

तन्मयता होकर 'द्रव्य' होता है । भिन्न-भिन्न होकर नहीं । इसी प्रकार गुण या विशेष भी अपने विशेष्य या द्रव्य से तन्मय होकर ही 'द्रव्य' संज्ञा अर्पण करते हैं । द्रव्य में वैशिष्ट दर्शाते हैं । हे देव ! वस्तु तत्त्व इसी प्रकार का है, नैयायिकों की भांति गुण-गुणी में सर्वथा भेद नहीं होता क्योंकि इसका साधक कोई प्रमाण नहीं । अतः आप द्वारा प्रतिपादित ही यथार्थ वस्तु स्वरूप है ॥ १५ ॥

एक ही काल में सामान्य व विशेष से परिपूर्ण ही द्रव्य द्रव्यत्व पने को प्राप्त होता है । अर्थात् वस्तु में वस्तुत्व धर्म सिद्ध होता है । नैयायिक सिद्धान्त गुण को तथा गुणी को सर्वथा भिन्न मानकर संयोग सम्बन्ध स्वीकार करता है, परन्तु यह प्रत्यक्ष बाधित है क्योंकि ऐसा मानने पर सर्वसंकर दोष उत्पन्न होगा या अव्यवस्था होगी चेतन जड़ और जड़ चेतन हो जाने का प्रसंग आयेगा । क्योंकि आपने हे देव उपदिष्ट किया कि द्रव्य में रहते हुए ही विशेष-गुण उसमें विशिष्टता अर्पण करते हैं । सर्वथा भेद मानने पर ये उसी में लय को प्राप्त होंगे ॥ १६ ॥

हे प्रभो आपके सिद्धान्त में सामान्य अपनी निज पर्यायों से सर्वथा भिन्न होकर प्रतिभासित नहीं होता । अपितु अपनी पर्यायों में स्थिति कर ही विशेषता को प्राप्त करता है । इस प्रकार कथंचित् भेदाभेद लिए ही विशेष विशेष्य सम्बन्ध सिद्ध होता है । क्योंकि सर्वथा भिन्न होने पर कौन किसका विशेषण है और कौन किसका विशेष्य यह व्यवस्था व्यवस्थित नहीं होगी ॥ १७ ॥

आपके सिद्धान्तानुसार सत् प्रत्यय सम्पूर्ण सामान्य अपने विशेषों को एक साथ अपने में समाहित कर सम्पूर्ण द्रव्य तन्मयता के साथ ही प्रकट प्रतिभासित होता है । ये प्रत्यय-स्वभाव-स्वभावी तो आपके मत में तन्मयता

का त्याग नहीं करते, अपितु तन्मय हुये ही प्रतिलक्षित होते हैं । कभी भी अपने इस सम्बन्ध का त्याग नहीं करते । अर्थात् गुण-गुणी या द्रव्य पर्याय पृथक्-पृथक् कदाऽपि नहीं रह सकते, एकाश्रयी होने से ।। १८ ।।

हे प्रभो ! आपके मत में गुण-गुणी ये दोनों ही तन्मय होकर भी अपने भाव (स्वभाव) रूप ही झलकते हैं । जिस प्रकार विशेषण परिलक्षित होते हैं, उसी प्रकार विशेष्य भी दृष्टिगत होते हैं । यदि इनमें सर्वथा भिन्न होने पर एक के अभाव में दूसरे का अभाव नहीं होगा । परन्तु देखा जाता है कि विशेष्य के साथ ही विशेषों का भी अभाव होता है । अतः आप ही का सिद्धान्त प्रमाणित ठहरता है । निस्सन्देह यही यथार्थ है ।। १९ ।।

पदार्थ आश्रय विहीन नहीं अपना अस्तित्व शोभित करता है जो कुछ जहाँ जब उसका आश्रय अन्विष्ट होता है तो वह भाववान् ही प्रत्यक्ष होता है । इसी प्रकार अभाव भी निराश्रयी नहीं हो सकता क्योंकि जिस क्षण अभावरूपता स्फुरायमान होती है उसी क्षण अभाववान भी आ उपस्थित होता है । क्योंकि वह उसी के आश्रय से टिका था ।। २० ।।

वे स्वभाव व स्वभावी दोनों एक साथ ही प्राप्त होते हैं । तथा उसी प्रकार अप्राप्त भी । हे देव ! आपके सिद्धान्त में वस्तु निर्विरोध रूप से गलित होती है, अर्थात् सद्भावपूर्वक अभाव को प्राप्त करती है । क्योंकि व्यय उत्पाद पूर्वक होता है । पर्यायों का यही क्रम है । हे देव ! आपने बताया जिस समय आत्मा (सद्भाव) अपने स्व स्वभाव से उदय को प्राप्त होता है उसी समय परभावापेक्षा अभावरूप भी । अर्थात् एक आकार (पर्याय) नष्ट होते ही दूसरी उम्मेदवार उदित होने को तैयार रहती है ।। २१ ।।

सर्वथा वस्तु (सत्) अभाव रूप नहीं है । क्योंकि नयों की विवक्षा से स्वयं ही पदार्थ अपने आश्रय को प्राप्त करता है । जिस प्रकार सामान्यापेक्षा पूर्णरूप से पदार्थ प्रतिभासित होता है उसी प्रकार अपने विशेषों (पर्यायों)

से भी एक साथ भरा पूर्ण रहता है। पर्याय और पर्यायों में एकान्त से सर्वथा भेद नहीं होता ॥ २२ ॥

हे प्रभो ! सम्पूर्ण पदार्थ का जो अभाव स्फुरित होता है, वह समस्तपने से स्थिति सद्भाव को लिए हुए ही होता है क्योंकि सद्भाव और अभाव परस्पराश्रय से ही सिद्ध हैं। एकान्त रूप से यदि सर्वथा अभाव व सद्भाव माना जायेगा तो महान दुर्व्यवस्था खड़ी हो जायेगी। क्योंकि एक रूप संवित्ति हे ईश शून्यता को प्राप्त होगी। क्यों आश्रय के अभाव से आश्रयी का अभाव होगा, तो आश्रयी के नष्ट होने पर आश्रय भी अवश्य अभावरूप सिद्ध होगा। अतः अंश-अंशी में एकान्त तन्मयता व अतन्मयता नही है, किन्तु कथंचित् पने से है ॥ २३ ॥

वस्तु सद्भाव ही वस्तु में वस्तुपने का ज्ञान कराता है। अविशेषों की अपेक्षा उसी प्रकार अभाव भी ज्ञात कराता है। अभिप्राय यह है कि द्रव्यार्थिक नय पदार्थ में सद्भाव का ज्ञापक है और पर्याय नय अपनी अपेक्षा उसी सत् रूप वस्तु में ही अभावरूपता प्रतिभासित करता है। दोनों प्रकार की स्थिति को मुख्य गौण विवक्षा से सिद्ध करती हुयी ही ज्ञानज्योति विरोधी धर्मों को भी एक साथ रखने की सामर्थ्य से जीवित-ज्योतिर्मय रहने की क्षमता सम्पन्न है ॥ २४ ॥

अगर अंश-अंशी को सर्वथा भिन्न स्वीकृत किया तो महाकष्ट रूप स्थिति उत्पन्न होगी। यह सिद्धान्त तो मुझे मात्र भस्म ही प्राप्त करायेगी। अर्थात् आचार्य देव यहाँ भगवान से प्रार्थना कर रहे हैं कि हे प्रभो इस एकान्त ध्वान्त से मेरी रक्षा करिये। आप ही के प्रसाद संसार स्वरूप के प्रलय से रक्षणार्थ आप ही अपनी अनन्त शक्तियों के साथ मेरे अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर हे प्रभो ! मेरी भी अनन्तशक्तियाँ ही प्रकट हो यही आकांक्षा है। अर्थात् आपकी अनन्त ज्ञान ज्योति से मेरी भी आत्मज्योति अनन्तकाल तक स्थिर रहने वाली प्रज्वलित होवे ॥ २५ ॥

अध्याय 22

प्रत्यक्षार्चिः प्रचयखचितैः कान्तनिष्कम्पदीव्यद्।
बाह्यस्पर्श प्रणयविमुखान् श्रेणिसंवेदनस्य।।
मग्नां मग्नां दृशमतिशयान् मज्जयन्नन्तरन्तः।
स्वामिन्नर्हन् वहति भवतः कोऽयमानन्दवाहः।।1।।

किञ्च ब्रूमः किमिह दहानादिन्धनं स्याद् विभिन्न।
येन व्याप्तं भवति दहनेन्धनं नाग्निरेव।।
ज्ञेयं ज्ञानात किमु च भवतो विश्वमेताद्विभिन्नं।
येन व्याप्तं भवति भवतो नेश विश्व त्वमेव।।2।।

नूनं नान्तर्विशति न बहिर्याति किं त्वान्त एव।
व्यक्तावर्त्तं मुहुरिह परावृर्त्तिमुच्चैरूपैति।।
ज्ञाना स्याद्गः किल नियतेत्पीतसर्वावकाशः।
सर्वद्रव्यस्वरसविशदो विश्वगंड्रश एषः।।3।।

निर्भागोऽपि प्रसभमभितः खण्डसे त्वं न यौधैः।
खण्डं खण्डं कृतमपि विभुं संदधाति प्रभैव।।
देवाऽप्येवं भवति न भवान खण्डितायोजित श्री।
रन्यैव श्रीः स्फुरति सहजा खण्डखण्डेय भर्तुः।।4।।

भियोऽभेदं स्पृशति न विभो नास्त्यभिन्नस्य भेदो।
भेदाभेदद्वयपरिणतस्त्वं नु नित्यं तथापि॥
भिन्नैर्भावैर्वरदभवतो भिन्नभावस्य साक्षात्।
स्वामिन् काऽन्या गतिरिह भवेत तद्वयं ते विहायं॥5॥
सामान्यस्यो ल्लसति महिमा किं विनाऽसौ विशेषै।
निं: सामान्या: स्वमिह किममी धारयन्ते विशेषा:॥
एकद्रव्यग्लपिनविनतानन्नपर्यायपुञ्जो।
दृग्संवित्ति स्फुरितसरसस्त्वं हि वस्तु त्वमेषि॥6॥
एकोऽनेको न भवति न वानेक एकत्वमेति।
व्यक्तं ह्येतत्रतुभयंमयस्त्वं नु किं स्यान्न विद्य:॥
जानीमोऽन्यद्भवानि किल यो यत् समाहारजन्या।
नशावशं भवति युगपत्तत्स्वभावोऽनुभावा:॥7॥
अन्यो नश्यत्युदयति पर: शश्वदुद्भासतेऽन्य
स्तीव्रस्तास्मिंस्तव समनया पक्षपानस्त्रयोऽपि
नेन ध्रौव्यप्रभवविलयालिङ्गितोसि स्वयं त्वं।
त्वन्तो बाह्यं त्रितयमपितच्छून्यमेवान्यथा स्यात्॥8॥
भावाभावं तव रचयत: कुर्वतो भावभावं।
नून भावो भवति भगवत्भावनाशोऽस्ति कोऽन्य:॥
अस्तित्वस्यारखलितभवनोल्लासमात्रं यथैनद्।
भङ्गोत्पादद्वयमपि तथा निश्चितं तत्वमेव॥9॥
एक: कोऽप्यस्खलितमहिमा प्रागभावद्यभावै
एकान्तोऽपि स्फुरसि भगवंस्त्वं सदा भाव एव॥

एकोऽपित्वं प्रसभमभितः प्रागभावाद्यभावै।
भिन्नःस्वामिन् कृतपरिणानिर्भासि रूपेश्चतुर्भिः ॥10॥
पूर्णाः पूर्णो भवति नियतं रिक्त एवास्ति रिक्तो।
रिक्त पूर्णस्त्वमसि भगवन् पूर्ण एवासिरिक्तः॥
यल्लोकानां प्रकटमिहते तत्त्वद्यातोद्यतं तद्।
यत् ते तत्वं यन्नेतृत्वं किमपि न हि तल्लोक दृष्टं प्रमष्टिं॥11॥
सर्वे भावाः सहजनियतऽन्योन्य सीमान एते।
संश्लेषेऽपि स्वयमपतिताः शश्वदेव स्वरूपात्॥
ज्ञानज्योत्स्नास्वरसविसरैः सर्वदा विश्वमेनद्।
विश्वाद् भिन्नः स्नपय भगवन् सङ्करस्ते कुनः स्यात्॥12॥
मोहः कर्मप्रकृतीभरतो मोहतः कर्मकिट्टं
हेतुलेन द्वयमिति मियो यावदात्मा न तावत्
क्षीणे त्वस्मिंस्तव विलसनां नूनमात्मैव नान्यो
निःसिम्त्यास्मिन्निवस सहज ज्ञानपुञ्जे निमग्नः॥13॥
ज्ञानक्रिडारभसलसितैर्वल्गतः सर्वतस्ते
मोहाभावद्भवति भगवन् कर्तृभावो न भूयः।
कर्तृत्वे वा स्वयमपि भवन् केवलो ज्ञानपुञ्जे
ज्ञानादन्यत् किमिह कुरुषे निर्विशङ्को रमस्व॥14॥
देवालम्बो भवति युगपद् विश्वमुनिश्चतस्ते
बाह्यस्पर्शादि विमुखमहिमा त्वं तु नालम्ब एव
स्वात्मालम्बो भवसि भगवन्तुज्जिहान स्तथापि
स्वात्मा त्वेष ज्वलति किल ते गुढविश्वस्वभावः॥15॥

यस्मिन् भावास्त्रिसमयभुवस्तुल्यकालं प्लवन्ते
यत् कल्लोलाः प्रसभमभितो विश्वसीम्नि स्खलन्ति
सत्वं स्वच्छ स्वरसभरतः पोषयन् पूर्णभावं
भावाभावोपचित महिमा ज्ञानरत्नाकरोऽसि ॥16 ॥
सम्विद्वीच्य स्तव तत इतोदेव वल्गन्त्य एताः
शुद्धज्ञानस्वरममयतां न श्रमन्ते पमार्ष्टुम्
विश्वच्छाया घटनविकसत्पुष्कलं व्यक्तिगूढ़ां
प्रौढिं विन्दत् तद्मिदथति ज्ञानसामान्यमेष ॥17 ॥
अन्यद् विश्वं बहिरिव तव ज्ञानविश्वं तथाऽन्यत्
सम्विद्विश्वं यदिह किल सा संविदेवाऽवभाति
सिंहाकारो मदननिहिता किं मधूच्छिष्टतोन्यो
विश्वाकारस्त्वयि परिणतः किं परस्त्वन्महिम्नः ॥18 ॥
मित्वा मेयं पुररपि मिते किं फलं ज्ञातुरन्यत्
नानु विश्वं स्वयमिह मितं नासि चित्योद्यानस्त्वम्
दृक्संवितो स्खलितमखिलं रक्षतस्ते स्ववीर्य
व्यापारोऽसौ यदसि भगवन्नित्यमेवोपयुक्तः ॥19 ॥
नानारूपैः स्थितमतिरसाद् भासयद् विश्वमेतत्
शब्द ब्रह्म स्वयमपि समं यन्महिम्नाऽस्तमोर्नि।
नित्यव्यक्तास्त्रिसमय भवद्वैभवारम्भभूम्ना
निस्सीमाऽपि ज्वलति स तव ज्योतिषा भावपुञ्जः ॥20 ॥

उद्यद्विश्वस्वरमनिंश मर्मसु व्याम गाढं
लब्धपौढि स्तडिति परित स्ताडयन् सर्वभावान्
देवात्यन्यं स्फुरनि सततं निर्विमेषस्त्वयोच्चै
रेकः कोऽयं त्रिसमयजगद्धस्मरोद्दृविकाशः ॥21॥

सर्वत्राप्यप्रतिद्यमहिमा स्वप्रकाशेन शुम्भन्
दुरोन्मज्जन स्वरसविसरैदवियन् सर्वभावान्
विश्वालम्बोच्छलित बहुलव्यक्ति सीमन्ति त श्री
रेकः कोऽयं विलसति विभोर्जात्यचैतन्यपुञ्जः ॥22॥

एकाकार स्वरस भरनोऽनन्तचैतन्यराजीः
सज्जः कर्तुं प्रतिपदम मूर्तिर्विभागावभासा
आविश्वान्ता चिविडनिकषैर्विश्वगुद्धासमानः
स्वामिन्नेकः स्फुरदपि भवान् कृत्स्नमन्यत्प्रमर्ष्टि ॥23॥

पीतं पीतं वमतु सुकृति नित्यमत्यन्तमेतत्
नावद्यावज्ज्वलति वमनागोचरों ज्योनिरन्तः
नस्मिन् देव ज्वलति युगपत् सर्वमेवास्य वान्तं
भूयः पीतं भवति न नथाऽप्येषवाज्ञाद एव ॥24॥

एकानेकं गुणवदगुणं शून्यमत्यन्तपूर्णं
नित्यानित्यं विततमततं विश्वरूपैकरूपम
चित्प्राग्भारग्लपित भुवनाभोरङ्ग एङ्गैरुन्मज्जन्त कलयति किल त्वामनेकान्त एव ॥25॥

पाठ—२२ वाँ

अनन्त द्रव्य व पर्यायों से खचित विश्व को प्रत्यक्ष करने के लिए अनिच्छा से वाह्यपदार्थों के स्पर्श करने पर भी उन ज्ञेयों से विमुख हुआ आपके क्षायिक ज्ञान की किरणें निष्कम्प ज्योतिर्मयी प्रवर्तन करती हैं। अर्थात् अनन्त गुण-पर्यायों को आपका क्षायिकज्ञान रवि अपना विषय तो बनाता है, पर उनका स्पर्श नहीं करता, अपितु उनसे विमुख ही रहता है। इसी प्रकार अनन्त दर्शन भी स्वयं में अतिशयलीन हुआ उसी में लीन रहता है। निज स्वभाव में ही निमग्न हुआ उसे ही देखता है। हे स्वामिन्! अर्हंत! अशेष विश्व को युगपत् जानता हुआ भी उसका स्पर्श भी नहीं करता, अपितु उनसे विमुख हो अपने ही स्वरूप अचल रूप रह उसको ही अपने ज्ञान का विषय बना प्रवर्तते हो। तथा इसी प्रकार आपका अनन्तदर्शन भी आध्यात्म्यँ दृष्टि आत्म स्वरूप में लीन हुआ रहता है। स्वामिन्! इसका क्या कारण है। आपमें कौन सी परमानन्द रस धारा प्रवाहित होती है, जिससे कि स्वयं अपने ही स्वरूप के ज्ञाता दृष्टा बने रहते हैं।। यह विशेष रहस्य समझ में नहीं आता है ।। १ ।।

यद्यपि मेरी बुद्धि आपके गुण वर्णन में अक्षम है-असमर्थ है, तो भी कुछ वर्णन करता हूँ। क्या दाहक से दाह्यरूप ईंधन भिन्न है, जो ईंधन में व्याप्त कर रहती है। परन्तु देखा जाता है जलने वाला ईंधन अग्नि रूप नहीं है। निष्कर्ष यही होगा अग्नि अग्नि है और ईंधन-ईंधन है। अग्नि ईंधन नहीं और ईंधन अग्नि नहीं, परन्तु तो भी दाह्य दाहक रूप प्रवृत्त होते हैं। इसी प्रकार आपके ज्ञान से ज्ञेयरूप विश्व भिन्न है और आपका ज्ञान भिन्न है। तथाऽपि अशेष ज्ञेयों को अपने में व्याप्त कर प्रवृत्ति करता है। हे ईश! आप तो आप ही हो अर्थात् आपका ज्ञान

तो आप रूप ही प्रवर्तता है, विश्व तो ज्ञेयरूप से पृथक् ही रहकर आपकी निर्मलता में झलकता है ।। २ ।।

निश्चय नय से न तो विश्व आप में प्रविष्ट होात है और न आपका ज्ञानघन स्वभाव ही बाहर आता है । किन्तु दोनों ही अपने-अपने में ही रहते हैं । बारम्बार परिवर्तित होती हुयी पर्यायों के परिणमन से उत्कृष्ट रूप प्राप्त होते हैं । फिर निश्चय से अखिल द्रव्य अपने-अपने स्व स्वभाव रस से परिपूर्ण रहते हैं तथा अपने ही स्वभाव में नियत होते हैं । तो भी निश्चय से शुद्ध ज्ञान में कोई अलौकिक स्वाभाविक योग्यता है सम्पूर्ण विश्व को अपने में अवकाश देने का यही नहीं सर्वज्ञ के ज्ञान में सम्पूर्ण जगत गंडूष के सदृश है । ऐसे ही अनन्त जगत भी उसमें समाहित हो सकते हैं, इतनी सामर्थ्य है इसमें । परन्तु तो भी स्वयं अलिप्त निज स्वभावमग्न ही रहता है ।। ३ ।।

हे जिन! चारों ओर विशेष रूप से प्रभावी ज्ञान निर्विभागी होकर भी व्याप रहा है । हे जिन! आप अपने एक ज्ञानघन स्वरूप से भेद-खण्ड रूप नहीं होते ही । नाना विभाग किये जाने पर भी प्रमा-ज्ञान व्यापी हुआ ज्ञान ही रूप को धारण करता है । इस प्रकार विविधाओं से भरित विश्व आपका ज्ञेय बनता है परन्तु आपका ज्ञानधन लक्ष्मी खण्डित नहीं होती है । यह अनन्त ज्ञान श्री खण्ड-खण्ड रूप पदार्थों को ज्ञेयाकार से ही ज्ञात करती है । खण्ड-खण्ड रूप स्वरूप विश्व को रक्षित करने वाली ज्ञेयों से भिन्न रूप होकर ही अपने सहज स्वभाव से स्फुरायमान रहती है । क्योंकि यह नियम है कि अन्य द्रव्य अन्यद्रव्य रूप परिणमन नहीं करता, अपितु अपने-अपने निजस्वभावभरित ही रहते हैं ।। ४ ।।

हे प्रभो! भिन्न-भिन्न पदार्थों में अभेदता तथा अभिन्नों में भेद सर्वथा नहीं होता। एक दूसरे के स्वभाव का स्पर्श नहीं करते। परन्तु विवक्षा के अनुसार नयों के द्वारा भेदाभेद दोनों रूपों में परिणमन होता है। अर्थात् द्रव्यार्थिक नय विवक्षा से अभेद और पर्यायार्थिक नय से एक ही द्रव्य में भेदपना भी सिद्ध होता है। अतः आप भेदाभेद रूप से परिणमित होते हुए भी नित्य हैं। अर्थात् आपकी क्षायिक शक्तियाँ अनित्य नहीं हैं। भाव-निक्षेप की अपेक्षा भिन्न-भिन्न पदार्थों में भिन्नरूपता ही साक्षात् साधकर वरदान होता है और अभेद विवक्षा में अभेद रूपता। तथाऽपि अपने-अपने स्वभाव से कोई भी च्युत नहीं होते। हे स्वामिन्! इस आपके सापेक्ष सिद्धान्त का परित्याग करने वालों की क्या अन्य गति है ? अपितु नहीं है ॥ ५ ॥

सापेक्ष सिद्धान्त के स्वीकार नहीं करने पर क्या विशेषों के द्वारा सामान्य की महिमा का रस उल्लसित हो सकता है? इसी प्रकार सामान्य के बिना क्या विशेष (गुण) अपने अस्तित्व को सुरक्षित धारण कर सकते हैं? नहीं कर सकते। क्योंकि गुण या विशेष-पर्यायें विशेष्य या गुणी के आश्रित हुए ही अपनी सुरक्षा कर सकते हैं। एक द्रव्य में समाहित होकर ही अनन्त पर्यायों का पुञ्ज विस्तार को प्राप्त होता है। हि-निश्चय से आप ही वस्तु तत्त्व हैं। आप में ही अनन्त दर्शन व अनन्त ज्ञान की समस्त पर्यायों से युक्त आप ही स्फुरायमान मधुर रस से प्लावित हुए स्फुरायमान होते हैं। सामान्यविशेष या गुण-पर्यायों में सर्वथा भेद नहीं होता अपितु सापेक्ष दृष्टि भेदाभेद सिद्ध होता है हे जिन! आपके सिद्धान्त में इसी प्रकार उपलब्धी होती है जो समीचीन व अबाध है ॥ ६ ॥

एक अनेक नहीं होता है। अनेक भी इसी प्रकार एक नहीं होता। ऐसा द्वैतपना स्पष्ट व्यक्त है। निश्चय से क्या तुम इसे नहीं जानते? हम नहीं जानते? जानते ही हैं भिन्न-भिन्न होते हैं। परन्तु स्यात्

शब्द का ज्ञान है तो कथंचित् एक अनेक भी है, और अनेक एक भी है। क्योंकि एकानेक समाहार-एक साथ उत्पन्न होते हैं। युगपत् स्वभाववाले इसी प्रकार उभयरूपता से अनुभावित होते हैं। अतः गुण गुणी या द्रव्य-पर्यायों में पृथक्त्वपना नहीं होता है। अन्यत्व होता है क्योंकि दोनों में आश्रय एक है। प्रदेश भेद नहीं होता है ॥ ७ ॥

वस्तु तत्त्व में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यता एक समयवर्ती हैं। कारण उत्पाद सर्वथा भिन्न, व्यय स्वतंत्र पृथक् और ध्रौव्य भिन्न है ऐसा मानने पर तीनों गुणों में सर्वथा भेद हो जायेगा। यह भयंकर पक्षपात दोष उत्पन्न होगा। तत्त्व व्यवस्था ही नहीं सिद्ध होगी। अस्तु, आपने यथार्थ तत्त्व सिद्ध करते हुए उपदिष्ट किया कि इन तीनों में समयभेद नहीं होता। क्योंकि उत्पाद, व्यय, ध्रुव का आलम्बन करते हुए प्रवृत्त होते हैं। एक काल में एक ही वस्तु में तीनों का समाहार रहकर वस्तु स्वरूप स्थित करते हैं। नामादि अपेक्षा तीनों में पर्याय दृष्टि से भेद भी है पर निश्चय से अभेद है यह 'स्यात्' पद से निर्बाध सिद्ध हो जाता है जो निष्पक्ष है यदि तीनों में सर्वथा भेद माना जायेगा तो सकल शून्यता का प्रसंग आयेगा। अतः स्यात् लाञ्छन युक्त ही सही है ॥ ८ ॥

हे देव भाव और अभाव परिणति करते हुए ये सद्भाव को ही सिद्ध करते हैं। क्योंकि निश्चय से सद्भाव ही अभाव को निष्पन्न करता है। यदि सत् का नाश हो जाय तो अन्य फिर क्या रहेगा? अस्तित्व का नाश सर्वथा माना जाय तो उत्पत्ति केवल उल्लासमात्र रहेगी। अर्थात् कथन मात्र रहेगा। क्योंकि सत् के अभाव में किसका व्यय और किसका उत्पाद कहा जायेगा। यदि दोनों को पृथक् कहा जाय तो निश्चित ही वे भी तत्त्व रूपता को प्राप्त होंगे। क्योंकि जैसा सत् है उसी प्रकार वे भी सत् रूप रहेंगे। अतएव हे भगवन् नाशोत्पाद का आधारभूत द्रव्य होता है

वही ध्रुव कहलाता है । इस प्रकार ये तीनों-उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य एक समयवर्ती ही सिद्ध होते हैं । तथा उत्पाद-और व्यय, तथा ध्रौव्यत्व ये पर्यायें हैं और इनका एकीकरण जिसमें है वही तत्त्व है ॥ ९ ॥

प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव के अभावों में से कोई एक अभाव के साथ भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से सभी अभाव एक सद्भाव की ही सिद्धि करते हैं । इन चारों अभावों से आक्रान्त (मिश्रित) होकर भी हे भगवन् आपके सिद्धान्त में एक मात्र सद्भाव या सत्तामात्र ही सिद्ध होता है । आपके मतानुसार एक ही पदार्थ इन चारों प्रकार के अभावों को हठात् धारण कर भिन्न रूप अर्थात् सद्भाव रूप से ही परिणमन करता हुआ द्रव्य शोभित होता है । यथा सुवर्ण खण्ड में कंकण का अभाव प्रागभाव है, उसी हेम खण्ड में कंकण पर्याय धारण की यह डलीका प्रध्वंशाभाव हुआ, कञ्चन रजत नहीं है यह अन्योन्याभाव है तथा जाम्बूनद धातु पने का कभी भी त्याग नहीं कर सकता यह अत्यन्ताभाव है । इन चारों अभावों से युक्त हुआ भी सोना अपने सद्भाव रूप ही द्रव्य है । इस प्रकार चारों ही अभाव द्रव्य की सत्ता ही सिद्ध करते हैं वह आपका अनेकान्त सिद्धान्त सम्यक् समीचीन सिद्ध है ॥ १० ॥

जो पूर्ण भरा है वह भरपूर ही होता है । तथा जो रिक्त है वह खाली ही रहता है । दोनों पक्ष विरोधी हैं । अतः एक साथ नहीं रह सकते । तथाऽपि हे जिन! आप मे इन दोनों ही विपरीत स्वभावों का निर्विरोध रूप से समाहार देखा जाता है । स्याद्वाद दृष्टि से आपने इसे सिद्ध किया है जो प्रत्यक्ष सिद्ध है । यथा—संसारावस्था में जन चाहते हैं वे राग-द्वेषादि परिणतियाँ आप में सर्वथा नहीं हैं अतः आप विभाव भावों से सर्वथा रिक्त हैं, परन्तु अपने अनन्त ज्ञानादि गुणों से पूर्ण रूपेण भरित हैं । इसी प्रकार संसार अपनी विभाव रूप पर्यायों से पूर्णतः परिपूर्ण भरा है, परन्तु जो आप में स्व स्वभाव से भरा है, वह नेतृत्व

भाव से इसमें नहीं है । इस प्रकार आपने स्व चतुष्टय और पर चतुष्टय की अपेक्षा समस्त द्रव्यों में रिक्तता और पूर्णता निर्दिष्ट की है ॥ ११ ॥

ये समस्त तत्त्व या पदार्थ अपने-अपने सहज स्वभाव में नियत हैं । यद्यपि लोक में सभी संश्लेष रूप में मिश्र हैं तथाऽपि अपने-अपने स्वभाव में स्थित हुए स्वयं भिन्न-भिन्न प्राप्त होते हैं । आपकी सर्वज्ञ ज्ञान ज्योति अपने स्व स्वभाव रस से सर्वत्र लोकालोक में व्याप्त हो विस्तृत हो रही है । समस्त जगत उसमें डूबा है । तथाऽपि लोक से भिन्न ही है । हे भगवन् फिर आपके सिद्धान्त में संकरपना किस प्रकार रह सकता है ? नहीं रह सकता । अशेष द्रव्य अन्योन्य प्रविष्ट हैं परन्तु अपनी सत्ता का परित्याग कोई भी नहीं करता यह आपका ध्रुव, निराबाध सिद्धान्त है ॥ १२ ॥

मोह कर्म प्रकृतियों के आस्रव का मुख्य हेतु है । मोह मुग्ध अज्ञानी प्राणी अहर्निश कर्म किट्टकालिमा से लिप्त रहता है । और होता जाता है । मोह और मोहरूप परिणति इन हेतुओं का सद्भाव जब तक है तब तक यह आत्मा इनके साथ एक रूप हुआ अशुद्ध बना रहेगा । परन्तु मोह के क्षीण होने पर तो अन्य आवरण भी विलीन हो जायेंगे और आत्मा अपने सहज निज स्वभाव में निश्चय से विलास करेगी । उस अवस्था में आत्मा में आत्म स्वभाव-गुण धर्म ही रहेंगे । अन्य कुछ भी न होगा । इस स्वभाव की स्थिति सीमातीत होगी, तथा सहज ज्ञान ज्योति पुञ्ज ही उसका स्वरूप होगा और उसी में अनन्तकाल पर्यन्त निमग्न रहेगा । अर्थात् यह मुक्त अवस्था चिरस्थायी, अवच्छिन्न रूप से अनन्तकाल तक अपरिवर्तनीय रहेगी ॥ १३ ॥

हे भगवन् ! आपके मोह का पूर्ण अभाव हो जाने से पूर्णतः वेग के साथ ज्ञान ही मात्र उछलता हुआ चित् स्वभाव ही ज्योतिर्मय

हो रहा है । यही एक ज्ञान स्वभाव से क्रीडा करता है । फलतः अब कर्मजन्यकर्तृत्व पना पुनः उदित नहीं हो सकता है । अगर कोई कर्तापना उदीयमान हो तो स्वयं स्व रस भरा केवल ज्ञान पुञ्ज रूप ही रहेगा । क्योंकि एक मात्र ज्ञान पुञ्ज में ज्ञान से भिन्न स्वभाव यहाँ क्या कर सकता है ? जब कि आप पूर्ण निशंक होकर एक मात्र स्व रसानुभव ज्ञान स्वरूप में ही विचरण कर रहे हैं । परम शुद्ध स्वभाव निजभाव ही रमण करते हैं ॥ १४ ॥

हे देव! आप बाह्य पदार्थों के स्पर्श से सदैव विमुख रहते है । उनका तनिक भी आलम्बन नहीं लेते हैं । तथाऽपि संसार के समस्त पदार्थ अपनी अशेष गुण पर्यायों के साथ एक साथ आपकी परम ज्योति स्वरूप का आलम्बन लेकर उस आत्म स्वभाव में उत्कीर्ण होते रहते हैं । अर्थात् ज्ञानधन स्वभाव के प्रकाश में झलकते रहते हैं । हे भगवन्! आप तो अपनी आत्मा का ही आलम्बन लेते हो आत्मस्वरूप में ही प्रकाशित होते हो । निश्चय से स्व स्वभावनिष्ठ, हो । व्यवहार से सम्पूर्ण विश्व समाया हुआ है । तो भी आत्मा ही अपने प्रकाशपुञ्ज के साथ जाज्वल्यमान रहती है । अर्थात् पर पदार्थ निर्मलज्ञानाभा प्रतिबिम्बित हुए कुछ भी मलिनता उत्पन्न नहीं कर सकते ॥ १५ ॥

यस्मिन् जिसके अन्दर त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ अपनी अनन्त पर्यायों के साथ एक ही समय में युगपत् प्रकाशित होते हैं । तथा जिसकी आनन्दरस रूपी तरंगें विश्व की सीमा का भी उलंघन करने वाली हैं । अति वेग से प्रवाहित लहरें सीमातीत उठ रही हैं । इस प्रकार आप अपने स्वच्छ, कर्ममल रहित दिव्य सागर को निज के पूर्ण भावों से भरते हुए - पुष्ट करते हुए, भावाभावों से खचित महिमायुक्त पूर्ण ज्ञानरूपी रत्नाकर हो । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सागर अमूल्य

अनन्त रत्नों से परिपूर्ण होता है उसी प्रकार आप अपने चैतन्यगुण की अनन्त स्वभाव पर्यायों से व्याकीर्ण हो रहे हो ।। १६ ।।

हे जिन देव! आपकी ज्ञान रूपी वीचियां (तरंगे) उस शुद्ध ज्ञान स्वभाव को लिए हुए ही भीषण गर्जना करती हैं । इनके शुद्ध ज्ञान स्वभाव को नष्ट करने में कोई समर्थ नहीं हैं । यद्यपि विश्व का प्रतिबिम्ब वृद्धिह्रास पूर्वक इनमें गुण-पर्यायों सहित आकीर्ण रहता है तथाऽपि ज्ञानमात्र स्वभाव को मलिन करने में कदाऽपि सक्षम नहीं होता । उन सम्पूर्ण पदार्थों को ये पूर्णतः स्पष्ट रूप से ज्ञात करती है तथाऽपि वे सतत सब ओर से अपने ज्ञान सामान्य को ही धारण करती हैं । यह ज्ञानधारा निरन्तर अविच्छिन्न प्रवाहित होती है ।। १७ ।।

जिस प्रकार ज्ञानघन रूप से वाह्य संसार अन्य है, उसी प्रकार आपका ज्ञानघनकार संसार भिन्न है । घनाकार होने से दोनों समान नहीं हो सकते । ज्ञानाकार विश्व ज्ञान रूप से हो अवभासित होता है, निश्चय से वह अन्याकार धारण कर भी अन्य रूप नहीं हो जाता । जिस प्रकार मदन-मोमपिण्ड को सिंहरूप बना देने से, उसमें निहित तो गया, परन्तु मधु उगलने वाला कमल नहीं हो सकता अथवा मधुमक्खी नहीं होता । क्या अन्याकार परणत वह अन्य ही है । क्या तदाकार होता है? नहीं । इसी प्रकार से ज्ञानाकार लोक में बाह्य लोक प्रतिविम्ब रूप में अवकाश पाने मात्र से क्या ज्ञानालोक हो जायेगा? कदाऽपि नहीं । अतः हे जिन! आपका ज्ञानालोक विश्वाकार परिणति से तद्रूप नहीं होता ।। १८ ।।

जितने ज्ञेय-मापने योग्य हैं उनको आप एक साथ माप लेते हैं । अर्थात सम्पूर्ण मेय एक साथ ही मित हो गये तो पुनः उनके मापने से

क्या प्रयोजन-फल होता है? कुछ भी नहीं होता। सारा विश्व एक साथ मापने पर वह सीमित है परन्तु मापक रूप आपका ज्ञान दर्शन सीमित नहीं है । वह अखिल विश्व को अवलोकन कर और ज्ञात कर भी क्षीण नहीक्या प्रयोजन-फल होता है ? कुछ भी नहीं होता । सारा विश्व एक साथ मापने पर वह सीमित है परन्तु मापक रूप आपका ज्ञान दर्शन सीमित नहीं है । वह अखिल विश्व को अवलोकन कर और ज्ञात कर भी क्षीण नही होता क्योंकि आपका अनन्तवीर्य का व्यापार है कि दर्शन-ज्ञान स्वभाव को अनन्त-असीम और अच्युत बनाये रहे । यही कारण है कि सम्पूर्ण लोक अलोक का माप करके भी ज्यों का त्यों ही अवस्थित रहता है ।। अनन्त काल पर्यन्त इसी प्रकार अनन्त चतुष्टयधारी ही रहेगा ।। १९ ।।

अनन्त पर्यायों से चित्र-विचित्र संसार आपके ज्ञानरूपी रस में मग्न हो तद्रूप से-ज्ञान ज्योति से प्रकट प्रकाशित हुआ भासमान होता है । परन्तु शब्द ब्रह्म स्वयं इसके प्रतिपादन में असमर्थ हुआ इसी ज्ञानोद्योत में लीन हो रहा है । अर्थात् सर्वज्ञ जितने ज्ञेयों को अपने ज्ञान का विषय बनाते हैं उसके अनन्तवें भाग मात्र को द्वादशांग वाणी को कथन करने की योग्यता है क्योंकि शब्द शक्तियाँ सीमित हैं अतः वे त्रस्त हो ज्ञान सागर में ही लीन हो जाती है । आपका ज्ञान तो नित्य उन्हें व्यक्त करने में संलग्न रह उस त्रैकाल वर्ती वैभव को एक समय मात्र में प्रकट करता ही रहता है । इस प्रकार व्यापार करता हुआ भी असीम रहती हुई आपकी भावात्मक ज्ञानज्योतिपुञ्ज रूप से ज्योतिमान ही रहता है । अर्थात् और भी अनन्त लोक हो तो उन्हें भी प्रकट ज्ञेय बनाने की सामर्थ्य बनी ही रहती है । इस प्रकार चारों अनुयोग आपके ज्ञान में समाहित हैं ।। २० ।।

हे देव! आपकी सर्वोत्कृष्ट प्रखर दृष्टि वेग से विश्व की सन्धियों में व्याप्त हो, गूढार्थ को सम्यक् ज्ञात कर उसमें प्रविष्ट हुई । परभावों के मर्म ज्ञात कर विद्युत समान वेग से चारों ओर से उन परभावों को

फटकारते हुए, वह अपने शांत स्वभाव में प्रविष्ट ही स्थिर हुयी । यह ज्योति सर्वथा संसार से विमुख हो, अत्यन्त भिन्न हुयी सतत अपने स्वभाव में स्फुरायमान है तथा विशिष्ट रूप से उसी स्व रस के उपभोग में निमग्न है । न जाने यह कौन प्रकाश है जो त्रिकालवर्ती विश्वनीय पदार्थों का युगपत् ज्ञान करते हुए ज्ञानरूपी सूर्य का विकाश कर रही है । अर्थात् आप स्वयं ही ज्ञान प्रकाश हो । तथा उसी में तल्लीन हो उसका ही उपभोग करते हो ॥ २१ ॥

सर्वत्र अप्रतिघाति महिमा, स्वयं अपने ही प्रकाश से विशिष्ट प्रकाशित होती हुयी, अन्य समस्त भावों को स्वरस में भस्मसात् करती हुयी अपने विस्तार में निमग्न है । इस स्वरस में अखिल विश्व आलम्बित है । तो भी बाहुल्यता से प्रकट है तो भी यह एक रूप से चमत्कृत होती हुयी असीम ही बनी रहती है । हे जिन! यह कौन सी आपकी ज्योतिर्मयी लक्ष्मी या शोभा है जो सर्वस्व को अपने में व्याप्त कर भी स्वयं अपने हो चैतन्य विलास में निमग्न रहती है । यह चैतन्यपुञ्ज स्वरूप आपका स्वभाव अपने आप में एक ही है । हम छद्मस्थों की दृष्टि से अगोचर है ॥ २२ ॥

हे स्वामिन्! आपकी चिदाकार चिद्ज्योति की अखण्ड प्रभा अपने ही स्वरस से परिपूर्ण भरित है । तथा अनन्त है । अतः प्रतिक्षण आपके अमूर्तीक, निर्विभाग स्वरूप को सुसज्जित करती हुई सतत प्रकाशित ही रहती है । सम्पूर्ण लोकालोक पर्यन्त सघन रूप से उग्रतेज द्वारा समस्त विश्व को प्रत्यक्ष करती हुयी उदीयमान प्रतिभासित रहती है । हे स्वामिन् ! आपकी यह अनन्त ज्ञान-ज्योति अकेली - एकाकी स्फुरायमान रहती है! आप इसीसे एक होकर भी अनन्त स्व-पर भावों के ज्ञाता-दृष्टा बने रहते हैं ॥ २३ ॥

हे देव! संसार में शुभाशुभ कर्मों को जीव निरन्तर ग्रहण कर-कर के त्याग भी करता जाता है। अर्थात् पुण्य-पापक्रियाओं से शुभाशुभ कर्मों का ग्रहण और त्याग-यानि आस्रव और सविपाक निर्जरा की शृंखला तब तक चलती ही रहती है यह आवागमन क्रम जब तक अंतःकरण में इससे भिन्न भूत भेद-विज्ञान रूप ज्ञान ज्योति का जन्म-उदय नहीं होता है। इस विज्ञान घन ज्योति के प्रज्वलित होने पर ये सम्पूर्ण शुभाशुभ, भावकर्म व द्रव्यकर्म वान्त ही हो जाते हैं। पुनः उन वान्त हुए कर्मों का तथा भावों का ग्रहण नहीं होता है। अर्थात् ये निर्जरित हुए द्रव्य-भाव कर्म सतत् त्यक्त ही रहते हैं पुनः इनका कभी भी ग्रहण नहीं होता यह आपका अकाट्य सिद्धान्त है कि कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति नहीं होती ॥ २४ ॥

विश्व के असेष पदार्थों में नय विवक्षा से अनेक विरोधी धर्म एक साथ अविरोध रूप से स्थिति पाते हैं। यथा एकपना-अनेकपना, गुणरूपता व अगुण रूप, शून्यपना और पूर्ण अशून्यता, नित्य-अनित्य, विस्तार-संकोच, अनेकता व एकता, अंग-अङ्गी भाव आदि विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार आत्मा और चेतना अङ्ग-अङ्गी भाव से समन्वित हुए संसार रङ्गमञ्च पर इन विविधताओं को सिद्ध करने वाले आपकी चैतन्य ज्योति में प्रकाशित अनेकान्त सिद्धान्त विषय करने में समर्थ हुआ शोभित हो रहा है। इन समस्त विरोधों को एकत्र अविरोधोपसिद्ध करने वाला, नय, निक्षेप, स्व चतुष्टय, परचतुष्टय आदि विभिन्न विवक्षाओं की अपेक्षा गौण-मुख्य दृष्टि से सिद्ध करता हुआ अनेकान्त सिद्धान्त सर्वत्र विलसित होता है ॥ २५ ॥

●

अध्याय 23

हरिणी

जयति परमं ज्योतिर्जैत्रं कषाय महाग्रहग्रहविरहिता कम्पोद्योतं दिवानिशमुल्लसत्।
ज्वलति परितो यस्मिभावा वहन्ति तदात्मनाहुतवहहठा खंडग्रासीकृतेन्धनवत् समम्॥1॥
त्वसि भगवन् विश्वव्यापी प्रगल्भपिद्गुमो मृदुरसदृशप्रज्ञोन्मेषै स्खलद्भिरखंजन:।
तदलमफलै वाक्यक्रीडाविकार विडम्बनैः कतिपयपद न्यासैराशुल्लयीश विशाप्ययम्॥2॥
किमिदमुद यत्यानन्दौघैर्मनांसि विघुर्णयन् सहजमनिशं ज्ञानैश्वर्य चमत्कृतिकारितैः।
प्रसभविलसद्वीर्यारम्भप्रगल्भ गभीरया तुलयनि दृशा विश्वं विश्वं यदित्यवहेलया॥3॥
ललितललितै रात्मन्यासैः समग्रमिदंजगत् त्रिसमयलसद्भवव्याप्त समंज्वलयन्नयम्।
तदुपधिनिभाद् वैचित्र्येण प्रपञ्चय चिदेकतां ज्वलसि भगवन्नेकान्तेन प्रसह्यनिरिन्धत:॥4॥
समपतितया स्फीतस्फीतोद्विलासलसदृशा स्वरसकुसुमा विश्वं विश्वात्तवेश विचिन्वतः।
किमपि परमो नान्यस्तत्त्वग्रहं प्रतिपद्यते विकसति परंभिन्नाभिन्ना दृगेव समन्तत:॥5॥
इदमति भरान्नानाकारं समं रनपयन् जगत्परिणति मिनो नानाकारैस्तवेशचकारस्त्ययम्।
तदपि सहजव्याप्त्या रून्धन्नवान्तरभावना: स्फुरति परितोऽप्येकाकारश्चिदेकमहारस:॥6॥
सममुदयत: शान्तातङ्कैः स्वभावविलासिभिश्चिदचलाकलापुञ्जैः पुञ्जकृतोत्मविशुद्धिभि:
अयमनिभरक्षोभारम्भै: स्फुटानुभवस्तव प्रलयमगपत्त्रिन्नाकार: कषायपरिग्रह:॥7॥

उदयसि यदा ध्वस्ताधारं भरात् परितोऽस्खलत्प्रविततमिदं सम्यक्संविदितानमुदञ्चयन्
अयमभिभवन्नन्तस्तत्त्वं जनस्य निराश्रयष्टसितिपट् ग्रन्थिगढिस्तदा प्रविलियते ॥8 ॥
विषयततयो भान्त्यो त्यन्यं विमुक्तपरिग्रहे भवति विकृतव्यापाराय प्रभो न भवन्त्यभूः।
प्रकृतिमभितः संश्रित्येव स्फुटं तव चिन्मयीं स्वरसविकसच्चुद्धाकम्पोपयोगपरिप्लुताः ॥9 ॥
निबिडनिबिडे मोहग्रन्थौ प्रसह्य विलायिने तव परमिदं ज्ञातृ ज्ञानं कर्तृ न भोक्तृ च।
यदिह कुरुते मुक्ते वातत्तदेव सदैव तत् किल परिणतिः कार्यभोगः स्फुटोऽनुभवः स्वयम् ॥10 ॥
त्रिसमयलसद्विश्वक्रीडामुखैक महीधरः स्फुरसि भगवन्नेकोऽपित्वं समग्रभरक्षमम्।
प्रतिपदभिदं वस्त्वेवं स्यादिति स्पृशतो दृशं सहजकलनक्रीडामूर्ते र्नचास्तिभ्रमपरस्तव ॥11 ॥
स्फुरति परितो बाह्यार्थानां य एष महाभरः स्वरससरसाक्रान्त स्यैतास्तवैव विभूतयः।
स्फुरति न जडश्चित्संस्काराद् विनैव निराकुलः कलय युगपल्लोकौ परैरकलंकितः ॥12 ॥
दलितदलनैःछिन्नच्छेदैर्विभिन्नविभेदनैस्त्वविधिलसत्पर्यायौघैर्विभक्त मनन्तशः।
निशितनिशितैः शक्त्युद्गारैरवारितविक्रमैः कलयकलुशः कुर्वन्नेनत् समस्तमनन्द्रित ॥13 ॥
चितिहुतवहस्यैकाङ्गारीकृतं परितो हठाद्यदतिकलनात त्रैलोक्यं भवस्यत मुर्मुरः।
स्वयमतिशय स्फीति शसाद्विशेष गरीय सी जगदविषयं ज्ञानानन्त्यंतवैवविभाति तत् ॥14 ॥
ककुभि ककुभि न्यास्यन् धामान्ययं न नभोमणिः कलयति तव ज्ञानाग्न्येक स्फुलिङ्गतुलामपि।
स्वयमुपयति प्राधान्येन प्रकाशनिर्मितत्तामजडकणिकमात्रापि स्यात्र जातु जडोपमा ॥15 ॥
अनुरुलधुभिः षट्स्थान स्थैर्गुणैः सहजैर्व्रजन क्रमपरिणतिं संविच्चक्रे नियत्युपवेशितः।
प्रभवविलया वासाद्यापि प्रतिक्षरमक्षरस्त्यजसि न मनाकूङ्कोत्कीर्णां कदापि चिदेकताम् ॥16 ॥
क्रमपरिणतै र्भावैर्भावासमं न विगाह्यते सममतिभरात्तैरावलान्तो भवांस्तु विभाव्यते।
तदिदमुभयं भूतार्थं सन्मिथो न विरुद्ध्यते कलयसि सदा यद्भावानां विभो क्रमक्रमात् ॥17 ॥
स्वयमपि परान् प्राप्यकारे परोपकृतं वहन् परकिरहितः सर्वकारैः परस्य सुनिर्भरः।
अवगमरसाः शुद्धत्यन्तं तवैव विजृम्भते स्वभरभसव्यापारेण स्फुटन् सममात्मनि ॥18 ॥

अवगमसुधाधारासारैर्लसन्नपि सर्वतस्तदतिभरतो ज्ञानैकत्वं न नाम विगाहसे।
अवधिरहितैरेकद्रव्यश्रितै निजपर्ययैर्युगपदपरैरप्युल्लासं प्रयासि सुखादिभिः ॥19॥
सततभावितो ज्ञानोन्मेषैः समुल्लसति त्वयि द्वयमिद् मतिव्याप्यव्याप्ती विभो न विभाव्यते।
बहि[illegible]पि प[illegible]चिच्छुद्धोऽसि स्वरूपपरायणः पतासिच बहिर्विष्वक शुद्धस्वरूपरोऽपियन् ॥20॥

सममतिभरादेतद् व्याप्त प्रभास्य बहिर्बहि
स्तदपि न भवान् देवैकोऽन्तर्बहिश्च विभान्यते
प्रभव विलयारंभ विष्वग् भवत्यपि यद्धि
स्त्रिसमयभुवष्टङ्कोत्कीर्णाः परा कृपयस्त्वयि ॥21॥

त्रिसमयजगत्कृत्स्नाकारैः करम्बिततेजसि
स्फुरतिपरतोऽप्येकत्रात्मन्यसौ पुनरुक्तता
वदति पुरुषानन्त्यं किन्तु प्रभोत्वमिवेतरै
र्विषयपतितैः प्रत्येकं ते स्फुरन्त्यकृतद्वयाः ॥22॥

दृगवगयोर्द्विव्योच्छ्वासा निरावरणस्यते
भृशमुपचिताः स्फूर्यन्ने ते प्रकम्पमहोदयैः
अपि हि बहुना तन्माहात्म्यं परेण न खण्डते
यदनिर्भरतो गत्वाऽऽन्यन्त्यं पुरैव विजृम्भिताः ॥23॥

युगपदखिलैरेकः साकं पदार्थकदम्बकैः
स्वरसविसरैस्त्वं व्यात्युक्षी भरादिव दीव्यसि
अथ च न् परान् मिश्रस्युच्चै परैश्च न सिच्यसे
स्फुरसि मिलिताकारैरेकोपयोगमहारसे ॥24॥

अविरतमिमा सम्यग्बोधक्रियोभय भावना
भरपरिणमद्भुतार्थस्य स्फुरन्तु ममाद्भुताः
परमसहजावस्थालग्नोपयोगरसप्लव
न मिलिना मन्दानन्दाः सदैव तव श्रियः ॥25॥

पाठ—२३

हे प्रभो! महा भयंकर मोहग्रह को परास्त कर अर्थात् जीतकर इस ग्रहचक्र से सर्वथा रहित होकर, अकम्प और अखण्ड हुयी बल अहर्निश उल्लास भरित, चारों ओर से जाज्वल्यमान हो रही है। तीव्र अग्नि स्वभावों को वहन करती हुयी चारों ओर जाज्वल्यमान अखण्ड रूप धारण कर ईंधन सदृश स्वयं की जाज्वल्यमान हुयी अपने दाह्य स्वभाव हो जाने से अशेष कर्म बन्ध को, अनंत काल के लिए भस्म-सात् कर दिया। इस प्रकार अखण्ड आत्मा का तेज प्रकाश सम्पूर्ण विश्व को ग्रासी कर ईंधन के समान भस्मसात् कर स्वयं तदरूप से जाज्वल्यमान प्रकाशित रहती है ॥ अर्थात् संसार को बलात् कवलित कर स्वयं ज्योतिमर्य रहती है। इस प्रकार अखण्ड प्रताप व प्रकाश युक्त हो अहर्निश प्रकाशित रहती है ॥ १ ॥

हे भगवन्! आप विश्वव्यापी, निर्भय , दृढ, विद्रुमवृक्ष (मुक्ताफलवृक्ष) के सदृश, कोमल, मधुर रस भरे अनन्त दर्शन व अनन्तज्ञान के निश्चल प्रकाश के द्वारा दिव्यवाणी से धर्मोपदेश प्रदान करते हैं। इस प्रकार की निर्बाध, अकाट्य दिव्यध्वनि के अतिरिक्त, निष्फल सामान्यजन की, वाक्यविलास भरे विडम्बित पदरचना से क्या प्रयोजन है। यह तो कोरी विडम्बना ही है। अस्तु, यह (मैं) आचार्य, हे ईश! आपही की अमोघ, यर्थाथ तत्त्वनिरूपक, सरस सरस्वती वाग्देवी की शरण में ही प्रविष्ट होता हूँ। अर्थात् उसी के द्वारा प्रतिपादित सन्मार्ग में प्रवेश करता हूँ ॥ २ ॥

अहर्निश ज्ञान रूपी ऐश्वर्य से चमत्कृत की गई, सहज-स्वाभाविक, एक विशिष्ट वीर्य का विलास करती हुयी, सोत्साह बनानेवाली, अतुल्य अगाध गहरी अशेष विश्व को तिरस्कृत कर अपने को विश्व

व्यापी कर यह कौन दृष्टि है? यह मेरे मन रूपी सरोवर में गर्जनाकरती हुयी, अत्यन्त आनन्द घन समूह को जाग्रत कर रही है । अभिप्राय यह है कि आपके अनन्त दर्शन-ज्ञान शक्ति के प्रति मेरी अकाट्य-श्रद्धा, भक्ति मेरी भी सम्यग्दर्शन रूप आत्मशक्ति को मानों प्रत्यक्ष करा रही हैं, आनन्दघन स्वरूप को दर्शित कर रही है ॥ ३ ॥

हे भगवन्! आपकी चैतन्य चिच्चमत्कार से निष्पन्न ज्ञानज्योति ज्वाला, पर सहाय विमुख होती हुयी ईंधन (जलावन) के बिना ही, एक अद्वितीय रूप से एक साथ अश्रान्त, अविराम रूप से अहर्निश जलती ही रहीत है । यही, नहीं अपने अमर, सर्वव्यापी, वृहद् प्रकाश में सम्पूर्ण विश्व को त्रिकालरूप से अपने में व्याप्त कर प्रकाशित-द्योतित करती है । एकान्त रूप से अपने अनन्त प्रकाश में समाहित किये है, कर रही है और करती रहेगी । सम्पूर्ण जगत की नाना-विचित्र पदार्थ और पर्यायों को अपने में समाहित कर प्रकाशित करती हुयी स्वंय एक, अखण्ड, निर्लेप ज्ञायकभाव में ही स्थित है ॥ ४ ॥

हे ईश! प्रभो! आपकी विशाल, विस्तृत दर्शनशक्ति स्वरस भरित सुमन को और विश्व को भिन्न-भिन्न रूप से यथा-तथा निश्चय से भिन्नाभिन्नरूप सुनिश्चित करते हो । यह पर से भिन्न भी और अभिन्न भी है । आत्मज्ञान और विश्व एकाकार नहीं है । अपितु भिन्न-भिन्न ही हैं । इस प्रकार व्यवहार-निश्चय से तत्त्व अनेक व एक रूप सिद्ध होता है । निःसन्देह यह अनेकान्त ही यर्थाथ वस्तु स्वरूप को निर्धारित करता है । अन्य कोई नहीं ॥ ५ ॥

यह एकान्तेन एक स्वरूप से भरी, अपने भार से भरित होकर भी संसार के अनंत विचित्र नानाकार रूपी परिणमित जगत को एक साथ अपने ज्ञान प्रकाश सरवर में अवगाहना प्रदान करती है । इन नाना कारों के एक साथ एक समयवर्ती झलकने से यह ज्ञान ज्योति

भी जाज्वल्य रहती है । अपने सहज स्वाभाविक, व्याप्ति द्वारा, अवान्तर सत्ताओं को रुद्ध कर स्वयं चैतन्य ज्योति में समाहित रहती है । तथा अपने रूप आप एकांतेन अर्थात् एकमात्र ज्ञान-दर्शन स्वभाव ही में तन्मय रह कर ही प्रकाशित होती हुयी रहती है स्वरस चैतन्य है उसी में तन्मय रहती है ॥ ६ ॥

संसारावस्था में शान्त स्वभाव और आतंक स्वभाव एक साथ अपने-अपने स्वभाव रस विलास सहित उत्पन्न होते हैं । आपने, हे प्रभो ! अपनी अचल चिद् कला पुञ्ज को उत्थित-प्रकट कर वृद्धिंगत विशुद्धि द्वारा इनके स्वभाव भेद को अनुभव किया । क्षोभकारी कषाय परिग्रह हैं, जिनके भार से आक्रान्त आत्मा आतंकित हो आरम्भादि में प्रवृत्त हो नाना प्रकार कष्टानुभव करती है । तथा ज्ञान कला के प्रकट होने पर ये कषायरूपोत्पन्न चित्राकारा प्रलय को प्राप्त होता है । अतः आपने अपने सत् उत्साह व उद्यम से ज्ञानकला द्वारा इसका विनाश किया । या यों कहें कषायपरिग्रह का सर्वथा क्षय कर चिद् रूप ज्ञानकला पुञ्ज प्रकट किया ॥ ७ ॥

जिस समय अन्तस्तत्त्व चिद् चैतन्य स्वभाव को तिरस्कृत करने वाली यह मनुष्य की विभाव परिणति निराधार हो, प्रगाढ़ कालिमा ग्रन्थि शिथिल होती है उस समय निजस्वभाव से परिपूर्ण, अचल यह सम्यक् ज्ञान ज्योति अपने विस्तृत रूप से प्रकाशित होती है । अभिप्राय यह है कि आत्मा और कर्मकालिमा मोह सूत्र से बंधन बद्ध हो रही है । अज्ञानांधकार विघटित हो तो ज्ञान ज्योति जले तथा उसके उज्ज्वल प्रकाश में यह सन्धिबन्धन ज्ञात हो । इसका वितान नष्ट हो । तथा सम्यग्ज्ञान पुञ्ज मात्र का विस्तार प्रकाशित होगा ॥ ८ ॥

विषय-कषायों की वासनारूप सेना परिग्रह से मुक्त (रहित) होने पर स्व स्वभाव से सर्वथा भिन्न प्रतीत होने लगती है । हे प्रभो अब वह विकारभावों के व्यापार के लिये समर्थ नहीं होतीं । तब क्या होता है ? आपकी चिन्मयी स्वाभाविक प्रकृति का आश्रय लेकर स्पष्ट रूप से शुद्ध स्वभाव रस अभिसिक्त विकसित होती हुयी चिज्ज्योति निष्कम्प उपयोग से आप्लावित होती है । इस प्रकार चारों ओर अपना प्रकाश पुञ्ज बिखेरते हुए यह अमर ज्योति मात्र ही रहती है ॥ ९ ॥

अत्यन्त प्रगाढ़, सघनः सूक्ष्म परिग्रह रूप ग्रन्थि के पूर्ण असमर्थ हो नाश हो जाने पर आपकी यह ज्ञान ज्योति न ज्ञाता होती है और न भोक्ता ही । अर्थात् कर्ता-भोक्ता का व्यवहार समाप्त हो जाता है । जब परिग्रहरूप पदार्थ का कर्त्ता ही नहीं हो तो भोक्ता भी क्यों होगा ? नहीं होगा । तो भी कर्ता-भोक्ता तो है पर किसका स्वयं अपने ही स्वभाव का कर्त्ता है और उसी निजस्वभाव स्वरस-स्वसंवित्ति का ही भोक्ता है । क्योंकि उस रूप में ही परिणति हो रही है और होगी ॥ १० ॥

हे भगवन् अपने त्रैकालज्ञ ज्ञान से तीनोंलोक में व्याप्त क्रीड़ा द्वारा आप ही यथार्थ पृथ्वीपति हैं । क्योंकि आप ही एक मात्र त्रिकालवर्ती चिन्मय ज्योति से स्फुरायमान रहते हैं । अपनी स्वयं की अनन्तशक्तियों को एकसाथ प्रयुक्त करने में आप पूर्ण सक्षम हैं । आपने स्याद् पद लांछित सिद्धान्त से प्रतिक्षण वस्तु स्वरूप को ज्ञातकर तथा अनन्त दर्शन से देखकर निरूपित किया है । स्वाभाविक निज क्रीडारसनिमग्न मूर्ते ! आपका सिद्धान्त भ्रामक नहीं हो सकता है । क्योंकि आप विश्व दृष्टा व ज्ञाता है ॥ १ ॥

जिसमें वाह्य जगत के सम्पूर्ण पदार्थ चारों ओर से स्फुरायमान हों ऐसे स्व सुखानन्द रस से परिपूरित ज्ञान सरोवर का ही एक मात्र

वैभव है, महिमा है । जड़ पदार्थ को कितना ही संस्कारित किया जाय परन्तु इसमें कुछ भी चमत्कृत नहीं होता परन्तु चिद् चमत्कार तो बिना ही संस्कार किये स्वयं स्वभाव से प्रकाशित रहता है और अन्य को प्रकाशित करता है । स्व-पर दर्शी होकर भी निराकुल रहता है । एक साथ लोकालोक को पूर्ण द्योतित करता हुआ स्वयं निष्कलंक निर्मल बना रहता है । पर पदार्थों को दर्शाता हुआ उनसे मलिन नहीं होता-मिश्रित नहीं होता ॥ १२ ॥

संसारावस्था में विकारी अनन्त पर्यायों के समूह द्वारा दलन करने वालों से दलित, छेत्तृन् से छिन्न-भिन्न, भेदों से विविध, तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रों से कटा-पिटा इस प्रकार अनिवारित शक्तियों द्वारा उनके विक्रम-शौर्य से अभिभूत हो मलिन-कलुषित हुआ । परन्तु यह सब जड़रूप क्रियायें जड़रूप पुद्गल में होती रहीं । तुम तो अपने निष्प्रमाद दशा में ही थे । अर्थात् चेतनस्वभावी ही बने रहे ॥ १३ ॥

अनेकों परद्रव्य निमित्तिक पर्यायों ने एक साथ मिलकर भी आत्मा का कुछ बिगाड़ नहीं किया । परन्तु आपकी एक मात्र चैतन्य चिनगारी रूप अंगारे ने चारों ओर विश्वव्यापी विराट रूप द्वारा, उद्दाम, निरंकुशरूप धारण कर तीनों लोकों को राख-भस्म बना दिया । स्वयं आतिशायी विशालरूप में निरंतर विशद रूप में विशेष शक्तिशाली ही रही । अनन्तज्ञान के समक्ष जगत क्या करता है उसे तो यह अविषय है । हे भगवन्! इस प्रकार आप ही एक मात्र शोभित होते हैं स्व स्वरूप लीन होने से ॥ १४ ॥

नभोमण्डल में उदित रवि किरणें प्रतिदिशा द्वारा धारण की जाती हैं । अर्थात् प्रत्येक दिशा प्रकाशित होती है, परन्तु यह मार्तण्ड का ज्योतिपुञ्ज दिशारूप नहीं हो जाता । दिशाएँ दिशारूप ही हैं और सूर्यमण्डल अपने ही रूप । इसी प्रकार हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आपकी

ज्ञानाभा की किरणों से अशेष जड़-चेतन रूप संसार प्रकाशित होता है। अणुमात्र भी शेष नहीं रहता। तथाऽपि आप ज्ञान प्रकाशनिर्मित ज्ञानस्वरूप ही रहते हैं। जड़ कणिकामात्र भी आपके रूप नहीं हो सकती और न जड़ ही चेतन। ज्ञानालोक आपका एक मात्र स्व स्वरूप ही रहता है। असंख्यात प्रदेशों में से एक प्रदेशमात्र को भी सारा विश्व जड़ रूप नहीं कर सकता। अपूर्व एवं अलौकिक एक मात्र चित्कला ही चित् स्वभाव से द्योतित रहती है ॥ १५ ॥

हे प्रभो! आपका सिद्धान्त अद्वितीय है। आपने प्रत्यक्ष स्वरूप को सूक्ष्म रूप से निरीक्षण कर बतलाया कि शुद्धाशुद्ध समस्त जीवादि पदार्थों में अगुरु-लघु नामक गुण अपने स्वभाव षड्गुणी हानि-वृद्धि से षट् स्थानपतित रूप से 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्वं गुणत्व की सिद्धि करता है। इन हानि-वृद्धियों द्वारा समस्त विश्व एक साथ क्रम से परिणमित होते रहते हैं। अतः नैयायिकों का कूटस्थनित्य पना तत्क्षण नष्ट हो जाता है प्रत्यक्ष दोष दूषित होने से। इसी प्रकार कथंचित् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पने प्रसिद्ध, सुसंगत लक्षण द्वारा बौद्धो का क्षणिकवाद सिद्धान्त भी समाप्त हो जाता है। क्योंकि क्षण नष्ट होने पर भी पदार्थ की स्थिति भी प्रत्यक्षहोती है। इसलिए, चिद् शक्ति एकान्त से न तो नित्य है और तनिक भी क्षणिक है, किन्तु कथंचित् नित्य और कथंचित् क्षणिक है। यह नय दृष्टियों द्वारा गौण-मुख्यपने से सिद्ध है। अतः यही आपका सिद्धान्त यथार्थ है ॥ १६ ॥

क्रम से परिणमित होने वाली परिणति से पदार्थों में क्रमरूप से परिणमन होता रहता है। यह वस्तु में भेद रूपता ग्राही व्यवहारनय या पर्यायार्थिक नय से सिद्ध है। इन पर्यायों का द्रव्य उनके साथ ही भार वहन करता है अर्थात् उनसे पृथक् नहीं होता। वह इस भार से अश्रान्त हुआ अपने स्वभाव से सम्पन्न शोभा को धारण करता है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक नयापेक्षा पदार्थों में भेदोत्पादन नहीं होता। अतः भेद और अभेद दोनों ही भूतार्थ-यथार्थ-समीचीन धर्म एक साथ एक पदार्थ में

युगपत् सिद्ध हो जाते हैं भिन्न-भिन्न नयों की अपेक्षा। अतएव हे विभो! आपके समीचीन सिद्धान्त पदार्थों में अविरोध रूप से क्रम और अक्रम पने को सिद्ध करता है ॥ १७ ॥

पर पदार्थों को अपने में प्रतिविम्बित पने से प्राप्त कर, परोपकार पने का वहन करता है तो भी स्वयं उन पदार्थों से रहित ही रहता है, उन्हें आत्मसात् नहीं करता। पर के सम्पूर्ण आकारों से व्याप्त होकर भी उनसे अस्पर्शी ही बना रहता है, ऐसा अलौकिक आपका पूर्ण विशुद्ध ज्ञान है। इस प्रकार आपका यह उत्कृष्ट ज्ञान, अपने ही ज्ञानामृत रस से परिपूर्ण भरा, आनन्दघनस्वरूप व्यापार से स्पष्ट एकसाथ घनीभूत आत्मा में निष्ठ हुआ विस्तृत, प्रकाशित होता है। अर्थात् लोक-अलोक व्यापी होता है ॥ १८ ॥

इस प्रकार परमानन्दी ज्ञान का आधार ज्ञान सुधारस की धारा ही है, उसी से यह शोभायमान होता है। तो भी, यद्यपि इस ज्ञानसुधारस से सर्वत्र पूर्ण खचाखच भरा रहता है। तथाऽपि एकान्तेन-एकान्तपने से मात्र ज्ञान रूप से ही अवगाह्य नहीं होता। क्योंकि कि असीम एकज्ञानस्वरूप द्रव्य के आश्रित निजपर्यायों से भी व्याकीर्ण रहता है। अतः अनन्त दर्शन, सुख, वीर्यआदि अनन्तगुण भी एक साथ उल्लसित होते हुए परिणमन करते हैं। इस प्रकार स्व-पर गुणों को भी एक साथ धारण कर चिदाकार आत्मा विशिष्ट रूप से शोभायमान होता है ॥ १९ ॥

हे भगवन! आप में इस प्रकार (उपयुक्त प्रकार) से निरन्तर चारों ओर से ज्ञानोदय द्वारा सम्यक् प्रकार से उलासित होता रहता है। स्व स्वरूप ज्ञान और पररूप सुखादि (ज्ञानापेक्षा भिन्न) दोनों ही अतिव्याप्ति व अव्याप्ति दोषों से रहित-निर्दोषरूप से आपमें शोभायमान हुए सुप्रकाशित रहते हैं। भेददृष्टि से (व्यवहारनय से) पररूपता को प्राप्त होते हुए भी, शुद्ध होकर भी स्व स्वरूप परायण ही रहते हैं। क्योंकि ज्ञान गुण के

सदृश, बाह्य भी ये सतत सर्व प्रकारेण, सर्व ओर से परमशुद्ध स्वरूप से ही आरोपित होते हैं अतः ये सभी अनन्तचतुष्टयरूप एकत्व को प्राप्त आपके सहजसंवेदन में ही लीन हुए रहते हैं ॥ २० ॥

ये बाह्याभ्यन्तर भेद विवक्षित होने से सभी धर्म आपमें एक साथ एक ही समय में व्याप्त रहते हैं। तो भी आप एकान्त से एक रूप नहीं हो क्योंकि भेदविवक्षा भी प्रकट प्रकाशित है। किस प्रकार? उत्तर यह है कि आप एक द्रव्य है। द्रव्य का लक्षण या स्वरूप उत्पाद-व्ययात्मक भी है और ध्रौव्य रूप भी। अतः उत्पाद-व्ययों द्वारा विविध रूप होकर भी ध्रौव्यत्वपने से एक रूप भी हैं। क्योंकि त्रैकालिक अवस्था आपकी टंकोत्कीर्ण भी प्राप्त होती है। इस प्रकार परापर - उभयधर्मों का आप-में पूर्ण समावेश प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

त्रिकालवर्ती यह संसार अपने पूर्ण एक ही आकार स्वरूप से अपने ही तेज-स्वभाव में अवस्थित है। किन्तु, तो भी अन्य पदार्थों से भरित हो यह पुनः नाना रूप भी कहा है। अन्य परमत वालों ने इसे अन्य प्रकार भी निरूपित किया है अर्थात् इसे ब्रह्मा द्वारा रचित और महेश द्वारा नाश होने वाला कहा है। परन्तु आपने अकृत्रिम, नित्य पुरुषाकार सिद्ध किया है, जो युक्ति प्रमाण सिद्ध है। हे प्रभो! आपने नित्यरूप से रचित और अन्य जीवादि पदार्थों खचित-होने से उनके उत्पाद-व्ययापेक्षा नश्वर भी कहा है। इसलिए उभय नय विवक्षा प्रवर्तन से द्वयरूपता भी घटित की है। ऊर्ध्व, अधो और मध्य लोक रूप रचना से अनेक रूप भी कहा है ॥ २२ ॥

अनन्त दर्शन व अनन्तज्ञान के द्वारा निरावरण आपके उच्छ्वास औपचारिक है। वास्तव में ये ज्ञान दर्शन ही उच्छ्वास है क्योंकि इनके

आवरक दर्शनावरण और ज्ञानावरण कर्म सर्वथा क्षय हो गये हैं । ये ही निरंतर खचाखच भरे हुए आप में प्रकाशित होते हैं । इन्हीं की स्वबाव रूप षट् स्थान पतित हानि-वृद्धि रूपता ही अपने महान उदय के साथ रहती है । यही कारण है कि इस सर्वव्यापी माहात्म्य को परवादी किसीप्रकार भी खण्डित नहीं कर सके । क्योंकि यह किसी के आश्रित नहीं है अतः अन्त को भी प्राप्त नहीं होता । स्वतः सिद्ध अनादि से अपने विस्तार को स्वयं एक रूप से लिए हुए हैं ।। २३ ।।

एक साथ अर्थात् उभयनय में व्यवहार को गौणकर देखें तो यह एक रूप ही होता हुआ, पदार्थ समूहों से भरा हुआ है । ऐसा आपके अनन्त ज्ञान का माहात्म्य है । अर्थात् अनन्तपदार्थों से कलित होकर भी अपने ही निजरस रूप स्वभावसागर में ही भरित हुआ दिव्यरूप में दीप्तिमान रहते हो । अधिक क्या कहें आप पर पदार्थों से मिश्र हुए भी उनके द्वारा प्रभावित नहीं होते हो । वे पदार्थ तनिक भी आपपर अपना असर नहीं डाल सकते हैं । अतः आप उन्हें अपनी निर्मल ज्ञानोंत्पन्न स्फुरित किरणों में झलकाते हुए भी उनसे भिन्न रहकर अपने एक उपयोगमहारस में ही क्रीड़ा करते हो ।। २४ ।।

इस अन्तिम चरण में स्तुतिकार आचार्य श्री जिन स्तवन का फल प्राप्ति आकांक्षा से उस फल का स्वरूप निरूपण करते हैं । हे भगवन्! आपके सदृश यह अनन्त दर्शन-ज्ञान रूप उभय क्रिया मेरे अन्दर-आत्मस्वरूप में स्फुरायमान होवे । परम सहज स्वभावरूपावस्था प्राप्त उपयोगरूप रस प्रवाह जो अन्य से मिलकर भी मन्द न हो अपितु सदैव अमन्दतेज से चमत्कृत आपके सदृश मेरी भी अनन्त काल तक चमत्कृत होती रहे ।। २५ ।।

●

अध्याय 24

एकोऽनेकमपूर्णमतत प्रस्तीर्णगूढस्फुटं

नित्यानित्यमशुद्धशुद्धमाभितस्तेजो दधत्यद्भुतम्

दिव्यानन्तविभूतिभासिनि चिनिद्रव्ये जिनेन्द्रेऽधुना

मज्जामः सहज प्रकाश भरतो भातीह विश्वस्पृशि ॥1 ॥

एकस्या झमविक्रमैकरसिन स्त्रैलोक्यचक्रक्रम

क्रीडारम्भगम्भिरनिर्भरहठोत्कुल्लोपयोगात्मनः

आनन्दोत्कलिका भरस्फुटदतिस्पष्ट स्वभावस्य ते

नाधन्याः प्रपिबन्ति सुन्दरमिदं रूपं सुगुप्तं स्वतः ॥2 ॥

निःसिम्नोऽस्य भरात् स्खलद्भिराभितो विश्वस्य सीम्न्युज्ज्वलै

र्वल्गद्वल्गुनिराकुलैककलनक्रीडारसस्योर्मिभिः

चैतन्यामृतपूरनिर्भरभृतं स्फीतं स्वभावश्रिया

पीत्वेतत् तव रूपमद्भुततमं माद्यन्ति केनामन ॥3 ॥

एकः कोऽपि हठावरूद्धरभयस्फारप्रकाशस्त्वया

चिद्वीर्यातिशयेन केवल सुधापिण्डः किलोलोडितः

यस्याद्याप्यतिवल्गुवल्गनवलत्कल्लोल मालावली

त्रैलोक्योदरकन्दरा सति भरभ्रस्यद भ्रमं भ्राम्यति ॥4 ॥

दृग्बोधप्रतिमोपगूढविततत्रैलोक्यभारोन्मुख
व्यायामार्पित चण्डवीर्य रभसस्कारीभवज्ज्योतिष:
उच्चण्डोत्कलिका कलापबहला: सम्भूय मुञ्चन्ति ते
स्पष्टोद्योनविकाशमांसलरूचश्चैतन्य नीराजना: ॥5 ॥

एकस्योच्छलदच्छबोधमधुर द्रव्यात्मनोन्मज्जत:
कोऽनेकान्तदुराशय तव विभो भिन्धात् स्वभावं सुधी:
उद्गच्छद्भिरनन्तधर्मविभवप्राग्भारभिन्नोदयै
दैवायं यदि नाद्यत: स्वयमपि स्वादान्तरै: साधयेत् ॥6 ॥

भावाऽभावकरम्बितैकविकसद्भास स्वभावस्य ते
भात्युच्चैरनवस्थितोऽपि महिमा सम्यक् सदावस्थित: ॥7 ॥

चिन्मात्रं परिशुद्धमुद्धतरस प्राग्भार मेकं सदा
चिच्छक्ति प्रकरैरनेकमपिच क्रिडात्क्रमादक्रमात्
द्रव्याप्त्याऽपि निरूत्सुकस्य वसनाचित्पिण्डचिण्डत्विषि
स्वात्मन्यद्य तवेश शाश्वतमिदं तेजो जयत्येव न: ॥8 ॥

यत्स्वंद्रुतविवर्तवर्ति महसा द्रवयेण गुप्त्यायानि
पर्यायैरवकीर्यमाणमहिमा नावास्थिति गाहसे
एकोऽपित्वमखंडखण्डितनिजप्राग्भारधीर: स्फुर
चिद्धारोऽद्भुतमातनोषि परमं कस्येश नोत्पश्यत: ॥9 ॥

यन्नास्तीति विभासि भासि भगवन्नस्तीति यच्च स्वयं
भावाभावमयं ततोऽसि किमपि त्वं देव जात्यन्तरम्
भावाभावमयोऽप्यभाव महसा नाभावतां नीयसे
नित्योद्योतविकाशहासाविल सच्चित्पिण्डचण्डोद्गम: ॥10 ॥

विश्वाकारविकाश निर्भर परिच्छेद प्रभाभावना
दन्तर्गूढमपि प्रकाशमभितस्तत्तत्स्वभावश्रिया
भावभावपिनद्ध बोधवपुषि प्रद्योतमाने स्फुटं
त्वय्येतत् चितिवल्लिपल्लवतुलां त्रैलोक्यमालम्ब्यते ॥11॥

अन्तः स्वाभितसावधानहृदयैर्दैत्यासुरैस्तर्कित
श्चित्सङ्कोचविकाशविस्मयकरः कोऽयं स्वभावस्त्व
एकस्मिन् स्वमहिम्नि मग्नमहसः सन्त्योऽपि चिच्छक्तयः
स्वे स्फुर्त्या यदनन्त मेनदभितो विश्वं प्रकाश्यसिते ॥12॥

निष्कंपैकदृढोपयोगसकलप्राणार्पस्फोटिताः
स्पष्टाऽनन्तरुचः स्वशक्तयइमा विष्वक् स्फुटन्त्य स्तव
आज्ञस्य क्रमसन्निवेशवशतो विश्वं समस्तं मराद्
मान्त्योऽपि प्रसभावरूद्धरभसा लीयन्त एव त्वयि ॥13॥

दृग्ज्ञासिस्फुरतात्मनास्यऽनवधिः सान्तः प्रदेशश्रिया
देव ऽप्यवलिन भाति भवतस्तेनोपयोगात्मना
किन्त्वत्राऽपि निजप्रदेशनियतानन्तोन्नमत्केलयो
वक्ष्यन्त्यक्षतविघ्नस्मरचितदुल्लासाः स्वयं सान्तनाम् ॥14॥

मज्जन्तीवजगन्ति यत्र परितःश्चिच्चन्द्रिका सागरे
दूरोन्मग्न इवैष भातितदपि त्वय्यव मग्नसदा
लोकैकान्तनिमग्नपुण्यमहिमा त्वं तु प्रभो भाससे
भावानामचला विचिन्त्य महिमा प्रायः स्वभावोद्धुताः ॥15॥

स्वान्तः कुड्मलितेऽपि केवलकलाचक्रे क्रमण्यापिनि
क्रीडत्क्रोडगृहीतविश्वमहिमा कोऽयं भवान् भासने

लीनस्य स्वमहिम्नि यस्य सकलानन्तत्रिकालावली
पूजासङ्गमकरन्दबिन्दु कलिकाश्रेणिश्रियं गाहते ॥16॥

पूर्वश्चुम्बति नापरत्वमपरः पूर्वत्वमायाति नो
नैवान्या स्थितिरस्ति सन्ततभवत् पूर्वापरीभावत्
दूरोद्गच्छनन्तचिद्घनरसप्राग्भारम्योदय
स्त्वं नित्योऽपि विवर्त्तसे स्वमहिमं व्यासत्रिकालक्रमः ॥17॥

गम्भीरोदरविश्वगह्वरगुहासंवृतनित्योच्छ्वसत्
प्रोतालोत्कलिकाकलाप विलसत् कालानिलाद्दोलनात्
आरब्धभ्रमविभ्रमभ्रमकृतव्यावृत्ति लीलायितै
रात्मन्येव विर्तिमेति किल तेचिद्वारिपूरः स्फुरनः ॥18॥

अन्तः क्षोभभरप्रमायविवश व्याघूर्णन व्याकुला
वारवारमनन्तताडवभवद्विश्वस्वभावान्तराः
कालास्फालज्वलचलत्कलाजला: कलयसि स्वामिन् सदातूलव
चितत्वाञ्छलिते कचण्डिमगुणाद् द्रव्येण निष्कम्पितः ॥19॥

स्वैरेवोल्लसितैरनन्तविततज्ञानामृतस्पन्दिभि
स्तृप्यन् विश्वविसर्पिपुष्कल दृशासौहित्यमस्यागताः
सान्द्रानन्दभरोच्छलन्निजरसाऽस्वादार्द्रमाद्यन्महाः
स्वस्मिन्नेव निराकुलः कलयासि स्वामिन् सदैव स्थितिम् ॥20॥

निष्कर्तृत्वनिरोहितस्य सततं गाढोपयोगग्रह
ग्रस्तानन्तजगत्मयस्य भवतोऽप्यन्येन कार्यं न ते
शुद्धैका स्खलितोपयोगमहसः सोऽयं स्वभावः किल
ग्राह्याकार कराम्बितात्मवपुषः साक्षाद् युद्धदीक्षणम् ॥21॥

उद्दामोद्दमनन्तवीर्यपरमव्यापारविस्तारित
स्फारस्फार महोर्मिमांसलदृशाचक्रे तव क्रीडति
आक्रम्याकुल कृष्टमर्ममहिमप्रोत्तानितां नास्त्विषो
भावानां ततयो निरन्तरमिमामुच्छ्वान्ति जीयं किल ॥22॥

दृग्बोधैक्यमहोपयोग महसि व्याजृम्भमाणे भित
स्तैक्ष्ण्यं संदधतस्तवेश रभसादत्यन्तमुद्यन्त्यम्ः
विश्वव्याप्तिकृते कृताद्भुतरस प्रस्तावनाडम्बरा
दूरोत्साहितगाढवीर्यगरिमव्यायाम सम्मुच्छना: ॥23॥

निष्कम्पा प्रतिघोपयोग गरिमा वष्टम्भसम्भावित
स्वात्माराम महोदयस्य भवत: किं नाम निर्वर्णने
यस्याऽद्यापि मनागुदञ्चिद चलज्ञानञ्चल क्रीडया
हेल्लाऽऽन्दोलित माकुलं तत इतो विश्वं बहि घूर्णति ॥24॥

उत्सडोच्छलदच्छकेवलपय: पूरे तवध्यायासि
स्नातोऽत्यन्तमतन्द्रितस्य सतत नोत्तार एवास्तिमे
लीलान्दोलित चिद्विलासलहरीभार स्फुटास्फालना
क्रीडाजर्जरितस्यशीनक्षियवदविष्वगविलीनात्मनहा ॥25॥

पाठ- २४

हे जिनेश्वर देव ! इस समय आपकी चित् शक्ति चिति में दिव्य, अनन्त विभूति रूपी वैभव अमित तेज धारण कर प्रकाशित हो रहा है। यह शुद्ध, निर्मल स्वरूप अनेक शक्तियों का आकार है। यथा एक-अनेक, अपूर्ण-पूर्ण, संकुचित-विस्तृत गूढ़-स्पष्ट, नित्य-अनित्य, अशुद्ध-शुद्ध, आदि। ये विरोधी जैसे होते हुए भी आपके अनेकान्त सिद्धान्त, स्याद्वाद दर्शन से निर्विरोधी होकर समाहित हो जाती हैं ॥ १ ॥

आपका सर्वज्ञस्वरूप अक्रमपने से एक रसरसैन युक्त होने से, क्रमिकपर्यायों के चक्र द्वारा क्रीड़ारम्भ-अनेकरूप हो। घनरूप से एक उपयोगस्वभाव से प्रफुल्ल होने से गम्भीर है। आनन्द रस से भरे होने से एकोपयोगी अतिस्पष्ट हो, आपका यह स्वभाव कभी भी हीन नहीं होता। निरन्तर आनन्द रस उत्फुल-उछलता ही रहता है। इस सुगुप्त, सुन्दर रूप को बारम्बार पीते ही रहते हैं। अतः स्वतः स्वभाव से आप्यायित रहते हैं। यही आपका सुगुप्त स्वरूप है ॥ २ ॥

आपका स्वरूप असीम धाम से भरा होने से, सीमाहीन है। चारों ओर से परिवर्तनशील होने से ससीम है। उज्जवल उत्साह से उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होने से सीमा प्रमाण सिद्ध होता है। निराकुल एक स्वभाव रस में क्रीड़ा करने से चैतन्य सुधारस भरित सागर में उत्थित पर्याय रूप तरंगों से अनेकरूपता धारी भी हैं। इस प्रकार चैत्यामृत से परिपूर्ण हुयी पुष्ट स्वभाव लक्ष्मी आपके अद्भुततम रूप को पी-पी कर ठोस एवं पुष्ट है। इसके निरन्तर अमित तेज को कौन अमन्द कर सकता है? संसार की कोई शक्ति क्षीण नहीं कर सकती ॥ ३ ॥

हे प्रभो! कोई भी एक चिरन्तन, विस्तृत, पुष्ट प्रकाश पुञ्ज आपके द्वारा धारण किया गया है। वह निर्द्वन्द, अविरुद्ध, निर्भय चैतन्य के वीर्य के अतिशय से निष्पन्न एक मात्र सुधापिण्ड ही निश्चय से प्रसर रहा है, आलोडित होता है। आज भी जिसकी अति भीषण गर्जना के बल से निर्द्वन्द हुयी तरंगावलि तीनों लोकों की उदरकन्दरा में अति निर्भय, भ्रम त्याग घूम रही है। अर्थात् इस आपके आनन्द सुधारस में लीन हुआ तीनों लोक गुफासमान प्रविष्ट हुआ भ्रमण करता है समाहित रहता है ॥ ४ ॥

असीम दर्शन, ज्ञान से सुदृढ़रूप गूढ़ रहस्य को विस्तृत कर तीनों लोकों के भार के उन्मुख- अर्पित हुयी प्रचण्ड वीर्य वेग से संस्कारित होती हुयी ज्योति के अत्यंत स्फुलिंग प्रचण्ड रूप से चिनगारियों समूह से परिपूर्ण होने से विस्तार रूप से किरणों को फेंक रही हैं। अर्थात् आपके ज्ञानरूप अमर रविरश्मियाँ स्फुलिंगों रूप में चारों ओर समन्छुत हो रही हैं। प्रज्वलित ये किरणें स्पष्ट प्रकाश से विकसित पुष्ट चैतन्य रूप की आरतियाँ ही हैं। अभिप्राय यह है कि निस्पन्द आपकी ज्ञान ज्योति पुञ्जरूप होकर अग्नि स्फुलिंगों को आपके चारों ओर बिखेर कर अनेक दीपों से आरती कर रही है। चैतन्य स्वरूप आपकी आभा ही अनेक रूप हो रही है ॥ ५ ॥

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा एकरूप से उछलता हुआ शुद्ध निर्मल ज्ञान आत्मोत्थ मधुर ज्ञानामृत में प्रकट प्रकाशित है। अर्थात् आत्मा एक ज्ञानघन स्वरूप अखण्ड है। आत्मा के इस ज्ञानमय अखण्ड एकत्व को कौन सुबुद्धिसम्यग्दृष्टि एकान्त दुराशयी हो खण्डित करे? हे विभो! आपके इस एकत्व स्वभाव को भेदन करने वाला कोई भी विद्वान नहीं है। इसमें अनन्तधर्म रूप वैभव समाया हुआ है। यह स्वभाव प्रकटरूप से व्याप्त अनादि है। भेदरूप होने पर भी एक रूप ही भासता है। यह अनादि स्वभाव है वर्तमान आज से नहीं। यदि हे देव! यह सादि होता तो स्वयं भी अनेक

भिन्न-भिन्न स्वादों को साधता । एक ही ज्ञानानन्द स्वाद का अनुभव आप कर रहे हैं । अतः आपकी एक अखण्ड धारा का एकान्त नित्यानित्य का दुराशय खण्डन नहीं कर सकता ॥ ६ ॥

दर्शन-ज्ञानादि अन्योन्यात्मक रस से एकरूप के समान मिश्रित स्वभाव भाव और अभाव की अपेक्षा अनेक रूपों को धारण करते हुए भी विकसित मुख्यरूप करने से हे देव! वे आपके अनेक स्वभाव गौण होने से आप एक रूप ही प्रकट प्रकाशित होते हैं । आप अनन्त विरुद्ध धर्मों को अपने में समाहित किये हैं । इन स्वभाव समूह द्वारा भिन्न-भिन्न स्वरूप से उदीयमान होने पर भी आप अनेकान्त सिद्धान्त से गौण-मुख्य विवक्षाओं के क्रमिक प्रयुक्त करने पर एक गुण मुख्य और अनेक शेष गुण गौण हो जाते हैं । अतएव अनवस्थित-अनेकावस्था रूप होकर भी आप एक रूप अवस्थित भी हैं । यह आपकी सम्यक् व्यवस्था सदैव स्थित रहती है । अतः आपका स्वभाव द्रव्य न तो एकान्त से एक रूप ही है और न अनेक ही । अपितु विवक्षा वशात् एक भी है और अनेक भी । एकानेक है ॥ ७ ॥

हे ईश! आपका ज्ञानालोक, क्रम और अक्रमरूप से आप में विलास करता है । यह चैतन्य मात्र है । यह परम विशुद्ध, उद्दाम चिदानन्द रस से परिपूर्ण प्राग्भार से सतत् एक रूप है । तथा अपनी ही चिद् शक्ति के प्रसार द्वारा अनेक रूप भी होता है । द्रव्यार्थिक नया अपेक्षा स्व द्रव्य-शुद्धात्मतत्त्व प्राप्त होकर भी निरुत्सुक है । अतः इसका वस्त्र चित् चैतन्य का पिण्ड है । यह भी अपने प्रचंड तेज में ही समाहित है । हे परमेश्वर अर्हन् जिन यह प्रकाश पुञ्ज आप भी अपने स्व स्वभाव भरित शाश्वत रूप में विराज मान है । इसी प्रकार यह तेज स्विता हम लोगों के लिए जयशील हो, विजयी ही रहे । इस श्लोक में श्री गुरुवर्य आचार्य देव आशीर्वादात्मक जिन ज्ञान

ज्योति का स्तवन कर रहे हैं । कारण स्वयं अपनी ज्ञानज्योति को इसके माध्यम से जाग्रत करना चाहते हैं ॥ ८ ॥

भगवन् आपकी विशाल ज्ञानकला ज्योत्सना सम्यक् चारित्ररूप पर्याय को धारण करेगी । उस समय अधिक तेजस्विनी हो स्वद्रव्य में अपने को सुरक्षित करती है । विविध पर्यायों द्वारा विविधरूप धारण कर भी महान् तेजस्वी हुयी भी अवस्थिति-एकान्तेन स्थिरता को धारण नहीं कर पाती । हे धीर ! आप एक अखण्ड चित्पिण्ड होकर भी अपने स्वभाव भाव से भरित अनेक रूप भी होते हैं । इस चैतन्य स्वभाव इस अद्भुत महिमा को विश्वव्यापी बनाने वाला आत्मतत्त्व किसका है, यह देखा नहीं जाता । अभिप्राय यह है कि चैतन्य चित्स्वभाव हे ईश! किसी का भी विषय नहीं बनता, कारण इतनी सूक्ष्म गंभीरता प्राप्त है कि किसके भी द्वारा नहीं देखने आती । क्यों कि यह अतिसूक्ष्म, सर्वव्यापी होकर भी सर्वसाधारण का विषय नहीं होती ॥ ९ ॥

यह ज्ञानज्योति पुञ्ज प्रकाशित होता है तथा प्रकाशित-प्रकट नहीं होता है । हे भगवन्! यह आप द्वारा प्रतिपादित तत्त्व का स्वरूप है । यतः क्यों कि यह भाव (उत्पाद या सद्भाव) और अभाव (यानि नाश) भी उपलब्ध होता है । इसलिए यह तत्त्व सद्भाव और असद्भावरुप धर्मो से संयुक्त है । इस प्रकार सत् और असत्स्वरूप को धारण कर भी अभाव रूप प्राप्त नहीं होता । अपितु नित्य ही - निरन्तर प्रकाशि होता हुआ ही है । इस अविरल रूप निरंतर प्रकाशित ज्ञानधारा में संलीन एक अखण्ड धारा से सिंचित हुयी निज स्वभाव धारा परिणत हुयी चैतन्य पिण्ड, उग्र चेतना रूप वृक्ष आनन्द रस विलास द्वारा अभिसिञ्चित होता हुआ सञ्चित स्व सभाव शक्तियों युक्त चैतन्य-पिड स्वरूप महीरुह है ॥ १० ॥

यह परिच्छेद रूप अनन्त ज्ञान जगताकार विकास भाव से परिपूर्ण ज्ञातृत्व शक्ति से अन्तरंग ज्ञानभाव से अति गूढ होता हुआ भी अमित प्रकाश

वाला प्रकाशित होता है । तथा अशेष विश्व को भी अपने निर्मल स्वभाव में आरोपित कर प्रकाशित करता है । तथाऽपि समस्त विश्व के तत्त्व अपने स्वभाव में निज शोभा स्वभाव भाव का आश्रय लिये ही रहते हैं । अशेष पदार्थ अनंत विश्वव्यापी ज्ञानशरीर में प्रविष्ट हुए प्रकाशित होते हुए स्पष्ट रूप से स्फुरायमान होते हैं । हे प्रभो! इस प्रकार यह चैतन्य वल्लरी पल्लव रूपी तुल को तीनलोक को मालारूप से आलम्बित करती है । अर्थात् सम्पूर्ण विश्व को यथा - तथा सुनिश्चित शाश्वततया स्वरूप निर्धारित करती है ॥ ११ ॥

हे भगवन् सावधान - उत्साही हृदय धारी देव, व असुरों द्वारा तर्कित-तर्कना करने पर संकोच व विकासरूप शक्ति युक्त चित् स्वभाव आपका क्या है ? नाना तर्कों से भी अगम्य कैसा आश्चर्यकारी यह आपका चैतन्य स्वभाव है । एक ही स्व महिमा में निविष्ट महातेज स्थित होने पर भी अपनी चैतन्य अनेक शक्तियों को स्फुरायमानकरता हुआ यह अनन्त और अमित-असीम विश्व को प्रकाशित करता है । यह कौनसी आपकी अनोखी चित्कला है ? यह क्षायोपशमिकज्ञान से सतत, सदैव अगोचर ही है ॥ १२ ॥

हे भगवन् ! निष्कम्प, एक और दृढ़ उपयोग को सम्पूर्ण-सामान्य से अर्पित किये जाने पर स्पष्ट रूप से सम्पूर्ण शक्तियों युक्त द्रव्य प्रतिभासित होता है । क्योंकि प्रमाण अनन्तशक्तियों को भिन्न-भिन्न होने पर भी समुदाय रूप से ही ग्रहण करता है । तथा क्रमिक पर्यायों से समस्त परिपूर्ण विश्व को भिन्न-भिन्न रूप से प्रकट करता है । परन्तु ये गुण द्रव्य - पर्याय अपेक्षा अभिन्न-भिन्न रूप प्रतिभासित होते हैं । यथार्थ में एक रूप ही द्रव्य है क्यों कि इनमें प्रदेश भिन्नता नहीं है । समस्त गुण-पर्यायें वेग-प्रवाह को अवरूद्ध कर एक द्रव्य स्वरूप आपमें लीन हो जाती हैं । इस प्रकार एकानेक रूप

से जगत् आपके बोध स्वभाव में अर्पित हुए प्रतीत होते हैं । यह व्यवस्था द्रव्यार्थिन नय और पर्यायार्थिक नय अक्रम - क्रम रूप से स्पष्ट सिद्ध करते हैं ॥ १३ ॥

असीम, अनन्त दर्शन, ज्ञान शक्तियाँ आत्मा से आत्मा के द्वारा आत्मा अनन्त-अनादि रूप से 'चित्' शक्ति से पूर्ण रूप से स्फुरायमान हो रही हैं, तथाऽपि स्व प्रदेश रूप लक्ष्मी में जब तक हैं, सीमित ही है । हे देव! यदा-कदा यह परिणमित हुयी शोभती है । आपका उपयोग इसी कारण आत्मरूप से प्रतिभासित होता है । किन्तु इस प्रकार होकर भी अपने आत्म प्रदेशों में व्याप्त अनन्तोऽपि सीमित रूप भी है । क्यों कि अपने केवल ज्ञान में क्रीडा करती है । अक्षय रूप विश्व व्यापी प्रताप चैतन्य उल्लासों से स्वयं सान्तपने को भी द्योतित करती शोभा पाती है । संसार के पदार्थ क्रमिकरूप से परिणमन करते हुए इस चैतन्योपयोग में प्रतिबिम्बित होती रहती है ॥ १४ ॥

हे प्रभो! आपकी चिद्चन्द्रिका सागर में अशेष तीनों लोक सर्वओर से व्याप्त हो रहे हैं, निमग्न हो रहे हैं । अत्यन्त असीम काल पर्यन्त समाये रहने पर भी यह स्वयं तो आप ही में निमग्न रहती है । आपमें अति गहराई में समाई हुई है । तथाऽपि आपकी पुण्य महिमा अलौकिक है जिसमें लोक एकान्तिकरूप से प्रतिभासरूप से समाया रहकर भी यह माहात्म्य आपमें ही प्रविष्ट हुआ प्रकाशपुञ्जरूप प्रतिभासित होता है । इस प्रकार हे प्रभो! आपकी महिमा माला निश्चल, अचिन्त्य प्रायः स्व स्वभावोद्भूत ही है । चैतन्य उर्मियाँ अपने ही चित् सागर में लीन रहती हैं । यह आपका प्रभाव महान अचिन्त्य है ॥ १५ ॥

अन्तः करण में कलीरूप को प्राप्त होती हुयी भी केवलज्ञान रूप घनाकार-ठोस हुयी सी प्रतिभासित होती है । क्रीडा करती हुई भी निश्चल

ज्योति स्वरूप यह कौन अद्भुत महिमा है जो समस्त विश्व को आत्मरूप से ग्रहण करने वाली चेतना शक्ति है जो स्व तथा पर दोनों ही जिसके प्रभाव से प्रभावित हुए त्रैकालिक वस्तु की अनन्त पर्यायमालाएँ एकसाथ, एक ही समय में मकरन्द विन्दु सदृश समाविष्ट हो रही हैं । हे भगवन् अपूर्व, अनंत हैं । अभिप्राय यह है कि आपके स्वभाव में चित्कला पंकज में निहित पराग सदृश समाविष्ट हुई भी विश्वव्यापी हो रही है ॥ १६ ॥

आपकी चित् स्वभाव महिमा पूर्वापर क्रम से आपके परिणमन नहीं करती है । तथा पूर्व पर्याय अन्य हो और अपर भिन्न हो इस प्रकार भी प्रतिभासित नहीं होती है । अन्य प्रकार भी कोई स्थिति नहीं है । निरन्तर ही यह तो पूर्वापर सम्बन्ध से व्याप्त एकत्व पने से ही परिभाषित प्रकाशित होती है । अनादि से तद्रूप होती हुई यह अनन्त काल पर्यन्त अपने अनन्त ज्ञान घन स्वरूप से वर्तन करती हुयी सुरम्य रूप से दीप्तिमान थी, है, और रहेगी । इस प्रकार हे भगवन् आप नित्य होकर भी अपनी चिद् पर्यायों से परिवर्तित भी हो । इस प्रकार अपने निज स्वभाव में भरित हुए आप त्रिकाल क्रम से भी व्याप्त रहते हो ॥ अर्थात् निजस्वभाव स्थित हुए परिवर्तन शील पदार्थों के भी ज्ञाता रहते हो ॥ १७ ॥

संसार रूप गहन, गम्भीर एवं गूढ रूप संसार कन्दरा में संवृत हुए भी नित्य अपने स्वभाव में प्रकाश किरणों से व्याकीर्ण होते हुए भी निज स्वभाव रत रहते हो । उत्ताल तरंगों से तरंगित संसार कलिकाकलापों के विलास-हास में उन्मज्जन - निमज्जन करते हुए कालरूप वायु वेग के झकोरों से आन्दोलित भी होते हो । प्रारम्भित क्रम व अक्रम विभ्रम से भ्रमित किये जाने पर भी परिवर्तनशील इन लीला समूहों द्वारा ताडित भी किये जाते हो । परन्तु तो भी निश्चय से अपने ही अविचल आत्म स्वभाव में ही रमण करता हुआ आपका चैतन्यनीर का पूरे-वेग से उछलता अपने ही चैतन्य रस में स्फुरायमान

होता है। अभिप्राय यह है कि परिवर्तनशील संसार की समस्त शुभाशुभ गतियाँ अपने प्रभाव से आप में प्रविष्ट होती हैं परन्तु आपको तनिक भी स्पर्श नहीं कर पातीं। ऐसा अपूर्व है आपका चैतन्य स्वभाव ॥ १८ ॥

हे प्रभो! संसारी प्राणी निरन्तर अन्तकरण से क्षुभित हुआ, प्रमादवशीकृत व्याकुल हुआ घूम रहा है। बारम्बार इस लोक में नानापर्यायों में भयंकर ताण्डव नृत्य करता हुआ स्व स्वभावच्युति से भ्रमण कर रहा है। विभाव परिणति के वशीभूत होकर कालानल से प्रज्वलित हुआ छटपटाता चञ्चल अशान्त हो रहा है। इस प्रकार संसार उदधि में तूल-रुई के समान ८४ लाख योनियों में तैर रहा है। एक आप ही अपनी चित्कला में अचलित हुए अपने शुद्ध चैतन्य स्वभावोदय कर उसी में स्थित हुए निष्कम्प हुए हो ॥ १९ ॥

हे स्वामिन् ! आपकी चैतन्यपूर्ण ज्ञान प्रभा अनन्त दर्शन के साथ मैत्री भाव को प्राप्त अत्यन्त पुष्ट हो गई है। अतः विश्वव्यापी हुयी प्राणीमात्र को तृप्त करती हुयी अपने स्वानुभूति रूप, स्वसंवेदन से निःसृत अनन्त ज्ञानसुधारस आप्यायित स्व स्वभाव में उल्लसित हो ज्ञानामृत का निर्झर प्रवाहित कर रही है। निश्छिद्र सघन आनन्दघन भरित अमर तरंगों से भरित निजरस से भरी उसी रस से स्वयं को आर्द्रकर निमग्न हो रही है। हे प्रभो! यह अपने ही महान तेज से स्वयं में ही प्रकाशित निराकुलतानुभवकरती हुयी चिरन्तन् स्थिति प्राप्त हो गई है। अतः अनन्त काल पर्यन्त इसी निर्विकल्प अवस्था में विराजमान रहेगी ॥ २० ॥

आप निरन्तर एक मात्र स्वोपयोग ज्ञान-दर्शन लीन निरीहवृत्ति-वाञ्छारहित शुद्ध स्वभाव रत हैं। अतः आप कृतकृत्य हो गये हैं। अब कर्तृत्व पना सदैव को समाप्त हो गया वीतरागी होने से। यद्यपि

अनन्त जगतत्रय आपके उपयोग में आ रहा है, परन्तु इससे आपको कुछ प्रयोजन ही नहीं है। अतः कार्य करना ही नहीं है। क्योंकि अब शुद्ध एक अविचल उपयोग का महान प्रकाश ही आपका स्वभाव हो गया है। यही उपयोग ग्राह्य आकार नानापने से आपमें खचित हुआ आत्मशरीर का साक्षात् ज्ञानाकार मात्र ही है जो अपने ही में निष्ठ अपना ही साक्षात्कार करता है ॥ २१ ॥

अनन्त ज्ञान व अनन्त दर्शन की स्थिति को स्थायी, अचल स्वरूप में स्थिर रखने वाला अनन्त वीर्य अपने उद्दाम रूप से प्रकट हुआ है। यह अपने व्यापार को विस्तृत कर आपकी दृशि शक्ति को स्फालित-विस्तृत करता हुआ निर्द्वन्द क्रीडा कर रहा है। इससे अनन्त आनन्द रस में पुष्ट हुयी उत्ताल तरंगें ही आप में क्रीडा करती हैं। तथा बाह्य अनन्त पदार्थों व भावों-विभावों विस्तृत, विशाल सेना को परास्त कर आकुलता के मर्म भेदी कष्टों से जीव को निरंतर मुक्त करती हैं। अर्थात् रागद्वेष की उत्पत्ति के कारण पर भावों का अभाव कर निराकुल सुख शान्ति में जीव को स्थित करती हैं। क्योंकि पदार्थ ही रागद्वेषोत्पादक हैं, जो आकुलता उत्पन्न कर स्व-स्वभाव भूत सुखानन्द का घात करते हैं॥ कारणाभाव से कार्याभाव भी सुनिश्चित होता ही है ॥ २२ ॥

अनन्त दर्शन ज्ञान के एकाकार रूप महान उपयोग का विशाल तेज है। इसमें व्याप्त होने पर अति तीक्ष्णता को धारण करता हुआ हे ईश! आपका प्रभाव व ज्ञानास्त्र अतिवेग के साथ अत्यन्त उद्यमशील हो गया है। विश्व को अपने प्रभाव में व्याप्त कर अद्भुत रस की प्रस्तावनारूप आडम्बर को अतिनिरुत्साह कर दिया। अर्थात् क्षणिक सांसारिक इन्द्रिय जन्य सुखाभास को आपने प्रगाढ़ अनन्त वीर्य द्वारा समुच्छिन्न कर वीर्य गरिमा को ही पुष्ट किया। संसारोत्पादक कर्म शक्ति को पूर्णतः सम्मूर्छित कर दिया ॥ २३ ॥

हे भगवन्! आपकी निष्कम्प, अप्रतिघातक उपयोग की गरिमा के आश्रय को प्राप्त आत्माराम - आत्मानन्द महोदय के प्रभाव का क्या कहना? वह तो अवर्णनीय है। कौन उसके वर्णन में समर्थ हो सकता है? कोई भी नहीं। जिसका आज भी अन्तर्व्यापी गूढ़, अचल चिद् ज्ञान क्रीडा द्वारा, आकुलोत्पादक, निरन्तर क्रीडा मात्र से आन्दोलित विश्व-संसार इससे परे ही भीत हुआ भटकता है। अभिप्राय यह है कि भगवन्! आपके अप्रमित प्रभाव से भय प्रकम्पित संसार आपके सम्मुख आ ही नहीं सकता है ।। २४ ।।

समस्त बाह्याडम्बर त्याग से उच्छलित केवल ज्ञान के वेगशाली प्रवाह में आप प्राप्त हो चुके। उसी में स्नान किया। अत्यन्त प्रमाद हीन हो पूर्ण जाग्रति के साथ मैं भी उसी में निरंतर नहीं तैर सकता क्या? मेरा चिद्विलास तरंग लीला से आन्दोलित तरंगों के स्पष्ट भार से जर्जरित हो रहा है। आचार्य श्री प्रार्थना करते हैं कि विभावो की तरंगों में उलझा मेरा निज स्वरूप नष्ट नहीं हुआ है, अपितु अपने आत्मस्वभाव में डूब कर विलीन छुपा हुआ है। अतः वस्तु तत्त्व का सर्वथा नाश न होकर तिरोभाव व आविर्भाव होता रहता है, पर्यायों की अपेक्षा। अस्तु, मेरा भी विश्व व्यापी ज्ञान स्वभाव संकुचित होकर शरीर कारागार प्रमाण हो रहा है। इसका कारण मेरा ही प्रमाद व अज्ञान भाव है। हे प्रभो! आपके प्रसाद से मेरा भी अज्ञान व प्रमाद नष्ट हो यही महती भावना है।। २५ ।।

●

अध्याय 25

स्पष्टीकृत्य हठात कथ कथमपि त्वंयत् पुनः स्थाप्यते
स्वामिन्नुत्कटकर्मकाण्डरभसाद भ्राम्यद्भिरन्तर्बहि
तद्देवैक कलावलोकनबल प्रौढीकृत प्रत्ययै
स्तुङ्गोत्सारगलत्स्वकर्मपटलैः सर्वोदितः प्राप्यसे ॥1 ॥
देवावारकमास्ति किञ्चिदपि ने किञ्चिजगम्य न यद्
यस्यासौ स्फुट एव भाति गरिमा रागादिरन्तर्ज्वलन्
तद्धातायातपश्यतामहरहश्चण्डः क्रियाडम्बरो
स्पष्टः स्पष्ट समामृतस्तव किल स्पष्टतत्वहेतुः क्रमात् ॥2 ॥
पूर्वा संयम सञ्चितस्य रजसः सद्यः समुच्छित्तये
दत्त्वादुर्द्धरभूरिसंयमभरस्योरः स्वयं सादराः
ये पश्यान्ति बलाद विदार्यकपटग्रन्थिंश्लथत्कस्मता
स्ते विन्दन्ति निशातशक्ति सहजावस्थास्थमन्तर्महः ॥3 ॥
ये नित्योत्सहनात कषायरजसः सान्द्रोदयस्पर्द्धक
श्रेणीलङ्घ नलाधवेन लघयन्त्या त्मानमन्तर्बहिः
न विज्ञानघनीभवनि सकलं प्राप्य स्वभावं स्वयं
प्रस्पष्टस्फुटितोपयोगरिमग्रस्वीकृतात्मश्रियः ॥4 ॥

बाल्याद्ङतः परिवृत्तिपात्रविलसत् स्वच्छन्ददृक्सम्विदः
श्रामण्यं केवलं विगाह्य सहनावस्थां विपश्यन्ति ये
पूर्वावाप्तमपूर्वतां सपदि ते साक्षान्नयन्तः समं
मूलान्येव लुनन्ति कर्मकुशला कर्मद्रुमस्य क्रमात् ।।5 ।।
ये गृह्णन्त्युपयोगमात्मगरिमग्रस्तान्तरूघदुण
श्रामण्यं परितः कषायकषणादव्यग्रगाढग्रहाः
ने तत् तैक्ष्ण्य मखण्डपिण्डितनिज व्यापारमारं श्रिताः
पशन्ति स्वयमीशसानत महसः सम्यक् स्वतत्त्वाद्भुतम् ।।6 ।।
चित्सामान्यविशेषरूप मितरम् संस्पृश्य विश्व स्वयं
व्यक्तिष्वेव समन्नतपरिणमत् सामान्यमभ्यागताः
अन्तर्बाह्यगम्भीरसंयमभराम्भस्फुरज्जागराः
कृत्यं यत्तदशेषमेव कृतिनः कुर्वन्ति जानन्ति च ।।7 ।।
चित्सामान्यमुदञ्चय किञ्चिदभितो न्यञ्चन्निजव्यव्यक्तिषु
स्पष्टीभूत दृढोपयोग महिमा त्वं दृश्यसे केवलम्
व्यक्तिभ्यो व्यतिरिक्तमस्ति न पुनः सामान्यमेकं चिद
व्यक्ताव्यक्तिभरः प्रसहय सभसाद् यस्याशयाऽपोह्यते ।।8 ।।
बाह्यार्थं स्फुटयन स्फुटस्य हरहस्त्वं यत् स्वभावः सते
दृष्ट केन निरन्धनः किल शिखी किं ापि जातु ज्वलन्
बाह्यार्यं स्फुटयन्नपि त्मतभितो बाह्यार्थभिन्नदयः
बाह्यार्यं स्फुटयन स्फुटस्य इरइस्त्वं यन् स्वभावः सते
दृष्ट केन निरन्धनः किल शिखी किं कापि जातु ज्वलन्

बाह्यार्थं [illegible]न्नपि [illegible] [illegible]:

प्रस्पष्टा स्फुटितोपयोगमहसा सीमान्तितः शोभसे ।।9 ।।

बाह्यार्थान परिहृत्य तत्त्वरसनादात्मानमात्मात्मना

स्वात्मारामममुं यदीच्छति भृशं शङ्कोच कुब्जोऽस्तुमा

क्षिप्यन्नं प्रसभं बहिर्मुहुरमुं निर्मथ्य मोहग्रहं

रामद्वेषविवर्जितः समदृशास्त्वं सर्वतः पश्यतु ।।10 ।।

दृष्टोऽपि भ्रमकृत् पुनर्भवसि यद्दृष्टिबहिर्न्यस्तः

कस्यापि स्वककर्मपुद्गलबलक्षुभ्यत त्विषस्त्वं पशोः

नेनैवोत्कटपिष्ट पेषणहठभ्रष्टं स्वकर्मेच्छवः

सम्यक् स्वोचितकर्मकाण्डघटना नित्योद्यता योगिनः ।।11 ।।

यमग्रामविनिग्राहाय परमः कार्यः प्रयत्नः पर

योगानां फलकृन्न जातु विहिनो गावग्रहान्निग्रहः

सस्पन्दोऽपि विरज्मान महिमा योगी क्रमान्मुच्यते

निष्पन्दोऽपि सुषुमवन् मुकुलिनस्वान्तः पशुर्बध्यसे ।।12 ।।

कर्मस्थः कृतिनः क्रमाद विरमतः कर्मैव नावद्गति

यचिद्गर्नितरज्जुवत् स्वयमसौ सर्वाङ्गमुद्गर्नते

लब्धज्ञानधनाद्भुतस्य तु वपुर्वाणी मनोवर्गणा

यन्नस्पन्दिनमात्रकारणतया सप्योप्य सत्योऽस्य माः ।।13 ।।

निष्कम्पेहृदि भारितस्य न बहिर्वल्गग्रहस्तम्भित

क्ष्युम्यजात्यहरेति वोग्रतरसः स्तम्भेऽपि निष्कम्पता

रतम्भेनापि विनैव पङ्गु पदविमायाति यस्मिन् मन

स्तत् किञ्चित् किल कारणं कलयतां भासि त्वमेव स्वयम् ।।14 ।।

छायास्पर्शरसेन शान्तमहसो मत्तप्रभत्ताशया:
श्रामण्या द्विपमलिनेन पतितास्ते यान्ति हिंसो पुन:
आक्रम्या क्रमयाकदग्धरजोस स्फूर्य त्स्वभावाद्भुते
कर्मज्ञानसमुच्चयेन रमने येषां मति: स्वैरिणी ॥15॥
सामान्यं क्षणमुन्नमय्य सपदि प्रक्षीणनैश्चय्य: समं
सामान्यान्निपतन्न अर्जितनिजर्व्या ष्वबद्धादरा:
एते घर्घरघोरघोषसरलश्वासनिलैबालिशा
एकाग्र्यं पविज्ञय मोहपिहिता दु:शिक्षया शेरते ॥16॥
तीक्ष्णं तीक्ष्णामिहपयोगमचलस्यावलम्बनबद्धोद्धनं
साक्षात खण्डित काल खण्डमनिशं विश्वस्य ये विभ्रति
ते भूवार्थविमर्शसुस्थितदृश: सर्वत्र सन्त: समा
श्चित्सामान्यविशेष सम्भृतमतिस्पष्ट स्वमध्यासज्ञे ॥17॥
अत्यन्तदृढितोपयोगनबिडग्रस्तश्रुतज्ञानभू
र्भूयोभि: सम संयमामृतर सैर्नित्यभिषिक्त: कृती
एक: कोऽपि हठप्रहारदलित ध्वांन्त स्वतत्वं स्पृशन
विश्वोद्भासि विशालकेवल महिमाक्रम्य विभाम्यति ॥18॥
आजन्माऽनुलब्ध शुद्धमहमा: स्वादस्तावासी स्फुट:
सर्वाङ्ग मदयत् प्रसहय कुरूते काप्र प्रमादस्पदन
माद्यन्नोऽपि निशानसंयमारूयो नैव प्रमाद्यन्निये
नेषामेव समुच्छलस्य विकल: काले विलिनैनसा ॥19॥
यन्मिथ्याऽपि विभाति वास्त्विह बहि: सम्यक् तदन्तर्जव
भारूपं न विपर्ययस्य विषयो ख्यार्हि साऽप्यात्मन:

साक्षात क्षीणमलस्य गोचरमिते सम्यग्बहिर्वस्तुति
व्यक्तिश्चेन परिवर्तते किमनया ज्ञानस्य नाडजानता ॥20 ॥
अन्तर्बाहविचार्ने किञ्चिदपि यद् रामादि रूपादि वा
तत्कुर्वन्न विशेषत: सममपि ज्ञानानलस्येन्धनम्
विश्वेनपि घृतप्रभेवपुषा शेषेण संधुक्षित:
साक्षाद् वक्ष्यति कस्मलं सनरस: शश्वतप्रभ।साज्वलन् ॥21 ॥
लब्धज्ञानमहिम्न्य खण्डचरित प्रागभार निस्तेजनान्
न्यस्यत् सञ्चिनकश्मले मनसि न: शुद्ध स्वभावस्पृशि
अत्यन्ताद्भुतमुत्तरोत्तरलसद् वैसद्यमुद्योतिभि:
प्रत्यग्रस्फुरितै: प्रकाशमभितस्तेजोऽन्यदुज्जृम्मने ॥22 ॥
ये साक्षात् प्रतिभान्ति कल्पषमषी प्रक्षालयन्तोऽखिलां
दूरोन्मग्नविचित्रसंयमरसश्रोतस्विनी सङ्गमा
अन्त: शान्तमहिम्न्यसीममहसि मूर्च्छोच्छलन्मूर्च्छना
एतास्ता: परमात्मनो निजकला: स्फूर्जन्ति निस्तेजिना: ॥23 ॥
अच्छाच्छा: स्वयमुच्छलन्ति यदिमा: सवेदनव्यक्तयो
निष्पीताऽखिलभाव मण्डरस प्रागभारमत्ता इव
मन्ये भिन्नरस: सएव भगवान कोऽपियने की भवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरूभ्दुतनिधिश्चैतन्यरत्नकर: ॥24 ॥
ज्ञानाग्नो पुटपाक एष घटनामत्यन्तमन्तर्बहि:
प्रारब्धोद्धत संयमस्य सततं विष्वक् प्रदीप्तस्य मे
येताऽशेषकषायकिट्टगलनस्पष्टीभवद् वैभवा:
सम्यग् भान्त्यनुभूतिवर्त्मपतिता: सर्वा स्वभावाश्रिय: ॥25 ॥

पाठ-२५

हे स्वामिन्! आप जिस किसी प्रकार आत्मावलोकन की एक मात्र कला को उद्घाटित करते हैं, वह मेरे गहन कर्म पटलों के आश्रवों द्वारा वेग के साथ आच्छादित हो जाती है। बाह्याभ्यंतर प्रकाश दुष्ट कर्म पटलों से पुनः पुनः प्रमित हो क्षीण प्राय हो जाता है। अतः भगवन्! वह आत्म ज्योति सम्पूर्ण कर्म पटल को पूर्ण पृथक कर जाग्रत हो यही प्रार्थना करता हूँ ।।१।।

जिसके अन्तः स्थल में यह अन्तर्ज्योति को आवृत्त करने वाले राग-द्वेषादि तनिक भी जाग्रत रहते हैं, उसके यह आत्मीय प्रकाश स्पष्टरूप से कभी भी आभासित नहीं होते हैं। उस गरिमा के आवारक को प्रतिदिन निरीक्षण करता रहता है और उन क्रियाडम्बरों को आपके सिद्धान्त से नष्ट करने का प्रयास करने पर निश्चय ही वह आत्म ज्योति भी क्रमशः स्पष्ट हो जाती है। अर्थात् आत्म स्वभाव के प्रकाशित हेतुओं के हो आलम्बन क्रम से निज स्वरूप प्रतिभासित होता है। आपके जैसा अमर साम्यामृत उपलब्ध हो सकता है ।।२।।

पूर्व अवस्था में जिसने संयम सञ्चित किया है उसके कर्मरूप धूलि (धूल) शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। यही नहीं वह विनष्ट होती हुयी कर्म कालिमा स्वयं आदर से उद्दाम परिपूर्ण संयम से हृदय को स्वयं भर कर ही जाती है। अभिप्राय यह है कि संयम धारण व पालन से क्रमशः कर्ममल निर्जरित होता है और उत्कृष्ट यथाख्यात संयम उत्पन्न-जाग्रत होता जाता है। इस प्रकार जो उद्यम शील भव्यात्मा छल-छिद्र रूप कपट ग्रन्थि को शिथिल

करते हैं वे ही कर्ममल को बलात् देखते हैं तथा अपनी तीक्ष्ण सम्यक् दृष्टि शक्ति द्वारा स्वाभाविक आत्म स्वरूप की अवस्था के तेजस्वी प्रकाशपुञ्ज को जानते हैं-ज्ञात करते हैं । अनुभव में प्राप्त कर लेते हैं ॥३॥

हे देव! जो भव्यात्मा नित्य ही उत्साहरूपी पवन वेग से कषाय रूप कर्म रज के कारणीभूत घनीभूत हुए उदयावली को प्राप्त स्पर्द्धकों की श्रृंखला का उल्लंघन कर, लाघव गुण प्राप्त करते हैं, वे आत्मा के बाह्यान्यंतर स्वभाव रूप का उल्लंघन नहीं करते हैं। अपितु अपने सम्पूर्ण निज स्वभाव को प्राप्त कर पूर्ण स्पष्ट, प्रकट, प्रत्यक्ष उपयोग की गरिमा को उदरस्थ करने वाली आत्मलक्ष्मी-विज्ञानघन स्वरूप को प्रकट कर विज्ञान घन स्वरूप हो जाते हैं । अर्थात् सर्वज्ञ हो जाते हैं ॥४॥

जो बाह्याभ्यन्तर संयम रूपी परिधि-बाढ लगाने पर पूर्ण स्वातन्त्र्य रूप दर्शन ज्ञान के आराधक सन्त जन अपने श्रामण्य-साधुत्व रस में अवगाहन कर अपनी सहज स्वाभाविक अवस्था को ही सम्यक् निरीक्षण करते हैं । वे साधु-सन्त पूर्व में अप्राप्त, अपूर्व सम्पदा को प्राप्त करते हुए शीघ्र ही उसके साथ कर्मरूप कुशल वृक्ष की मूल-जड़ को ही काट देते हैं । संसारावस्था का मूल कर्म ही हैं । मूलोन्मूलन होने पर वृक्ष फलित नहीं होता उसी प्रकार कर्म द्रुम का मूलोच्छेदन होने पर संसार रूप फल भी फलित नहीं होता ॥५॥

जो श्रमणराज कषायों को चारों ओर से कर्षण करने में व्यग्र नहीं होते हैं । निरन्तर अथक श्रम से उन्हें क्षीण करते हैं वे ही अपने श्रामण्य पने को स्थिर कर आत्मस्वभाव की गरिमा से सम्पन्न शुद्धोपयोग को ग्रहण करते हैं । अपने अन्तकरण में उत्थित उपयोगात्मक तत्त्व को प्राप्त करते हैं । वे ही अपने सफल श्रामण्य द्वारा हे ईश! अपने उस तीक्ष्ण प्रखर प्रताप स्वरूप, अखण्ड पिण्डी भूत निज व्यपार के सार रूप को देखते हैं । हे जिन! वे ही

भव्यात्मा अपने अद्भुत स्वतत्त्व का आश्रय प्राप्तकर सम्यक् प्रकार उस आत्म तेज के अन्त का अवलोकन और अनुभवन करते हैं। अर्थात् अनन्त दर्शन व अनंतज्ञान के अधिष्ठाता हो जाते हैं ॥ ६॥

'चिद्' यह गुण मुख्य है। जिस समय व्यक्ति विशेष अर्थात् अन्य धर्मों युक्त की दृष्टि से विचार करते हैं तो सर्व ओर परिणमन करते हुए विशेष हो जाते हैं तो भी सामान्य से सर्वथाभिन्न नहीं है क्यों कि वहाँ भी सामान्य चेतना प्राप्त ही रहती है। कृशन काल में यह गौण हो जाती है। इसी प्रकार वाह्याभ्यंतर संयम से परिपूर्ण साधक चेतना-ज्ञान ज्योति को जाग्रत करते हुए, निष्प्रमाद होकर जो सामान्य-विशेषात्मक निज तत्त्व उसी को करके (प्रकट कर) करते हैं और जानते हैं। अर्थात् आत्मान्वेषी महापुरुष उसे ही प्रकट कर-प्रत्यक्ष करते हैं, और ज्ञात करते हैं। आपने यही तत्त्व स्वरूप निरूपण किया है ॥ ७ ॥

सामान्य विशेषात्मक धर्मों से युक्त ही होता है। आत्मा भी एक द्रव्य है। अतः उसमें भी उभय धर्म निहित है। आत्मा का स्वभाव या लक्षण जब हम "चित्स्वरूप" ऐसा करते हैं तो आत्मा एक 'चित्' चैतन्य स्वभावी प्रकट होती है। यह लक्षण सामान्य धर्म का निरूपण करता है अर्थात् आत्मा अनन्त धर्मात्मक है तो भी एक धर्म को लिये कहा जा रहा है। यह अन्य शक्तियों का अभाव नहीं है, अपितु वे सर्व गौण रूप से विद्यमान है।

अभिन्न दृष्टि से-अर्थात् अभेद दृष्टि की अपेक्षा तत्त्व विवेचन करने पर भिन्न-भिन्न-भेदरूप तत्त्व चारों ओर से-हरप्रकार से कुछ गौणरूप से निजतत्त्व में ही विश्रान्ति पाते हैं। अर्थात् समस्त भेद उसी सामान्यनिर्विवक्षा में उसी सामान्य में-अभेद दृष्टि में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार हे प्रभो पूर्ण

और दृढ़रूप हुए उपयोग की महिमा प्रकट हुए आप केवल मात्र देखते ही हो। अतः व्यक्तियों या विशेषों से सर्वथा भिन्न अन्य कोई सामान्य नही हैं। व्यक्त एवं अव्यक्त शक्तियों से परिपूर्ण ही द्रव्य होता है। विशेषों से सर्वथा पृथक् कोई तत्त्व नहीं होता है। विशेषों से सर्वथा भिन्न कोई भी कहीं भी सामान्य चिद्रूपता नहीं है और न ही सामान्य चिद्‌शक्ति से सर्वथा भिन्न विशेषों का ही अस्तित्व है। व्यक्ताव्यक्त-सामान्य-विशेषों की मुख्यगौणता रूप ही तत्त्व विवेचना सफल, यथार्थ-संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रहित ही हे जिन आपके-क्षायिक ज्ञान में स्पष्ट हुआ है। अतः एक अभिप्राय या आशय गौण होता है तो तत्क्षण अन्य अपेक्षा-अभिप्राय प्रकट होता है। वैसा ही आगम में निरूपित है। स्वयं अध्ययन कर जानों-श्रद्धा न करो। चूंकि मुख्य-गौण धर्मों को एक साथ प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है। अस्तु उनको क्रमशः जान कर व समझकर यथास्वरूप गौण-मुख्य कर ही ज्ञात करना चाहिए ॥८॥

हे प्रभो! सम्पूर्ण प्रदार्थों को आप स्पष्ट करते हुए बाह्य समस्त पदार्थों को अहर्निश अपने ज्ञान का विषय बनाते हैं। क्योंकि क्षायिक ज्ञान का यही स्वभाव है। दृष्टव्य जो कुछ है उसे देखता है-झलकाता ही है। यदि दृष्ट लोक न हो तो प्रभु 'सर्वदृष्टा' किस प्रकार कहे जायेंगे ? जिस प्रकार ईंधन-जलावन के अभाव में क्या कभी कहीं पर भी किसी के द्वारा जाज्वल्यमान अग्नि शिखा देखी गई है? नहीं। ईंधन को भस्म करने से ही वह 'अग्निज्वाला' प्रसिद्ध होती है। इसी प्रकार दृश्यमान जगत के रहने परही सर्वज्ञ प्रभु सर्वदृष्टा कहे जाते हैं। तो भी अशेष बाह्य पदार्थों को देखते हुए भी आप उनसे भिन्न सत्ता वाले ही रहते हैं। इस प्रकार रहे जिन! आपका अनन्त दर्शन अपने ही दर्शनोपयोग रूप तेजोमय महान तेज सर्वओर से सर्व प्रकार शोभा प्राप्त होता है। उस असीम उपयोग से आप भी स्वयं पूर्ण दर्शनोपयोग से भरित शोभा से सुशोभित होते हैं ॥ ९ ॥

हे जिनेश्वर! अशेष बाह्य पदार्थों का परिहार कर-त्यागकर स्वयं अपनी आत्मा के द्वारा आत्मा को तत्त्वरस के आस्वादन की भावना से अपनी ही आत्मा में रमण करती रहे। यदि बार-बार संकोच-विस्तार को मुझे प्राप्त होना नहीं पड़े इस स्थिति को चाहते हो तो मोहरूपी ग्रन्थी को सम्यक् प्रकार निर्मथन कर बलात् बाहिर फेंकते हुए अर्थात् क्षय करते हुए राग-द्वेष से सर्वथा रहित हो समदृष्टि बनो। इस प्रकार सम्पूर्ण मोहपरिग्रह ग्रन्थि का नाश कर स्वयं सर्वत्र पूर्णतः अपने ही आत्मतत्त्व स्वरूप का अवलोकन करो। उसे ही देखो। उसका ही निरीक्षण करते रहो ॥१०॥

दृष्ट वस्तु भी भ्रम वशात् पुनः अदृष्टसम ही हो जाती है। यदि दृष्टि को बाह्य पदार्थों में निक्षिप्त कर दिया जाता है तो इस प्रकार यदि कोई भी अपने कर्मोपार्जित कर्म पुदगल के उदय से क्षुभित हो जाता है तो वह व्याकुल हुआ पर द्रव्य की ओर झांकने लगता है निज तत्त्व विलोकन से विमुख हो जाता है। आचार्य श्री ऐसे प्राणी की दुर्दशा को प्राप्त होने से उसे अज्ञानी पशु ही समझते हैं। अर्थात् वह पशु की कोटि में आ जाता है भ्रमित होने की अपेक्षा से। क्यों कि इस कारण से अपने ही कर्मों के उदयानुसार चलने वाले उत्कृष्ट पिष्ट-पेषण के उग्रबल के स्व स्वरूप से भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिए योगिजन विवेक पूर्वक बलवान कर्मों के वश न होकर अपने सहज शुद्ध स्वरूप की प्राप्त के हेतू रूप ज्ञान ध्यानादि कर्म काण्ड में ही नित्य उद्यम शील-प्रयत्न शील रहते हैं॥ हे प्रभो! योगियों को यही एक मात्र मार्ग आपने निरूपित किया है ॥११॥

राग-द्वेषादि दोष समूह का सम्यक् प्रकार निग्रह करने के लिए परमोत्तम कार्य करने को तत्पर उत्कृष्ट तपश्चरणादि कार्य करने प्रयत्न करने में ही तत्पर रहते हैं। उन योगियों का योगफल अतिप्रबल कर्म ग्रहों से गाढ बंधन विहित फल कभी भी व्यर्थ नहीं होता। क्योंकि वे प्रगाढ बधन बद्ध नहीं होते। शुद्धोपयोग से किंचिद् स्खलित होकर भी यदि निश्चल दशा से स्पन्दित भी हो गये तो भी अन्तरंग में वैराग्यभाव की महिमा से क्रम से कर्मबन्धन से मुक्त ही होते हैं। स्वध्यान मे निश्चल-निष्पन्द होने पर भी सुसुप्तदशावत् रहते हुए भी वे अपने अन्तः करण आत्मोद्यान में विकसित आत्मीय गुण कंज को मुकुलित ही करते हैं। इसके विपरीत अज्ञानी बंधन को प्राप्त होने वाले पशु नवीन कर्मों से बंधनबद्ध हो जाते हैं। आचार्य साधुजनों को संबुद्ध कर रहे हैं कि यदि तुम अपनी योग साधना से तनिक भी च्युत हुए तो बन्धन बद्ध हो जाओगे। अतः अपनी योगसाधना में तन्मय रहो ॥१२॥

यदि अष्टविध कर्मों का कर्ता कर्मो से विरक्त नहीं होता है तो कर्मास्रवों का आना होता ही रहेगा। जिस प्रकार रस्सी बटने वाला उसे बटता ही रहेगा तो वह वृद्धिंगत ही होती रहेगी। उसी प्रकार कर्माश्रवों को रुद्ध नहीं किया तो वे सर्वाङ्ग से वेष्टित होते रहेंगे। क्योंकि रज्जू भांजने वाले अंधे के समान यह भी अज्ञान्धकार से प्रमादी हो रहा है। परन्तु, जिस समय ज्ञान घनरूप अद्भुत स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तो इसके मन, वचन और काय वर्गणाओं के स्पन्दित (चंचल) रहने पर भी ये कर्मास्रव के कारण मात्र रहते हैं तो वे कर्मवर्गणाएँ आते हुए भी यानि सत्ता में रहकर भी असत्ता समान हो जाती हैं। क्योंकि योगों से प्रकृति, प्रदेश रूप बंध ही होता है। कषायों के नहीं रहने से स्थिति-अनुभाग बंध नहीं होता। इनके अभाव में वह आस्रव निराश्रव वत् निष्फल ही हो जाता है। अतः उनका सद्भाव भी अभाव के समान है ॥१३॥

अपने हृदय में आत्म तत्त्व को स्तम्भित करने वाला योगी, वाह्य जगत में होने वाली गर्जना के साथ कर्मदण्ड की गर्जन तर्जन को उसमें प्रतिभासित नहीं होने देता। इस प्रकार निष्कम्प आत्मा को अपने में स्तम्भित करने वाले के उग्रतर क्षोभोत्पादक कर्मग्रहण नहीं होते। इस अवस्था को प्राप्त करने वाले के स्तम्भन क्रिया के नहीं करने पर भी सत्ता में स्थित कर्म पङ्गु के समान अवस्था प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार के निष्पन्द मन के जो कुछ भी कारण प्राप्त होते हैं वे सर्व आपके ही स्वरूप को स्वयं प्रतिभासित करने वाले ही होते हैं। अभिप्राय यह है कि जिसके हृदय में आपका शुद्ध स्वरूप अकम्प होता है उसे स्वयं का ही निज रूप प्रतिभासित होने लगता है ॥१४॥

निर्ग्रन्थ अवस्था प्रमत्तदशा (छठवें गुणस्थानप्राप्त) में रहकर कुछ वीतराग अंशों से आत्मा के परमशान्त रस की छाया मात्र का स्पर्शन कर लेता है। उसी रसके द्वारा उन्मत्त हो प्रमाद रूप अभिप्रायों में मुग्ध हो जाय तो उसकी श्रमणता गज (हस्ति) के समान पतित हो पुनः निश्चय ही निम्न गुणस्थान की दशा को प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार हस्ति अपने नेत्रों को निम्नीलित (बन्द) कर गमन करता हुआ मार्ग भ्रष्ट हो गर्त में जा पड़ता है। किन्तु जो श्रमण राज जाग्रत हो, विवेक पूर्वक उस प्रकाश की छाया के माध्यम से कर्म समूह पर आक्रमण करते हैं वे अविपाक निर्जरा रूपी अग्नि से उन्हें भस्म कर देते हैं। उस कर्मरज में प्रच्छन्न स्वभाव को स्फूरायमान कर उस अद्‌भुत प्रकाश में, सम्यक् चारित्र के साथ सम्यग्ज्ञान को एकाकार कर रमते हैं। जिनका ज्ञान या मति इस प्रकार विकासोन्मुख होती है, वे स्व स्वरूप विहारिणी बुद्धि बल से निरन्तर स्वानुभव लीन हो जाते हैं। अर्थात् स्व में स्व को स्थिर कर आत्मानन्दामृत में रमण करते

रहते हैं । अभिप्राय यह है कि निर्ग्रन्थसाधु को आत्मानुभूति प्रखर करने का ही लक्ष्य रखना चाहिए । बाह्य जगत से हटने का प्रयास करते रहना ही श्रामण्य के रक्षण का उपाय है ॥१५॥

जो एकान्त क्षणिक सिद्धान्ती वस्तु तत्त्व के सामान्य धर्म को भी क्षणिक ही प्रकट करते हैं, उनके शीघ्र ही वस्तु की तीक्ष्ण ज्योति के क्षय होने के साथ ही प्रभावशाली विशेष धर्म भी सामान्य वस्तु से अबद्ध (रहित) होने से आदर प्राप्त नहीं कर सकते । अर्थात् अपना अस्तित्व स्थापित नहीं कर सकते । इस प्रकार सामान्य व विशेष उभय धर्मों का अभाव ही सिद्ध होगा । इस प्रकार इन वस्तुधर्मों की एकाग्रता का त्यागकर वे तीव्र मोहान्धकार से आच्छन्न हो विपरीत खोटी शिक्षा के नशे में सुप्त हुए अन्तिम घर्र घर्र कण्ठ में घोर-तीव्र आवाज करने वाली सरल श्वासरूपी अनिल से ताडित हो अज्ञानभरे समाप्त हो जाते हैं । अर्थात् स्वयं भी सामान्य-विशेषात्मक वस्तु लक्षण रहित हो मृतक समान निष्क्रिय पड़े रहते हैं ॥१६॥

अचल उपयोगरूप स्वावलम्बन से बद्ध हुयी पर्यायें प्रतिसमय तीक्ष्ण तेजस्वी होकर पुष्ट हो रहीं हैं वे ही प्रतिक्षण काल-समय का विभाजन करती हुयी विश्व को अहर्निश रूप से धारण करती हैं । अर्थात् उपयोग आत्म तत्त्व का सामान्य धर्म है और उसमें प्रतिसमय होने वाली हीनाधिकता पर्यायें हैं । ये दोनों स्वभाव एक ही तत्त्व में बद्ध होकर वस्तु तत्त्व का स्वरूप निर्धारण करते हैं । यह प्रत्यक्ष दृष्टिगत होता है । इस प्रकार जो उभय धर्मात्मक पदार्थ को स्वीकारते हैं वे ही भूतार्थ-समीचीन वस्तुतत्त्व विवेचक, विवेचनाकर उसमें श्रद्धा करते हैं वे ही सुस्थितसम्यग्दृष्टि हैं । इस प्रकार सर्वत्र सम्यग्दृष्टि सन्त एक साथ सामान्य-विशेषयुक्त पदार्थ स्वरूप के विषय में स्थित होते है , अर्थात् स्वीकार करते हैं । वे ही सुस्पष्ट मति विशिष्ट स्व स्वरूप के स्पष्ट अध्येता होते हैं । पुनः सम्यग्ज्ञान से युक्त हो निजात्मज्ञ हो जाते हैं ॥१७॥

इस प्रकार दर्शनोपयोग शुद्ध निर्मल होता है वे ही ज्ञानोपयोग रूप श्रुतज्ञान को बारम्बार संयम सुधारस से नित्य अभिसिंचित करते हुए दोनों उपयोगों को एक साथ समन्वित करते हुए उद्याम पुरुषार्थ निष्ठ होते हैं । वे ही किसी भी एक ही प्रहार से मोहान्धकार को दल-मल कर (नष्टकर) निज तत्त्व को स्पर्श करते हुए क्षायोपशमिक ज्ञानोपयोग को क्षायिक, विशाल केवल ज्ञान को प्रकट करते हैं । उसकी विश्व प्रकाशी व्यापक महिमा से आक्रान्त हो निरन्तर उसी में स्थित हो जाते हैं । यह प्रहारक ध्यान शस्त्र से उद्घाटित पूर्ण हुआ केवलज्ञान प्रकाश अनन्तकाल तक रहता है । उसी में समाहित आत्मतत्त्व अजर-अमर हो जता है ।।१८।।

जब तक आत्मा के शुद्ध प्रकाश का रसास्वाद उपलब्ध नहीं होता, तब तक ही स्पष्ट सर्वाङ्ग को प्रमाद वश अपने रस में बलात् उद्दाम श्रम कर भी डुबाये रहता है । अर्थात् आत्मस्वरूप विमुख ही प्रमादी होते हैं । परन्तु जो विवेकी ज्ञानी जन प्रमाद की मादकता के रहते भी मदाक्त नहीं होते, उसमें निमग्न नहीं होते वे ही प्रमाद के उछलने पर उसके प्रभाव से विकल रहते हैं । वे ही समय पाकर पापों से रहित होते हैं । अर्थात् प्रमाद जन्म कारणों के रहते हुए भी जो विवेकी तीक्ष्ण संयम की गाढ श्रद्धा से ही सम्पन्न रहते हैं, वे ही पाप पुञ्ज का नाश करते हैं । समस्त पापास्रवों का मूल हेतू प्रमाद है । भव्यात्माओं को संयम धारण निष्प्रमाद बनना चाहिए ।।१९।।

यदि वाह्यवस्तु सम्यक् रूप से वाह्य भी प्रकाशित होती है तो भी वह अनन्तरङ्ग से प्रभारूप ही है क्योंकि विपरीत विषय को विपर्य रूप से व्यक्त कर रही है । वह भी आत्मा का आभास ज्ञान का विषय होने पर प्रत्यक्ष मल का क्षीण करने वाला ही होता है । क्योंकि अल्पज्ञता के कारण वाह्यरूप

से विपरीत होने पर सम्यक निमित से ज्ञान के वृद्धिंगत होने पर क्या वह परिवर्तित नहीं होती ? अर्थात् परोक्ष ज्ञान होने से जो पदार्थ स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं हुए परोक्ष बुद्धि से ही विपरीत हैं, वे ही बुद्धि प्रत्यक्ष होने पर प्रत्यक्ष हो जाते हैं । अल्पज्ञान भी यदि सम्यक है तो वह भी पूर्ण ज्ञान का हेतू ही है सम्यक्त्व पूर्वक होने के कारण अन्त: आत्म स्वभाव रूप होकर अन्तरंग ज्ञानोद्योत सत्य रूप होने से विपर्य नहीं है । अपितु शक्तिहीन होने से याथा तथ्य स्वरूप समझने में बालवत् है । तथाऽपि प्रबल साधन भूत गुरु आदि का सान्निध्य होने पर वह शक्ति हीन सामर्थ्यपुष्ट क्यों नहीं होगा ? होगा ही । हे भगवन्! आपके पावन चरणाब्जों का सान्निध्य पाकर दुर्गति भी सद्मती हो ही जाता है ॥२०॥

कषायों का यथायोग्य शमित करने में उद्यमशील होकर भी संयम के साथ ज्वलित संज्वलन क्रोधादि कषायें स्थूल रूप से व्यक्ताव्यक्त प्रमादोत्पन्न कर कुछ-कुछ रागादि से आत्मा को मलिन करता है । आक्रमण करता है । तथाऽपि सम्यग्ज्ञान रूपी अग्नि के संज्वल न रूप क्रोध से संधुक्षत (धौंकी) होने पर भी उस रागादिमल को अपना हव्य-ईधन बनाकर भस्म कर देती है । जिस प्रकार जड़ रूप अग्नि में घी की आहुति दी जाय तो उग्ररूप से प्रज्वलित हुयी ज्वाला स्वयं के साथ ईंधन को भस्म कर देती है । अर्थात् ज्ञानानल भी कषायों के क्षीण होते-होते साथ ही दुष्टाष्ट कर्मों के विशेष आत्मगुण घाति घातिया कर्मों को भस्म कर निर्मल प्रत्यक्ष अनन्तज्ञान स्वरूप कैवल्य को प्रकट करा देती है ॥२१॥

विशेष महिमा युक्त ज्ञान की प्राप्ति से अखण्ड बलशाली चारित्र को प्राप्त करता है । उस सम्यक् चारित्र के द्वारा पूर्व संचित-सत्तारूप कर्मभार रूप मल को (मनमें स्थित) तिरस्कृत कर देता है । अर्थात् उस मन में समाहित

कर्ममल की अनुभाग शक्ति को क्षीण कर निष्फल सत्ता से बहिर्भूत कर देता है। तथा उससे आच्छादित शुद्ध आत्म स्वभाव का स्पर्श करने वाले अत्यन्त अपूर्व यानि अदभुत, उत्तरोत्तर शोभायमान होने से वैसरद्य को प्रकट कर देता है। उसी जाग्रत उद्योतित ज्ञान ज्योति से उत्तरोत्तर स्फुरायमान होता हुआ अमित तेज (स्फुरायमान) चतुर्दिक अपने अमित तेज को स्फुरायमान कर लेता है। जो सतत अपने अलौकिक प्रभाव से प्रकाशमान रहता है ॥२२॥

जो घोर तपस्वी नर पुंगव अशेष घातिया कर्मों को भस्मसात कर उसकी रज को (राख को) भस्मी को पूर्णतः, अपनी अत्यन्त वृद्धि के पूर से अद्भुत, आश्चर्योत्पादक विचित्र संयमरस से परिपूर्ण निर्झरनी के द्वारा प्रक्षालित कर देते हैं। वे अन्तः करण में अत्यन्त निर्मल शान्त महिमा में प्रविष्ट होते है। तथा असीम तेजस्विनी ज्योतिर्मयी कला जो परिग्रह की मूर्च्छा से मूर्च्छित-आच्छादित हो रही थी, उस परमात्ममहिमा स्वरूप निजात्म कला जो निस्तेज हो रही थी उसे जाग्रत करते हुए उसी में निमग्न होते हैं। अर्थात् अनन्त कल्पकाल पर्यन्त उसी का अनुभव करते हैं। अभिप्राय यह है कि स्वयं आत्मा ही अपने आत्मीय स्वभाव को प्रकट करने में सक्षम होती है। तदनुरूप सम्यक् प्रयास करने पर ॥२३॥

यह संयमजन्य स्वसंवेदन उत्तरोत्तर उज्जवल-निर्मल होता हुआ स्वयं अपने ही आनन्दघनसुधारस प्रवाह में उछलता है। अपने निर्द्वन्द वेग में सम्पूर्ण पदार्थों के समूह रस का पान पान कर उस भार से मत्त के समान स्वच्छन्द हो स्व स्वभाव में रमण करता है। इस प्रकार की मेरी (आचार्य श्री की) मान्यता है। इस प्रकार एक अपूर्व भिन्नरस निमग्न हुआ भी कोई एक भगवान अनेक रूप हुआ गर्जता है। अर्थात् आत्मा एक अखण्ड ज्ञानघन स्वभाव

चैतन्य ज्योति भरित रत्नाकर (सागर) है । अपनी अनन्त शक्तियों को प्रकट कर अनेक गुणमणियों से मण्डित अद्भुत रूप-अनेकरूप प्रतिभासित होती है । अभिप्राय यह है कि आत्मद्रव्य द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा एक रूप ही है, परन्तु अनन्त पर्यायों को पीत होने से अनेक रूप भी है ।।२४।।

हे प्रभो! यह ज्ञान रूपी अग्नि के द्वारा पुटपाक प्राप्त कर मेरा बाह्या भ्यन्तर रूप प्रारम्भिक उत्साहित संयम का स्वरूप निरन्तर चारों ओर से प्रकाशित हो दीप्तिमान हो रहा है । इसके प्रकाश प्रभाव से सम्पूर्णकषायमल किट्टिकालिमा नष्ट हो रही है तथा इस मलोच्छेदन से इसमें प्रच्छन्न हुआ मेरा निज स्वभाव रूप वैभव स्पष्ट प्रकट हो रहा है । इस समय शुद्ध स्वभाव से सम्यक् प्रकार स्वानुभूति मार्ग में बिखरी अनेकों स्वभाव भूत श्री-लक्ष्मी अनुभूत हो रही हैं । परोक्ष रूप से अनुभव में प्राप्त हो रही हैं । यहाँ अन्तिम श्लोक में गुरुवर्य आचार्य परमेष्ठी श्री महावीर कीर्ति जी महाराज, जिन्होंने अनादि आगमोक्त पद्धति से अपने परम आराध्यगुरु देव श्री मुनिकुञ्जर सम्राट् से आचार्य पद प्राप्त किया था, अपना जिन स्तवन का अनुभूत फल दर्शित कर रहे हैं । जिनगुण स्तवन निजानुभूति जाग्रत करने का समर्थ कारण है ।।२५।। इति ।।

●

टीका कर्त्री की प्रशस्ति

श्री मूल संघे सरस्वति गच्छे बलात्कारगणे कुंदकुंदाचार्याम्नोयपरंपरायां श्री १०८ मुनि कुंजर समाधि सम्राट, कलिकाल तीर्थंकर, चारित्र चक्रवर्ती आचार्य आदिसागरस्य अंकलीकरस्य पट्टाधीशः अध्यात्म योगी सम्राट, तीर्थ क्षेत्र भक्त शिरोमणी, सर्व सिद्धान्तपारज्ञ, अष्टादश भाषा भाषी , यंत्रमंत्र तंत्रज्ञ आचार्य महावीर कीर्ते: संघस्था कलिकाल सर्वज्ञ, श्री १०८ आचार्य विमलसागरस्य शिष्या श्री १०५ प्रथम गणिनि आर्यिका विजयमति आचार्यमहावीरकीर्ती प्रतिपादित चतुर्विंशति स्त्रोत्र टीका वीर निर्वाणसंवत् २५२६ तिथौ कार्तिक शुक्ला तृतीयां गुरुवासरे चंपापुरे वासुपूज्य तीर्थंकर पूज्यपादमूले परिसमाप्ता दिनांक ११ नवम्बर ईस्वी सन् १९९९ ।इति शुभंभूयात् ।। भद्रभूयात् ।। कल्याणं भवतु ।।

टीका कर्त्री का परिचय

आपका जन्म वैशाख शुक्ला १२ (द्वादशी) वि. स. १९८५ मई १ सन् १९२८ को कांमा जिला भरतपुर (राजस्थान) में हुआ । नाम सरस्वती बाई था। शर्बती के नाम से प्रसिद्ध थी । गर्भ काल में मां को सम्मेद शिखर जी की वन्दना का दोहला हुआ । और ११ माह गर्भावस्था में उन्होने पैदल शिखर जी की यात्रा की । पिता संन्तोषी लाल, माता चिरौंजा बाई बड़ जात्या थे ।

१५ वर्ष की आयु में इनका लश्कर निवाशी भगवान दास चांद वाड़ के साथ विवाह हुआ । परन्तु २० दिन के वैवाहिक जीवन के पश्चात् वैधव्यता प्राप्त हुयी । आचार्य सुधर्म सागर की आज्ञा हुयी कि उससे ही पूछें, जैसा वह कहे वैसा ही करें आप से विचार करने पर चन्दाबाई जैन वाला विश्राम आरा, (बिहार) में शिक्षा के लिये रखा गया । कक्षा ५ में प्रवेश हो गया । अनुशासित रह कर बी.ए. बी.एड. की परिक्षा उत्तीर्ण की ।

आचार्य महावीर कीर्ति १९५६-५७ में आरा पधारे । उस समय आप के मन में आर्यिका दीक्षा के भाव आये । लेकिन उत्तर मिला की तुम्हारी आर्यिका दीक्षा मुझसे नही होगी तथापि यह सत्य है कि तुम मेरे पास अवश्य रहोगी । तब उनसे शूद्र जल त्याग का व्रत लिया, और मुनियों को आहार देने लगी । कुछ समय बाद आचार्य शिव सागर से ब्यावर में दूसरी प्रतिमा के व्रत धारण किये । पश्चात् १९६२ में भगवान् महावीर के निर्वाण दिवस पर आचार्य विमल सागर से सातवीं प्रतिभा का व्रत लिया । केवल चार माह के पश्चात् आचार्य विमल सागर से आगरा में चैत कृष्णा तीज वि. स. २०१९ को आर्यिका दीक्षा ली ।

ईसरी और बाराबंकी चातुर्मास के बाद बावन गजा बड़वानी के चातुर्मास में आचार्य महावीर कीर्ति के पास आचार्य विमल सागर की आज्ञा से अध्यन प्रारम्भ किया । मांगी तुंगी श्रवण बेल गोला, हम्बुज, कुंथुलगिरि, गजपंथा, मागी तुंगी, गिरनार, चातुर्मास के बाद आप को ३ जनवरी १९७२ को आप के विद्या गुरु ने महसाना (गुजरात) में अपनी समाधि से पूर्व गणिनि पद पर प्रतिष्ठित किया । इस बीसवीं सदीं में आप प्रथम गणिनि बनी । शिखर जी, रांची, शिखर जी, चम्पापूर, आरा, सोनागिरि, शाहगढ़ के चतुर्मास में ब्र. किरण को क्षुल्लिका दीक्षा दी, नाम कुलभूषणमती रखा, तथा ५ अन्य को बालब्रह्मचारिणी की दीक्षा दी । अकलूज, श्रवण बेल गोला पोन्नूर मलै में ब्र. आदेश तथा ब्र. कुसुम को गृह त्याग करा सप्तम प्रतिमा के व्रत दिये । कडलूर (ओरी: पोन्नूर मलै के चतुर्भास में अश्विन शुक्ला १० को ब्र. आदेश तथा ब्र.संध्या को क्षुल्लिका दीक्षा दी । नाम क्रमशः जय प्रभा एव जियप्रभा रखा । क्षुल्लक सिद्धनन्द को मुनि दीक्षा दे कर समाधि कराई ।

मद्रास, पांडीचेरी, पोन्नूबलै, श्रवण बेलगोला, इंचल करंजी, अकलूज के चातुर्मास में कार्तिक शुक्ला१ ता. १/१०/९० को केशर बाई को आर्यिका दीक्षा देकर समाधि कराई । गजपंथा चतुर्मास मेब्र. नन्द लाल को मुनि दीक्षा देकर समाधि कराई फूलाबाई को सप्तम प्रतिभा के ब्रत दिये, और २५ नवम्बर १९९१ को उनको आर्यिका दीक्षा देकर समाधि कराई । ईडर, बलूदा, जयपूर, कांमा, सोनागिरि गुनौर, शिखर जी के चातुर्मास के बाद बर्तमान में स संघ चम्पापूर में चातुर्मास कर रही है ।

आप के द्वारा प्रतिप्रादितर ग्रंथ :- आत्मवैभव, आत्मचिंतन, नारी वैभव, तजोमान करो ध्यान, पुनर्मिलन , सच्चाकवच, महीपाल चरित, तमिल तीर्थ दर्पण, कुंद कुंद शतक प्रथमानुयोग दीपिका, अमृतवाणी, जिनदत्त चरित, श्रीपालचरित, अहिंसा को विजय, शील की महिमा, आदि शिक्षा दिव्यदेशना

अन्तिम दिव्यदेशना, उद्बोधन, आचार्य श्री १०८महावीर कीर्ति का जीवन परिचय, विमल पताका, ओमप्रकाश कैसे बना सि.च. आचार्य सन्मति सागर, नीति वाक्या मृत, जिन धर्म रहस्य का पद्यनुवाद और चतुर्विंशतिस्तव है ।

ऐसे महान् व्यक्तित्व की धनी, अपार कृतित्व की सागर तथा तप, ज्ञानाचरण की दिवाकर, आर्यिका रत्न, प्रथम गणिनि श्री विजय मती माता जी स्व-पर कल्याण में रत रह कर सतत धर्म प्रभावना करती रहे । यही हार्दिक भावना तथा वीर प्रभु से प्रार्थना है ।

मेरी भावना

'स्तवनात् कीर्तिस्तपोनिधिसु'[1] आचार्य समंतभद्र स्वामी ने बताया है कि तपोनिधियो निर्ग्रंथों का गुणानुवाद करने से यश-कीर्ति जल में तैल विंदु की तरह फैलती है । विशेष रूप से कर्मों कीनिर्जरा भी होती है वास्तव में तो प्रयोजनभूत कर्मनिर्जरा है ।

यह चतुर्विंशति स्तवन परम पूज्य प्रात: स्मरणीय विश्ववंद्य मुनिकुंजर समधिसम्राट चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शिरोमणी श्री आदिसागर जी महाराज अंकलीकर के पट्टाधीश आचार्य परमेष्ठी श्री महावीरकीर्ती जी महाराज अपने समय के उच्च कोटि के ज्ञानी थे । उनकी यह कृति भी यथा नाम तथा गुण वाली है । इस का प्रकाशित होना उतना ही आवश्यक था जितना निर्धन के लिए धन आवश्यक होता है । इस बात की प्रसन्नता है कि इस ग्रंथ को को पढ़कर भव्य जीवों को अवश्य ही मोक्ष पथ प्रशस्त होगा ।

आर्यिकाशीतलमति

आचार्य शब्द का निर्देश

आचार्य संमतभद्र का निर्देश प्राय: स्वामी शब्द से किया है अत: टीका में पृ. 160 पर स्वामिसूक्त करके उनके रत्नकरण्डश्रावकाचार से अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं सागर धर्मामृत में अष्ट मूल गुणों के कथन में स्वामी संमत भद्रमते लिखकर उनका नाम निर्देश भी किया है इसी में भोग्गेय भोग परिमाण वृत के अतिचारों के कथन में अत्राह स्वामी यथा लिखकर र० आ० का श्लोक देकर उसकी व्याख्या भी की है और शिष्य: की व्याख्या आप्तोपदेश संपादित शिक्षा विशेषा: स्वामि संभत भद्रादय: की है ।

भट्टा कलंक देव को टीका के अर्न्तगत तथा चाहुर्भट्टाकंलक देवा करके लघीयस्त्य के अन्तिम श्लोक में कुछ श्लोक उद्धृत है । अत: टीका यत्तात्यिका: लिख कर आचार्य कुन्द कुन्द का उल्लेख किया है ।

आचार्य अमृतचन्द्र कातिर्देश प्राय: ठक्कुर (ठाकुर) शब्द के साथ किया है यथा एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामत चंद्र विरचित समयसार टीकायां द्रष्टव्यं । तथा र० आ० से श्लोक उद्धृत करके लिखा है– एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमपाठीत

गुणभद्राचार्य का निर्देश श्री भद् गुण भद्रदेवपादा: लिख कर आत्मानु-शासन से श्लोक उद्धृत किया है । रायसेन को श्री भद राय सेन पूज्यैरप्य बाचि: लिख कर निर्देश किया है । आचार्य सोमदेव का उल्लेख प्राय: सोमदेव पंडित के नाम से किया है । अत: टीका में उक्तं च सोमदेव पंडितै: लिखकर उनके उपासकाध्ययन से श्लोक उद्धृत किये हैं । आचार्य अमितगति को अमित गति नाम से निर्देश किया है । आचार्य वसुनंदि का उल्लेख अव० टी० में एतच्च भगवद् वसुनंदि सैद्धान्त देव या देंराचार टीकांया व्याख्यातं द्रष्टव्यं । ऐसा किया है । आचार्य प्रभाचन्द्र का निर्देश र० श्रा० की

टीका के साथ उसके कर्ता का निर्देश अन० टी० में इस प्रकार किया है – यथाहु: भगवंत: श्री मत्प्रभेंदु देवपादा: रत्नकरंड टीकायां । पद्मनंदि आचार्य को अन० टीका में सचेलता दूषण में श्री पद्मनंदि पाद के नाम से पद्मनंदि पंचविंशतिका श्लोक उद्धृत किया है ।

पूर्वोक्त उदाहरणों से मनीषी वर्ग को समझ में आया होगा कि पूर्ववर्ती आचार्यों को किस प्रकार सेनिर्देश किया है । अत: आचार्य आदि सागर अंकलीकर का विवाद मूलत: असत्य है । उनका आचार्यत्व सत्य स्वरूप है ज्ञानी का ज्ञान पूर्वापर से संबन्धित रहता है । अत: उनका आचार्यत्व सत्य सिद्ध है ।

प्राचार्य सनतकुमार

टीकमगढ़